मेरठ विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम समन्वित

भारतीय संस्कृति

तथा

धर्म-समन्वय

की

रूपरेखा

प्रिंसिपल चमनलाल शर्मा
स्वर्णकान्ता शर्मा, एम ए

प्रकाशक
डिवाइन लाइफ़ सोसाइटी
शिवानन्द नगर
[टिहरी-गढवाल]
उत्तर प्रदेश
१९७०

मूल्य]

भारतीय
सस्कृति
तथा
धर्म-
समन्वय की
रूपरेखा

विश्व-प्रार्थना

हे स्नेह और करुणा के आराध्य देव !
तुम्हे नमस्कार है, नमस्कार है ।
तुम सच्चिदानन्दघन हो ।
तुम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो ।
तुम सबके अन्तर्वासी हो ।

हमे उदारता, समदर्शिता एव
मन का समत्व प्रदान करो ।
श्रद्धा, भक्ति और प्रज्ञा से कृतार्थ करो ।
हमे आध्यात्मिक अन्त शक्ति का वर दो
जिससे हम वासनाओ का दमन कर
मनोजय को प्राप्त हो ।
हम अहकार, काम, क्रोध, लोभ तथा द्वेष से रहित हो ।
हमारा हृदय दिव्य गुणो से पूर्ण करो ।

सब नाम-रूपो मे तुम्हारा ही दर्शन करें ।
तुम्हारी अर्चना के ही रूप मे इन नाम-रूपों की सेवा करे ।
सदा तुम्हारा ही स्मरण करें ।
तुम्हारी महिमा का गायन करें ।
केवल तुम्हारा ही कलिकल्मषहारी नाम हमारे अधरपुट पर हो ।
सदा हम तुममे ही निवास करें, तुममे ही निवास करें ।

—स्वामी शिवानन्द

त्मकता का वृत्तान्त है और जीवन सिद्धान्त स्वय को किसी प्रक्रिया के, प्रक्रिया—जो परिस्थिति और घटनात्मक स्थिति के परिवर्तन का ही दूसरा नाम है—समकक्ष स्वीकार नहीं करता। जीवन की अपनी एक अद्वितीयता है जिससे किसी जीवनेतर वस्तु की न समरूपता स्थापित की जा सकती है न तुलना की जा सकती है। इस प्रकार शैक्षिक पाठ्यचर्या मे इस रिक्त स्थान की पूर्ति केवल सास्कृतिक मूल्यो के इतिवृत्त प्रस्तुत करने मात्र से ही नही हो सकेगी। अध्ययन किसी प्रकार का भी हो, उसके तीन भाग होते हैं—प्रस्तावना, ऐतिहासिक इतिवृत्त और वास्तविक विषय। प्रथम वस्तु जो विद्यार्थियो को लाभकारी रूप मे दी जा सकती है वह है, वर्ण्य विषय की प्रकृति, सारतत्व अध्ययन का उद्देश्य और अध्ययन-विधि, सरल ढग मे बताते हुए उसकी (वर्ण्य विषय की) पूर्ण धारणा का एक सामान्य परिप्रेक्ष्य। लेकिन इसके उपरान्त अगला चरण होगा, विभिन्न युगो में विषय विशेष से सम्बन्धित विचारो के क्रमिक इतिहास अथवा विकास का अध्ययन, जिससे छात्र बुद्धि उस समग्र विषय का, जिसकी नींव प्रस्तावना मे ही डाल दी गयी है, तुलनात्मक मूल्याकन कर सकें। परन्तु फिर भी यही सब कुछ नही है, क्योकि जैसा मैं कह गया, वास्तविक विषय इतिहास नही है। अपितु पक्ष-विपक्ष की युक्तियो तथा आगमन-निगमन की तर्कसगत प्रक्रियाओ द्वारा अन्तत जीवन के सग पाठ्य विषय के वास्तविक सम्बन्ध के निष्कर्ष पर पहुचना अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।

परन्तु इस समय विश्वविद्यालयो ने सम्भवत एक प्रकार से सभ्यता और सस्कृति के परिचयात्मक स्वरूप ऐतिहासिक स्तर से आरम्भ करना उचित समझा है। इस पाठय पुस्तक मे लेखक ने सरल तथापि विस्तृत पाठय सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो अध्यापक और अध्येताओ के साथ ही सामान्य पाठको के लिए भी अत्यधिक महत्व की होगी—ऐसा हमारा विश्वास है।

शिवानन्द नगर,
१२ फरवरी १९७०

डिवाइन लाइफ सोसायटी

प्रकाशक का वक्तव्य

इस सोसायटी का प्रस्तुत प्रकाशन इस अर्थ मे अभिनव है कि यह कालेज के विद्यार्थियो के लिए तथा साथ ही जन-सामान्य के लिए आदि काल से वर्तमान काल पर्यन्त भारतीय सस्कृति के ऐतिहासिक विकास का क्रमिक विस्तार सन्निहित करने वाली पाठ्य-पुस्तक प्रस्तुत करने का अग्रगामी प्रयत्न है। अनेकानेक कारणो से सामान्यत हमारे पाठ्य-क्रम मे भारतवर्ष का सास्कृतिक अध्ययन सम्मिलित नही रहता। सन्तोष का विषय है कि मेरठ विश्वविद्यालय ने भारतीय सस्कृति को अध्ययन के कार्यक्रम का एक अग बनाने के रूप मे नेतृत्व का जो पग बढाया है, उसका अनुसरण कुछ अन्य शिक्षा-केन्द्रो द्वारा भी हो रहा है। आज इस बात को अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि कला और विज्ञान के क्षेत्र मे सस्कृति के आत्मतत्व को जीवन्त उपशामक का कार्य करना है अन्यथा ये विषय केवल यन्त्रवादी नैत्यचर्या बनकर रह जायेंगे।

आजकल शिक्षा सस्थाओ के वातावरण मे परिव्याप्त नाना प्रकार के असन्तोष का वास्तविक कारण मुख्य रूप से विज्ञान की निष्प्राण शिक्षा पद्धति है। जहाँ विज्ञानेतर विषय पढाये जाते हैं वहा भी शिक्षा-मनोविज्ञान और अध्यापन कला दोनो मे प्रयुक्त शिक्षा-पद्धति के नियम विज्ञान की शिक्षा-विधियो का अनुसरण करते हैं। विज्ञान, मूलभूत नियमों के समन्वय की पद्धति एव ज्ञान के सयुक्त समुच्चय का निष्पक्ष मूल्याकन है, अत उसे विचारणा-शक्ति का महत्वपूर्ण प्रशिक्षण माना जा सकता है। परन्तु यदि वह शिक्षा के जीवन्त नियमो का स्थान ले लेता है तो अनावश्यक ही नही, हानिप्रद भी हो जाता है। शिक्षा, साधन और साध्य का बाह्य अनुबन्ध मात्र नही जैसे मानव शरीर मात्र अवयवों का सयोजन नही, अपितु उसमे जीवन है जो अवयवो के सकलनफल से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यही बात शिक्षा के सम्बन्ध मे भी है। शिक्षा जीवन्त विकसनशील प्रक्रिया है। शिक्षको और विद्यार्थियो के क्षेत्रो मे जो असन्तोष है वह सीखने और सिखाने के श्रमसाध्य क्रम मे इसी जीवन-शक्ति के अभाव के कारण है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय सस्कृति का इतिहास आधुनिक शिक्षा मे उस खोई हुई कडी की पूर्ति करता है। इतिहास तो घटनाओ की गत्या-

त्मकता का वृत्तान्त है और जीवन सिद्धान्त स्वय को किसी प्रक्रिया के, प्रक्रिया—जो परिस्थिति और घटनात्मक स्थिति के परिवर्तन का ही दूसरा नाम है—समकक्ष स्वीकार नहीं करता। जीवन की अपनी एक अद्वितीयता है जिससे किसी जीवनेतर वस्तु की न समरूपता स्थापित की जा सकती है न तुलना की जा सकती है। इस प्रकार शैक्षिक पाठ्यचर्या मे इस रिक्त स्थान की पूर्ति केवल सास्कृतिक मूल्यो के इतिवृत्त प्रस्तुत करने मात्र से ही नहीं हो सकेगी। अध्ययन किसी प्रकार का भी हो, उसके तीन भाग होते हैं—प्रस्तावना, ऐतिहासिक इतिवृत्त और वास्तविक विषय। प्रथम वस्तु जो विद्यार्थियो को लाभकारी रूप मे दी जा सकती है वह है, वण्य विषय की प्रकृति, सारतत्व अध्ययन का उद्देश्य और अध्ययन-विधि, सरल ढग मे बताते हुए उसकी (वण्य विषय की) पूर्ण धारणा का एक सामान्य परिप्रेक्ष्य। लेकिन इसके उपरान्त अगला चरण होगा, विभिन्न युगो मे विषय विशेष से सम्बन्धित विचारों के क्रमिक इतिहास अथवा विकास का अध्ययन, जिससे छात्र वुद्धि उस समग्र विषय का, जिसकी नीव प्रस्तावना मे ही डाल दी गयी है, तुलनात्मक मूल्याकन कर सकें। परन्तु फिर भी यही सब कुछ नहो है, क्योकि जैसा मैं कह गया, वास्तविक विषय इतिहास नहीं है। अपितु पक्ष-विपक्ष की युक्तियों तथा आगमन-निगमन की तर्कसगत प्रक्रियाओं द्वारा अन्तत जीवन के सग पाठ्य विषय के वास्तविक सम्बन्ध के निष्कर्ष पर पहुचना अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।

परन्तु इस समय विश्वविद्यालयों ने सम्भवत एक प्रकार से सभ्यता और सस्कृति के परिचयात्मक स्वरूप ऐतिहासिक स्तर से आरम्भ करना उचित समझा है। इस पाठय पुस्तक में लेखक ने सरल तथापि विस्तृत पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो अध्यापक और अध्येताओ के साथ ही सामान्य पाठको के लिए भी अत्यधिक महत्व की होगी—ऐसा हमारा विश्वास है।

शिवानन्द नगर,
१२ फरवरी १९७०

डिवाइन लाइफ सोसायटी

विनम्र निवेदन

विश्व के रगमच पर बीसवी सदी का भौतिक ताण्डव हो रहा है। विज्ञान ने अपनी सिद्धियो द्वारा ससार को एक ज्वालामुखी पर्वत के कगार पर ला कर खडा कर दिया है और स्वय तीसरे सर्वनाशक महायुद्ध की विभीपिका की आशका से त्रस्त है। अर्थशास्त्र अपने आकडो पर चकित है, राजनीति दूषित कूटनीति से आक्रान्त। अधिकार और स्वार्थपरता का आवेश कर्त्तव्य एव त्याग से विमुख करने को प्रयत्न-शील है। परिणामत वर्तमान युग का मानव अपने अन्तर्स्थित दिव्य भावपूर्ण अध्यात्म के उत्कर्ष की अवहेलना करके भौतिक सुख-साधनों की अधिकाधिक उपलब्धि मे लगा है। इसी मे वह अपनी तथा विश्व की उन्नति की कल्पना कर रहा है भौतिक विकास सम्वन्वी अनेकानेक योजनाएँ कार्यान्वित हो रही हैं, होती जा रही हैं। किन्तु उनका दायित्व जिस मानव को सौपना है उसके हृदय की एव भावनाओ के विकार की सर्वथा उपेक्षा हो रही है। उसके सर्वागीण विकास की दिशाए अवरुद्ध हैं और मानवता को आत्मकल्याण का मार्ग नही मिल रहा है। जीवन-पथ का निर्देशन करने वाले सार्वभौम धर्म का रूप हम भूल गए हैं जिसके परिणामस्वरूप भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर होने हुए भी जग-जीवन, भय, कुण्ठा, दैन्य-तमिसा, मनोवेदनाओ आदि से जितना आज आच्छादित एव सत्रस्त है उतना किसी युग मे नही था। यदि हम चाहते हैं कि अनिश्चितता की यह वर्तमान स्थिति अराजकता मे समाप्त न हो तो हमे निश्चित रूप से एकतत्व ज्ञान, एकपथ प्रदर्शन एव एक नये प्रकाश की आवश्यकता पडेगी और इसके लिए हमे पुन आध्यात्मिक तत्वो की ओर उन्मुख होना पडेगा।

भारत, पीढियो से कला और सौन्दर्य का देश तो रहा ही है परन्तु इससे भी अधिक वह समस्त विश्व का धर्म गुरु रहा है। अखिल विश्व की दृष्टि मे यहाँ का धर्म परलोक की अपेक्षा इसी लोक के लिए अधिक है। धर्म का ऐसा विशाल प्रयोगा-त्मक रूप विश्व मे अन्यत्र दुर्लभ है। खेद है कि आज अनेकानेक भ्रान्त कारणो से भारत अपनी आत्मा की आधार परम्परागत निधि के प्रति निष्ठावान न रहकर दिशाहारा हो गया है। वह, न परम्परागत मूल्यों के प्रति आस्थावान है न नवीन जीवन-मूल्यो के निर्माण की क्षमता से पूर्ण। ऐसी स्थिति मे यह परमावश्यक हो गया है कि वह अपनी सस्कृति तथा आध्यात्मिक ज्ञान गरिमा की राष्ट्रीय धरती को

सुरक्षित रखे तथा अपने आधारभूत आदर्शों से च्युत न हो। वैसे तो सास्कृतिक उत्तराधिकार की रक्षा और जीवन को उसके सानुरूप ढालना व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है परन्तु आज सास्कृतिक ह्रास के इस वौद्धिक युग मे यह और भी आवश्यक हो गया है। एक समय था जब सास्कृतिक वैशिष्ट्य तथा आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से विश्व के राष्ट्रो मे भारत को अन्यतम स्थान प्राप्त रहा है तथा अखिल विश्व की दृष्टि इन क्षेत्रों मे अपने पथ प्रदशन के लिए भारत की ओर उठी रही है। क्योंकि भारत के सांस्कृतिक मूल्य सदैव ही जीवन के लिए मगल विधायक एव आलोकवाही रहे हैं।

भौतिक उन्नति को ही लक्ष्य न बनाकर समाज और जीवन के परिप्रेक्ष्य मे धर्म को उचित स्थान देने की उद्घोषणा हमारे मनीषी सदैव करते रहे हैं। अत जनता की शिक्षा का मूलाधार धर्म होना चाहिए। धम और कुछ नही एक जीवन-पद्धति है, एक स्रोत है जिससे विचारो की गभीर साधना विश्वासो की खोज और सद्‌गुणो के अभ्यास के प्रयत्न उत्पन्न होते हैं। मन द्वारा शिवत्व, सौन्दय एव सत्य के प्रति आकर्षण परमात्मा के प्रति आकर्षण है। विश्ववन्द्य भारतीय दार्शनिक प्रवर डा० राधाकृष्णन् ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी रिपोर्ट मे भी नीति और धर्म को, शिक्षा के अनिवाय अग के रूप मे स्वीकृत करने का सुझाव दिया है।

इतिहास भी प्रमाणित करता है कि किसी भी देश मे, जब शिक्षा के उद्देश्य वहाँ के धम और दर्शन से निर्धारित होते हैं तथा उसे (शिक्षा को) देश की सस्कृति का आधार दिया जाता है तब शिक्षा का प्रतिफलन ज्ञान के उच्चतम विकास मे होता है।

अतीत के पृष्ठ बताते हैं कि प्राचीन काल मे जो महान दार्शनिक रहे हैं वे शिक्षाविद् भी थे और जो महान शिक्षक थे वे दर्शनवेत्ता भी थे। महर्षि वशिष्ठ अपने युग के जिस प्रकार महान दार्शनिक थे उसी प्रकार कुशल शिक्षक भी। विश्वामित्र, वाल्मीकि और जनक एक साथ ही महान दार्शनिक एव महान शिक्षक थे। वर्तमान युग मे तिलक, महामना मालवीय, टैगोर एव महात्मा गाँधी उच्च कोटि के दार्शनिक एव महान शिक्षावेत्ता थे। इस प्रसग मे यदि मूर्धन्य स्थान हम डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् को दें जिनके दार्शनिक विचारो ने समस्त विश्व को मौलिक चिन्तन की एक नवीन दिशा दी तो अतिशयोक्ति न होगी। विश्व के अन्य देशो मे भी रूसो से लेकर बट्रण्ड रसल तक ऐसे उदाहरण सामने आते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा दशन से निर्धारित एव सस्कृति पर आधा-

रित होकर ही अभीप्ट लक्ष्य की पूरक हो सकती है। यही शिक्षा, राष्ट्र का मेरुदण्ड कहला सकती है।

हर्ष का विषय है कि मेरठ विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आर० के० सिह का ध्यान शिक्षा के पाठ्यक्रम की इस कमी की ओर गया। परिणामत उन्होंने बी० ए० के पाठ्यक्रम मे 'भारतीय धर्म और सस्कृति' विषय को स्थान देकर आज की युवा पीढी को राष्ट्र उत्थानार्थ भारतीय धर्म और सस्कृति के अनुरूप ढलने और बनने की भूमिका प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। विद्यार्थियो मे भारतीय सस्कृति की गरिमा के सरक्षण की पुण्य भावना जाग्रत करने का—उनका यह प्रयास वस्तुत श्लाघनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक रचना मे लेखक का मुख्य उद्देश्य स्नातक स्तर पर छात्र वर्ग के समक्ष भारतीय धर्म और सस्कृति की गौरवान्वित जीवन्त विचारधारा को प्रस्तुत कर उनके चिन्तन को एक स्वस्थ दिशा देना है।

विषय के प्रतिपादन मे लेखक ने तटस्थता का तथ्यात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए विचारो मे तारतम्यता अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से ऐतिहासिक क्रमिकता के स्थान पर विषय के क्रमिक प्रवाह को प्रधानता दी है।

प्रस्तुत पुस्तक, विश्वविद्यालय की स्नातक कक्षा के छात्रो के मानसिक स्तर के अनुकूल हो—इसका ध्यान रखते हुए विषय को इस प्रकार सरल, रोचक एव सुबोध रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है कि छात्रो की रुचि विषय के प्रति जाग्रत हो सके तथा वे भारत के सास्कृतिक मूल्यो को जीवन मे पुन प्रतिष्ठापित करने के अभिलाषी बन सकें।

लेखक को अपने इस प्रयास मे कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकी है इसका निर्णय तो सुधीजन ही कर सकेंगे। लेखक निमित्त मात्र है जिसने यत्र तत्र विकीर्ण विचार-पुष्पो का चयन कर पुस्तक रूपी माला ग्रथित कर भारत की भावी निर्माण शक्ति, छात्रवर्ग को अर्पित की है। यदि अपेक्षित उद्देश्य की किंचित् पूर्ति भी इस पुस्तक द्वारा हो सकी तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

इस पुस्तक मे जिन विद्वानो की रचनाओ से सहायता ली गई है लेखक उन सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता है।

लेखक, 'योग वेदात' पत्रिका के सुयोग्य सम्पादक मनीषी पूज्यवर स्वामी श्री चन्द्रशेखरानन्द जी का हृदय मे आभारी है जो बहुव्यस्त होते हुए भी पुस्तक की प्रगति मे निरन्तर मार्ग प्रदर्शन करते हुए इस ज्ञान-यज्ञ मे आहुति डालते रहे। उनके निर्देशन के अभाव मे पुस्तक का इस रूप मे तथा इतना शीघ्र प्रकाशन भी असभव था।

अन्त मे श्री चन्द्रप्रकाश शर्मा जी के प्रति भी लेखक आभार प्रकट करता है जिन्होने मुक्तरूप से इस कार्य मे अपनी नि स्वार्थ सेवा से अनुगृहीत किया है।

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय १

भारतीय संस्कृति

प्रसन्नता की वात है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ भारतीय सस्कृति की सुरक्षा और उसके प्रचार की वात वडे जोर-शोर से चल पडी है। वास्तव मे किसी देश का प्राण उसकी सस्कृति ही है।

सस्कृति की परिभाषा—आजकल अग्रेजी शब्द 'कल्चर' (culture) के लिए 'सस्कृति' शब्द व्यवहार मे आने लगा है, किन्तु सस्कृति का अर्थ बहुत व्यापक है। सस्कृति हमारे आन्तरिक गुणो का समूह है—वह एक प्रेरक शक्ति है। वह हमारे सामाजिक व्यवहारो को निश्चित करती है, हमारे साहित्य और उसकी भाषा को बनाती है तथा हमारी सस्थाओ को जन्म देती है। सस्कृति हमे यह बताती है कि हम अपनी सूक्ष्म चित्तवृत्तियो का कितना विकास कर पाये हैं। सस्कृति का आधार धर्म है और धर्म की नीव सदाचरण है।

सभ्यता का अर्थ - सस्कृति के सम्बन्ध मे विचार करते समय एक शब्द और हमारे समक्ष आ जाता है और वह है, 'सभ्यता'। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या सभ्यता और सस्कृति दोनो एक ही वस्तु है? यदि नही, तो इनमे क्या अन्तर है? वास्तव मे सभ्यता और सस्कृति दोनो मे अन्तर करना सरल काम नही है। एक ओर यदि कई विद्वानो ने भ्रमवश दोनो का एक ही अर्थ मे प्रयोग किया है, तो दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान् हैं, जिन्होंने इनमे आकाश पाताल का अन्तर वताया है। मतो की इस विपरीतता मे सत्य का पता लगाने के लिए हमे 'सभ्यता' के शाब्दिक अर्थ को भी समझना होगा।

'सभ्यता' शब्द 'सभ्य' से बना है। सभ्य का अर्थ सदस्य या सभासद् है। सदस्यता किसी सभा-समाज की होती है, अत सभ्यता एक सामाजिक गुण हुआ, जिसका अनुमान हम किसी व्यक्ति विशेष की वेशभूषा, बोलचाल और आचार-व्यवहार से लगाते हैं। इसमे हम उसकी बाहरी शारीरिक बातो पर भी ध्यान देते हैं, आन्तरिक गुणो पर नही।

सस्कृति एव सभ्यता—सस्कृति अनुभवजन्य ज्ञान पर और सभ्यता बुद्धिजन्य ज्ञान पर निर्भर है। अनुभवजन्य ज्ञान नित्य और बुद्धिजन्य ज्ञान परिवर्तनशील होने

के कारण सस्कृति नित्य और सभ्यता परिवर्तनशील होती है। किसी देश-काल की सभ्यता भिन्न देश-काल मे अहितकर भी हो सकती है, किन्तु सस्कृति सवदेश, सर्वकाल मे सभी के लिए सवदा हितकारी ही होती है। सस्कृति मनुष्य के अखिल जीवन को सस्कारित करती है और सभ्यता काल-सापेक्ष होने के कारण बाह्य जीवन को अल्प समय के लिए प्रभावित करती है। सस्कृति किसी मानव की उपज नही, प्रत्युत् खोज है। इसी कारण नित्य है। उसका निरादर करना पतन का मूल है। उसका आदर विकास का हेतु है।

अग्रेजी भाषा मे 'सभ्यता' के लिए 'Civilization' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि हमे सभ्यता एव सस्कृति का विश्लेषण अग्रेजी भाषा मे करना पडे तो इस प्रकार किया जायगा—

'Civilization is an expression of flesh, while culture is the manifestation of soul'

अर्थात् सभ्यता शरीर के मनोविकारो की द्योतक है, जबकि सस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है।

आज सभ्यता की विशेषताए मुख्यत मानववादी भावना, जीवन के प्रति भौतिक एव धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण, वैज्ञानिक स्वभाव और परम्परागत रीति-रिवाज को आमूल नष्ट करने की प्रवृत्ति आदि हैं। सभ्यता, आवश्यकताओ, आवेगो और महत्त्वाकाक्षाओ का ऐसा पूजीभूत रूप है जिस पर आत्मा का कोई नियन्त्रण न हो। सस्कृति मूलत अध्यात्म-प्रधान है। हमारा जीवन-लक्ष्य भी आध्यात्मिक उत्कप है। 'तू शरीर नही, आत्मा है'—इस उक्ति की चरितार्थता तभी सम्भव है जब मानव मे सात्त्विक गुणो का विकास हो।

भारतीय सस्कृति की विशेषताए—भारतीय सस्कृति मे व्यावहारिक उत्तम एव पारमार्थिक श्रेष्ठता दोनो पूणता की सीमा पर प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य को मानव-विकास के उच्चतम शिखर पर पहुचकर अन्त मे जीवन्मुक्ति की अवस्था मे प्रतिष्ठित कर देना ही भारतीय सस्कृति की सबसे बडी सेवा है। भारतीय सस्कृति सर्वसामर्थ्यमय सर्वांगपूर्ण सस्कृति है। भारतीय सस्कृति सवकल्याणकारिणी है। इसके द्वारा न केवल अपने अनुयायियो के लिए वरन् समस्त विश्व के लिए मगलकारी प्रभाव उत्पन्न होता है। हमारी दैनिक प्रार्थना भी यही कहती है—

> लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु।
> सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु खभाग्भवेत्॥

सर्वभूतहिते रता का ही आदर्श सदैव सर्वत्र सामने रहता है। वसुधैव

कुटुम्बकम् का उदात्त सिद्धान्त भी भारतीय सस्कृति ही का है। सर्व खलु इदम् ब्रह्म की भारतीय दृष्टि मे सस्कृति का उच्च आदश निहित है।

मातृवत् परदारेषु एव परद्रव्येषु लोष्ठवत् की दृष्टि रखने का आदश भारतीय सस्कृति की ही विशेपता है।

जीवनक्षमता—हमारी सस्कृति विविधरूपिणी एव बहुमुखी रही है। युद्ध एव शान्ति की प्रत्येक कला, राजनीति एव शासन व्यवस्था, सगीत तथा साहित्य, स्थापत्य अथवा प्रतिमा-निर्माण कौशल, नृत्य एव चित्रकला हमारी इस भव्य सस्कृति के विकास का परिचय देती है। समस्त विश्व भारतीय सस्कृति का प्रशसक है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर विदेशी आक्रमणो के फलस्वरूप हमारे देश मे अनेक सस्कृतियो ने अपना प्रभाव छोडना चाहा, परन्तु भारतीय सस्कृति ने अन्य सस्कृतियो को समेट कर आत्मसात् कर लिया। यह इसके प्राणवान् होने का चिह्न है। आयकाल से चली आती भारतीय सस्कृति को आज इस बात पर गव है कि सहस्रो वर्षो से उसका जीवन प्रवाह निरन्तर एव अविच्छिन्न है जबकि मिस्र, वेबीलोन, यूनान तथा रोम की सस्कृतियो का कोई अवशिष्ट चिन्ह नही दिखाई देता।

समस्त प्राणियों से एकात्मता और प्रेम का भाव—सब प्राणियो को अपने समान समझना तथा उनके प्रति न केवल प्रेम भाव रखना अपितु तदनुसार आचरण करना, निम्न से निम्न प्राणी को भी अपने स्नेह और करुणा का अवलबन देना, यह पूर्ण और सच्चे रूप मे भारतीय सस्कृति के अतिरिक्त और कही नही पाया जाता। यह भारतीय सस्कृति का प्राण है। यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि इस विशेपता मे भारतीय सस्कृति की अन्य सब विशेपताए गभित हैं।

पुनजन्म तथा आशावाद (Optimism)—जो हम आज हैं, वह पिछले कर्मो का परिणाम है। अत फल भोगने मे तो हम परतन्त्र हैं, परन्तु कर्म करने मे स्वतन्त्र होने से अपने भविष्य के निर्माता हम स्वय हैं। इस उद्देश्य से कि अमर आत्मा अगले जन्म मे सुन्दर चोला धारण कर सके, हमे अब वतमान का पूर्णतया लाभ उठाते हुए इहलोक तथा परलोक दोनो को ध्यान मे रखकर ही काय करना चाहिए। इन सब बातो से प्राणीमात्र के प्रति एकात्मता और प्रेमभाव दृढ होता तथा पुरुपाय, सत्प्रयत्न और आशा की प्रेरणा मिलती रहती है।

सयुक्त पारिवारिक जीवन—अग्रेजी कहावत Charity begins at home अर्थात् उदारता का प्रथम पाठ हमे अपने घर से ही मिलता है—के अनुसार हम कुटुम्ब के सुख-चैन के लिए स्वाथ का त्याग करना सीखते हैं। इसका भी उद्देश्य कुटुम्ब के सभी सदस्यो को उनके धम, अर्थ, काम के साधन, समुचित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अवसर देना और पारस्परिक सहयोग देना है। जहा पुत्र वेद की मातृ

देवो भव, पितृदेवो भव, जैसी आज्ञाओं का पालन करता है, वहा माता-पिता भी प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवत् आचरेत्—को नही भूलते। इसी प्रकार पति-पत्नी भाई-बहन तथा अन्य सगे-सम्बन्धियो के प्रति व्यवहार किया जाता है।

सादगी और शान्ति—यह इस संस्कृति की महान् विशेषताए हैं। सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श सदा सामने रहता है। जीवन स्तर को उन्नत करने का अर्थ यह नही है कि अनावश्यक सासारिक पदार्थों का सग्रह किया जाये वरन् अपने नैतिक स्तर को ऊँचा करना है और अपने सुख-शान्ति को सासारिक पदार्थों से अप्रभावित रखना है।

अखण्डता—संस्कृति शब्द समग्र देश की एक ऐसी जीवन पद्धति का बोध देता है जिसमे उस भूभाग का प्राकृतिक परिवेश मनुष्य के बाह्य और अन्तर के सस्कारो को प्रभावित करता है। भारत के प्राकृतिक परिवेश मे मानव-जीवन की एक विशेष सस्कार-पद्धति रही है। इस सस्कार-क्रम मे जो अन्यतम उपलब्धिया हुई है, उन्हे धर्म, दर्शन साहित्य, कला, आचारनीति आदि विभागो मे बाट सकते है , परन्तु ये भिन्न प्रतीत होने वाली उपलब्धिया एक ही संस्कृति-शरीर के भिन्न अवयव होने से मूलत एक ही कही जायेगी।

जिस प्रकार इस महादेश का निवासी मानसरोवर और कैलाश को देश का भाग ही मानता रहा और उसके स्मरण से अथवा दर्शन से अपने को पवित्र बनाता रहा उसी प्रकार यहाँ के अन्य तीर्थस्थल जैसे हरिद्वार, प्रयाग, रामेश्वर, पुरी, द्वारिका धाम आदि को भारत के प्रत्येक कोने से श्रद्धा के सुमन अर्पित होते रहे हैं। हमारे देवी-देवता सरिता, सागर सभी के प्रति जनता का पूज्य भाव विद्यमान है।

व्यापकता—मनुष्य प्रकृति से सवथा एक ही रूप मे प्रभावित नही होता। भारतीय प्रदेश की यह विशेषता है कि इसने प्रकृति एव मानव की प्रगति को अनुभूत करने का सबसे अधिक सौभाग्य प्राप्त किया है। यहाँ के निवासियो मे मानव-समाज के विभिन्न युगो मे होने वाले प्राय समस्त धार्मिक आर्थिक एव राजनीतिक परिवर्तनो की प्रवृत्तियो का कोई पार नही दिखाई देता। इस अकल्पनीय अतीत का यहाँ वैचित्र्य है। इसने हाल मे घटने वाली पुनरावृत्तियो को एक बार नही, कई बार देखा है। इसकी तपश्चर्या और नवनिर्माण-साधना का कोई मापदण्ड नही। इसके जीवन सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान को किसी काल की मर्यादा मे मर्यादित नही किया जा सकता। भारतीय संस्कृति इस अपरिमित ज्ञान-विज्ञान की देन है। अब तक इसमे पद-पद पर त्रिकालव्यापी शाश्वत सिद्धान्तो के दर्शन होते हैं।

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता—दुनिया मे अकेले या एकाकी सज्जन बनने से काम नही चलता। अपने आस-पास भी सज्जन समाज बनाना और बढ़ाना होता है।

ऐसी विशेषता भारतीय संस्कृति में सदैव रही है। उसने स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा पर-सेवा, समाज-सेवा और परमार्थ पर अधिक जोर दिया है। उसने व्यक्ति को समाज मे, समष्टि में, भगवान मे लीन होने का उपदेश दिया है। भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का सार निम्नलिखित शब्दो मे देखिए।

(१) मनुष्य को आत्मसंयम तथा आवश्यकताओं को कम करने का पाठ पढाया।

(२) मनुष्य का अन्तिम ध्येय ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति बतलाया।

(३) भारतीय संस्कृति का मुख्य तत्त्व परमार्थ भाव है। इसने हमे परोपकार, दान देना एव अतिथि-सत्कार सिखाया।

(४) निष्काम भाव से शुभ कर्म करते रहने पर बल दिया।

(५) सत्य अहिंसा, अस्तेय, तप आदि नैतिक गुणो की शक्तियो में विश्वास जमाया।

तभी तो ससार के इतिहास में ग्यारह सौ वर्षो तक अराजकता में रहकर अरक्षित जीकर, इतने आक्रमण और लूटमार सहकर तथा नौ सौ वप विदेशी धम एव संस्कृति मे मुस्लिम एव अग्रेज शासको के शासन मे रहकर भी इसने अपने जीवन, जाति एव सभ्यता को अक्षुण्ण बनाये रखने मे अमरता एव मृत्युजयता का ठोस प्रमाण दिया। भारतीय संस्कृति ऐसे भयकर प्रहारो को सहकर भी अपनी अमर संस्कृति की आधार-शिला पर स्थित है। इसकी अजेयता ने विश्व भर के इतिहासज्ञो को भी चकित कर दिया है, चूकि उनको ऐसा दूसरा उदाहरण ही नही मिलता।

भारतीय संस्कृति विदेशियों की दृष्टि मे—भारतीय संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र मे सब देशो की संस्कृति की जननी है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि विश्व-मानव की आदि जन्मभूमि और आदि संस्कृति एक है। वह पुण्यभूमि भारत ही है, जहाँ से मनुष्य पश्चिम मे फैल गया और अपने साथ यहाँ के संस्कारो को भी ले गया। काल एव परिस्थितियो के प्रभाव से वही संस्कार उनकी संस्कृतियो मे व्यक्त हुए। जर्मनी देश के प्रकाण्ड विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी मुक्त कण्ठ से सराहना करते हुए महारानी विक्टोरिया को १८५८ मे लिखा था—यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देश में मानव-मस्तिष्क ने अपनी मुख्यतम शक्तियो को विकसित किया है, जीवन के बडे से बडे प्रश्नो पर विचार किया और ऐसे समाधान ढूढ निकाले जिनकी ओर प्लेटो और काण्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालो का ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये तो मैं भारतवर्ष की ओर सकेत करूँगा।

यदि म अपने आपसे पूछू कि किस साहित्य का आश्रय लेकर सेमैटिक, यूनानी और केवल रोमन विचारधारा मे बहते हुए योरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवन को

अधिकाधिक विकसित, अत्यन्त उच्चतम मानवीय बन सकेंगे, जो जीवन इहलोक से ही सम्बद्ध न हो अपितु शाश्वत एव दिव्य हो, तो मैं फिर भारतवर्ष की ही ओर सकेत करूँगा ।

इसी प्रकार के कतिपय अन्य उदाहरण भी नीचे दिए जा रहे हैं —

पेरिस विश्वविद्यालय के प्रो० लुई टिनाऊ लिखते हैं कि ससार के देशो मे भारतवर्ष के प्रति लोगो का प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति के कारण है ।

'हिन्दू लोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्यभक्त, कृतज्ञ और प्रभु की भक्ति से युक्त होते हैं ।' —सैमुअल जानसन

'ध्यान की प्रणाली को भारतीयो ने जन्म दिया है । उनमे स्वच्छता तथा शुचिता के गुण वर्तमान हैं । उन लोगो मे विवेक है तथा वे वीर हैं ।'

—अलहजीज (८वी शताब्दी ई०)

'ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद एव अन्य विद्याओ मे भारतीय लोग बढे हुए हैं । प्रतिमा-निर्माण, चित्र-लेखन, वास्तुकला मे वे पूणता तक पहुँच चुके हैं । उनके पास काव्य, दर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रो का सग्रह है ।'

—अलहजीज (८वी शताब्दी ई०)

'समस्त भारतीय, चाहे वे प्रासादो मे रहने वाले राजकुमार हो, या झोपडे मे रहने वाले प्रजाजन—ससार के सर्वोत्तम शील सम्पन्न लोग हैं । मानो यह उनका जातिगत धर्म है । उचित और आदरपूर्वक व्यवहार का प्रत्युत्तर वे अवश्य देते हैं तथा दयालुता एव सहानुभूति के किसी कर्म को भूलते नही ।' —लार्ड विलिग्डन

'मैंने यूरोप और एशिया के सभी धर्मों का अध्ययन किया, परन्तु मुझे उन सबमे हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखाई देता है । मेरा विश्वास है कि इसके सामने एक दिन समस्त जगत् को सिर झुकाना पडेगा ।' —रोम्या रोला

स्वामी विवेकानन्द ने भविष्यवाणी की—"भारतीय राष्ट्र मर नही सकता, अमर है वह और उस वक्त तक अमर रहेगा जब तक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप मे रहेगी, जब तक कि उसके लोग आध्यात्मिकता को नही छोडेंगे और आध्यात्मिकता कहते है धर्म और ईश्वर की श्रद्धामय और निष्ठायुक्त भावना को । वही प्रत्येक भारतीय का जीवन है, वही भारतीय सस्कृति की आधारशिला है । उससे सब कुछ है, उसके बिना कुछ नही । जीवन की समस्या का एक ही हल है, वह है धर्म और ईश्वर । ये दोनो धर्म और ईश्वर सत्य हैं तो जीवन सार्थक है, सही है, सुखद है, अन्यथा वह केवल निरर्थक भार है ।"

यह आदि-सस्कृति ईश्वरोदित है, सर्वांग, सम्पूर्ण, सनातन और चिरजीवी है। इतिहास इसकी सर्वोत्तमता का साक्षी है। इसे भारतीय सस्कृति कहना भी इसके महान् स्वरूप को लघु करना है। वस्तुत इसे आद्य-मानव सस्कृति ही कहना चाहिए।

देश के हित और उन्नति का वास्तविक उपाय तो यह है कि इस सस्कृति के विशुद्ध भारतीय रूप मे सबकी श्रद्धा जाग्रत् की जाये। यद्यपि इस धर्म मूलक सस्कृति के नियम बहुत विस्तृत और सूक्ष्म हैं, तथापि इसके प्रधान सिद्धान्त प्रेरणा तत्त्व निश्चित करके उन्ही के आधार पर इसे अखिल मानव-जाति की सस्कृति का पद (जो कि वास्तव मे इसका पद है) प्रदान करने का प्रयत्न किया जा सकता है और यह प्रयत्न जितने ही अर्शों में सफल होगा उतने ही अशो मे वह ससार को सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त कराने मे तथा परम कल्याण की सिद्धि में सहायक होगा। भारतवर्ष मे अखिल जगत की मानव-जाति जो भारत की नयी पीढ़ी से आशा रखती आई है वह उस प्रकार आद्य-मानव सस्कृति के पुनरुत्थान मे ही पूर्ण होगी।

भारतीय सस्कृति की विश्व को देन—समस्त दक्षिण-पूर्वी एशिया ने भारत से ही अपनी सस्कृति ली। ईसा से ५वी शताब्दी पूर्व मे भारत के व्यापारी लका मे जाकर बस गये। अशोक के समय मे तो बौद्धमत इस द्वीप पर पूर्णतया छा गया था, तब तक कई भारतीय व्यापारी मलाया, सुमात्रा और पास के अन्य द्वीपो मे बस गये थे और वहा के निवासियो से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया। चौथी शताब्दी पूर्व मे तो सस्कृत उन द्वीपो की राजभाषा बन गई थी और उन राज्यो की सामूहिक शक्ति के प्रमाण जावा मे बोरोबदूर के स्तूप और कम्बोडिया के शैव मन्दिर देते हैं। चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत की सस्कृतियों पर भारत की छाप तो अमिट है ही।

ससार भर को भारत ने न केवल चावल, कपास, गन्ना, नील और मसाले दिये, वरन् शतरज का खेल भी भारत की ही देन है।

मुख्य देन ससार को जो भारत ने दी है वह है शून्य (०) का अक तथा शतोत्तर गणना-सख्याओं के लिखने की आधुनिक प्रणाली।* इससे पहले अकों को भिन्न-भिन्न

* I shall now speak of the knowledge of the Hindus—of their subtle discoveries in the Science of Astronomy—discoveries, even more ingenious than these of the Greeks and Babylonians—of their rational system of Mathematics or of their methods of calculation, which no words can praise strongly enough—I mean the system using nine symbols

—Severds Ebokht, an astrologer from Thailand during seventh century A D,

चिह्नों द्वारा प्रदर्शित करने की रीति से बडी सख्याम्रो के लिखने मे बडी कठिनाई पडती थी। उदाहरणार्थ फिनीशयन रीति से ९ को ||| ||| ||| नौ लम्बी लकीरो से लिखते थे। हमारे यहा यजुर्वेद सहिता अध्याय १७ मत्र २ मे १००००००००००००० (एक पर १२ शून्य) दस खरब तक की सख्या का उल्लेख है। जबकि यूनान की बडी से बडी सख्या का नाम 'मिरियड' था, जो १०००० थी और रोम की सबसे बडी सख्या का नाम 'मिल्ली' था जो केवल १००० थी। मोहनजोदडो मे मिले सिक्को के लेखो से भी यह निश्चित हो गया है कि मिस्र, यूनान आदि देशो से पूर्व भारतवासी सख्या को अको द्वारा लिखते थे। आर्यभट्ट का वर्गमूल बीजगणित, वगसमीकरण एव घनमूल की देन भी भारत ही की है।

स्वय अरबी लोग तो अको को हिंदसा कहते थे, क्योकि उन्होंने हिन्दुस्तान से लिये और इनसे सीखने वाले पाश्चात्य लोग अको को 'अरेजिक नोटेसन' कहते थे। भारतीय अक प्रणाली का प्रचार यूरोप में १५वीं शताब्दी मे हुआ और १७वी शताब्दी तक समस्त यूरोप ने इसे अपना लिया था।

पाई का मान $३\frac{११७}{१२५०}$ = ३ १४१६ भारतीय आर्यभट्ट ने ही निकाला था।

मोहम्मद बिन मूसा ने ९२५ ई० मे पाई का मान देते हुए यह लिखा है कि यह मान हिन्दू ज्योतिषियो का दिया हुआ है।

पृथ्वी का सूर्य के चारो ओर घूमने का रहस्योद्‌घाटन का श्रेय भी भारत को ही है। सूर्य तथा चन्द्रग्रहण के समय को बिल्कुल ठीक आकने का श्रेय भी भारत-वासियो को ही है।

सबसे अधिक तो है भारत का अत्यधिक प्रभाव पश्चिम पर। भारत से कई विद्वान् मिस्र के बन्दरगाह सिकन्दरिया मे व्यापारियो के साथ जा पहुचते थे, तभी तो पाइथागोरस आदि विचारको पर उपनिषदो के दार्शनिक विचारों का प्रभाव पड सका। पिछले डेढ सौ वर्षों मे तो योरुप और अमरीका के विचारको ने मुक्त कण्ठ मे भारतीय दर्शन की सराहना की। गेटे (Goethe) ने सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) कृत शकुतला नाटक के अनुवाद से अपने ड्रामा Faust की भूमिका के लिए आधार प्राप्त किया। फिकटे और हैगल भारत के एकवाद के आधार पर एकेश्वरवाद (Monism) पर रचनाए प्रस्तुत कर सके। अमरीका मे भारतीय दर्शन के प्रभाव का थोरो और एमरसन ने बहुत ही प्रचार किया।

अब तो जबकि सारी दुनिया छोटी हो गयी है, इसके किसी भी कोने मे केवल चन्द घण्टो मे मनुष्य पहुँच रहा है, सबकी आख भारत पर जमी है। अपनी आध्या-

त्मिक पिपासा की तृप्ति के लिए ए० एल० बाशम के शब्दों में, जो भारत की विश्व को देन की सराहना करते थकते नही। वह दिन दूर नहीं, जब ससार भर की एक संस्कृति होगी और वह होगी भारत की संस्कृति पर आधारित।*

आज के भारत के युवक-युवतियों को अपने गौरवपूर्ण भाग्य की सराहना करनी चाहिए जो प्रभु की कृपा से उनको ऐसी उज्ज्वल संस्कृति की पुण्य निधि पूर्वजों से प्राप्त हुई है जिसे बनाये रखने का उत्तरदायित्व उन पर आता है। इस सन्दर्भ में श्री जवाहरलाल नेहरू के उद्गारों से प्रेरणा लेनी चाहिए।**

---

*The debt of the Western World to India cannot be over-estimated Most of the great discoveries and inventions of which Europe is so proud, would have impossible without a developed system of Mathematics, and this in turn would have been impossible if Europe had been shackled by the unwieldly system of Roman numerals The unknown man, who devised the new system was, from the world's point of view, after the Buddha the most important son of India His achievements though easily taken for granted, was the work of an analytical mind of the first order, and, he deserves much more honour than he has as for received —A L Basham

**What is my inheritance ? To what am I an heir ? To all that humanity has achieved during tens of thousands of years to all that it has thought, felt and suffered and taken pleasure in, to its cries of triumph and its bitter agony of defeat, to that astonishing adventure of man which began so long ago, and yet combines and beckons to us to all this and more in common with all men But there is a special heritage for the people of India, not an exclusive one for none is exclusive and are common to the voice of men—one more especially applicable to us something that is in our flesh and blood and bones that has gone to make us what we are and what we are likely to be —Jawahar Lal Nehru

अध्याय २

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता एवं संस्कृति

सर जान मार्शल की वार्षिक रिपोर्ट—भारत का जो अंग्रेजी ढग मे इतिहास लिखा गया उसके अनुसार २५०० ई० पूर्व से आर्यों का बाहर से आना मानते हुए वेदो का समय तत्पश्चात् ही माना जाता रहा। इस धारणा के विपरीत जो अनोखी बात सामने आ गई वह थी १६२२ ई० मे भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा पजाब और सिन्ध दो स्थानो मे, हडप्पा और मोहनजोदडो की खोज, जिसकी खुदाई मे एक बडी प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष पाये गये। इस नवीन महत्वपूर्ण खोज का श्रेय इस विभाग के डायरेक्टर जनरल सर जान माशल को मिला। इनकी सहायता पजाब मे श्री दयाराम जी साहनी ने और सिन्ध मे श्री राखलदास बनर्जी ने की थी। अपनी २३-२४ की वार्षिक रिपोट के द्वितीय अध्ययन मे उक्त डायरेक्टर ने हर्षपूर्वक घोषणा की कि हडप्पा और मोहनजोदडो ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व के नगर थे।* पाश्चात्य विद्वान् इन्हें १५०० ई० पूर्व के भी मानने को तैयार न थे, परन्तु अब भौतिक प्रमाणो के सामने बाध्य होकर वे इनकी प्राचीनता को मिस्र (ईजिप्ट) और मेसोपोटेमिया की सभ्यताओ के समकालीन मानने लगे हैं।

---

*Now at a single bound, we have taken back our knowledge of Indian civilization, some three thousand years earlier, and have established the fact that in the third millennium before Christ, and even before that, the people of the Punjab and Sind were living in well built cities, and were in possession of a relatively mature culture with a high standard of Art & Craftsmanship and a developed system of pictographic writing

There can be no longer any doubt that the Punjab and the Sind antiquities are closely connected and roughly contemporary with the Sumerian antiquities of Mesopotamia, dating third or fourth millennium before Christ.

—Survey of India Report 1923-24.

हडप्पा रावी नदी के वायें किनारे, लाहौर-कराची लाइन पर मिन्टगुमरी जिले मे, लाहौर से लगभग सवा सौ मील दूर है और मोहनजोदडो कराची से २५० मील ऊपर सिन्धु नदी के दायें तट पर सिन्ध के लाडकाना जिले मे है। इनमे हडप्पा का क्षेत्र बडा था, परन्तु विदेशी व्यापार के नाते मोहनजोदडो का ज्यादा महत्व था। इसकी खोज के अनुसार यह एक ही समृद्ध राज्य की पूर्वी तथा पश्चिमी दो राजधानिया थीं, जो एक-दूसरे से लगभग ४०० मील दूर थी। बाद मे उत्तर मे सुदूर पश्चिमी बिलोचिस्तान में, दक्षिण मे रगपुर और लोथल (सौराष्ट्र) मे और पूव मे रोपड (पजाब) मे भी अनुरूप ध्वसावशेष पाये गये हैं। यद्यपि इस सभ्यता का प्रभाव देश की सीमाओ को पार कर मेसोपोटामिया, ईरान तथा मिस्र तक पहुँच चुका था, उस सभ्यता का नामकरण सस्कार करने वालो ने इसे 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' नाम ही दिया। यह कहा तक ठीक है, कहा नही जा सकता। हा, ऐसा करके इस सभ्यता को आर्य सभ्यता से पृथक् करने की चेष्टा ही की गयी।

१९४७ मे पाकिस्तान बनने से पहले तक मोहनजोदडो की निचली परतें, जो सिन्धु नदी के धरातल से भी ३० फीट नीचे रह गई थी, खोदी नही जा सकी थी। उत्खनन कार्य मे २००० से अधिक मुद्राए मिली जिनकी लिपि अभी तक पढी न जा सकी। पढी जाने पर तत्कालीन स्थिति पर अधिक प्रकाश पडने की सम्भावना है। हडप्पा की खुदाई मे १९४६ मे एक किले के भग्नावशेष मिले, जिसकी लम्बाई ४०० गज, चौडाई २०० गज तथा दीवारों की ऊचाई ३० से ५० फीट तक पाई गई, पर इन भग्नावशेषो मे विद्वानों के विचारो के अनुसार ऐसा एक भी चिह्न नही पाया गया, जिससे सिद्ध हो सके कि आक्रमणकारियो के द्वारा इस नगर का विध्वस किया गया था। कुछ इतिहासकारो के मतानुसार इस ध्वस मे प्रकृति के प्रकोप का ही हाथ रहा। शेरो और हाथियो की हड्डियो से पता चलता है कि उन दिनो सिन्ध मरुस्थल न था, वल्कि एक हरा-भरा जगल था। सिन्धु और उसकी सहायक नदियो ने इस क्षेत्र को धन धान्य से सम्पन्न कर रखा था।

नगरों की बनावट—ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पूर्व नियोजित योजना के अनुसार ये नगर बनाये गये थे। राजमार्गो की चौडाई ३३ फीट और छोटी सडको की २८ फीट थी जो एक-दूसरे को चौराहे पर समकोण पर काटती थी। इन मार्गों पर वैलगाडिया चलती थी। उन दिनो वर्षा अधिक होती थी, अत यहाँ सघन जगल थे और मकानो की छतें पक्की बनायी गई थी। घरों से गन्दा पानी गली की ढकी हुई नालियो मे ले जाया जाता था। नगर मे नालियो की व्यवस्था सुन्दर थी। छोटी नालिया शहर की बडी नालियो में मिलती थी और अन्त में विशालकाय नालो मे से होकर नगर का सारा गन्दा पानी नगर से दूर बहाया जाता था। पानी के ऐसे सुन्दर

अध्याय २

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता एवं संस्कृति

सर जान मार्शल की वार्षिक रिपोर्ट—भारत का जो अंग्रेजी ढंग से इतिहास लिखा गया उसके अनुसार २५०० ई० पूर्व से आर्यों का बाहर से आना मानते हुए वेदों का समय तत्पश्चात् ही माना जाता रहा। इस धारणा के विपरीत जो अनोखी बात सामने आ गई वह थी १९२२ ई० में भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा पंजाब और सिन्ध दो स्थानों में, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खोज, जिसकी खुदाई में एक बड़ी प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष पाये गये। इस नवीन महत्वपूर्ण खोज का श्रेय इस विभाग के डायरेक्टर जनरल सर जान मार्शल को मिला। इनकी सहायता पंजाब में श्री दयाराम जी साहनी ने और सिन्ध में श्री राखलदास बनर्जी ने की थी। अपनी २३-२४ की वार्षिक रिपोर्ट के द्वितीय अध्ययन में उक्त डायरेक्टर ने हर्षपूर्वक घोषणा की कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व के नगर थे।* पाश्चात्य विद्वान् इन्हें १५०० ई० पूर्व के भी मानने को तैयार न थे, परन्तु अब भौतिक प्रमाणों के सामने बाध्य होकर वे इनकी प्राचीनता को मिस्र (ईजिप्ट) और मेसोपोटेमिया की सभ्यताओं के समकालीन मानने लगे हैं।

---

*Now at a single bound, we have taken back our knowledge of Indian civilization, some three thousand years earlier, and have established the fact that in the third millennium before Christ, and even before that, the people of the Punjab and Sind were living in well built cities, and were in possession of a relatively mature culture with a high standard of Art & Craftsmanship and a developed system of pictographic writing

There can be no longer any doubt that the Punjab and the Sind antiquities are closely connected and roughly contemporary with the Sumerian antiquities of Mesopotamia dating third or fourth millennium before Christ

—Survey of India Report 1923-24.

हडप्पा रावी नदी के वायें किनारे, लाहौर-कराची लाइन पर मिन्टगुमरी जिले मे, लाहौर से लगभग सवा सौ मील दूर है और मोहनजोदडो कराची से २५० मील ऊपर सिन्धु नदी के दायें तट पर सिन्ध के लाडकाना जिले मे है। इनमे हडप्पा का क्षेत्र वडा था, परन्तु विदेशी व्यापार के नाते मोहनजोदडो का ज्यादा महत्व था। इसकी खोज के अनुसार यह एक ही समृद्ध राज्य की पूर्वी तथा पश्चिमी दो राजधानिया थी, जो एक दूसरे से लगभग ४०० मील दूर थी। वाद मे उत्तर मे सुदूर पश्चिमी विलोचिस्तान मे, दक्षिण मे रगपुर और लोथल (सौराष्ट्र) मे और पूव मे रोपड (पजाव) मे भी अनुरूप ध्वसावशेप पाये गये हैं। यद्यपि इस सभ्यता का प्रभाव देश की सीमाओ को पार कर मेसोपोटामिया, ईरान तथा मिस्र तक पहुँच चुका था, उस सभ्यता का नामकरण सस्कार करने वालो ने इसे 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' नाम ही दिया। यह कहा तक ठीक है, कहा नही जा सकता। हा, ऐसा करके इस सभ्यता को आय सभ्यता से पृथक् करने की चेष्टा ही की गयी।

१९४७ मे पाकिस्तान वनने से पहले तक मोहनजोदडो की निचली परतें, जो सिन्धु नदी के धरातल से भी ३० फीट नीचे रह गई थी, खोदी नही जा सकी थी। उत्खनन काय मे २००० से अधिक मुद्राए मिली जिनकी लिपि अभी तक पढी न जा सकी। पढी जाने पर तत्कालीन स्थिति पर अधिक प्रकाश पडने की सम्भावना है। हडप्पा की खुदाई मे १९४६ मे एक किले के भग्नावशेष मिले, जिसकी लम्वाई ४०० गज, चौडाई २०० गज तथा दीवारों की ऊचाई ३० से ५० फीट तक पाई गई, पर इन भग्नावशेपो मे विद्वानों के विचारो के अनुसार ऐसा एक भी चिह्न नही पाया गया, जिससे सिद्ध हो सके कि आक्रमणकारियों के द्वारा इस नगर का विध्वस किया गया था। कुछ इतिहासकारो के मतानुसार इस ध्वस मे प्रकृति के प्रकोप का ही हाथ रहा। शेरो और हाथियो की हड्डियो से पता चलता है कि उन दिनो सिन्ध मरुस्थल न था, वल्कि एक हरा भरा जगल था। सिन्धु और उसकी सहायक नदियो ने इस क्षेत्र को धन धान्य से सम्पन्न कर रखा था।

नगरो की वनावट—ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पूर्व नियोजित योजना के अनुसार ये नगर वनाये गये थे। राजमार्गो की चौडाई ३३ फीट और छोटी सडको की २८ फीट थी जो एक दूसरे को चौराहे पर समकोण पर काटती थी। इन मार्गों पर वैलगाडिया चलती थी। उन दिनो वर्षा अधिक होती थी, अत यहाँ सघन जगल थे और मकानो की छतें पक्की वनायी गई थी। घरो से गन्दा पानी गली की ढकी हुई नालियो मे ले जाया जाता था। नगर मे नालियो की व्यवस्था सुन्दर थी। छोटी नालिया शहर की वडी नालियो मे मिलती थी और अन्त मे विशालकाय नालों मे से होकर नगर का सारा गन्दा पानी नगर से दूर वहाया जाता था। पानी के ऐसे सुन्दर

अध्याय २

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता एवं संस्कृति

सर जान मार्शल की वार्षिक रिपोर्ट—भारत का जो अंग्रेजी ढंग से इतिहास लिखा गया उसके अनुसार २५०० ई० पूर्व से आर्यों का बाहर से आना मानते हुए वेदों का समय तत्पश्चात् ही माना जाता रहा। इस धारणा के विपरीत जो अनोखी बात सामने आ गई वह थी १९२२ ई० मे भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा पंजाब और सिन्ध दो स्थानों में, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खोज, जिसकी खुदाई मे एक बड़ी प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष पाये गये। इस नवीन महत्वपूर्ण खोज का श्रेय इस विभाग के डायरेक्टर जनरल सर जान मार्शल को मिला। इनकी सहायता पंजाब मे श्री दयाराम जी साहनी ने और सिन्ध मे श्री राखालदास बनर्जी ने की थी। अपनी २३-२४ की वार्षिक रिपोर्ट के द्वितीय अध्ययन मे उक्त डायरेक्टर ने हर्षपूर्वक घोषणा की कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो ईसा से २५०० वर्ष पूर्व के नगर थे।* पाश्चात्य विद्वान् इन्हें १५०० ई० पूर्व के भी मानने को तैयार न थे, परन्तु अब भौतिक प्रमाणों के सामने बाध्य होकर वे इनकी प्राचीनता को मिस्र (ईजिप्ट) और मेसोपोटेमिया की सभ्यताओं के समकालीन मानने लगे हैं।

---

*Now at a single bound, we have taken back our knowledge of Indian civilization, some three thousand years earlier, and have established *the fact that in the third millennium before Christ, and even* before that, the people of the Punjab and Sind were living in well built cities, and were in possession of a relatively mature culture with a high standard of Art & Craftsmanship and a developed system of pictographic writing

There can be no longer any doubt that the Punjab and the Sind antiquities are closely connected and roughly contemporary with the Sumerian antiquities of Mesopotamia dating third or fourth millennium before Christ

—*Survey of India Report 1923-24.*

हडप्पा रावी नदी के बायें किनारे, लाहौर-कराची लाइन पर मिन्टगुमरी जिले मे, लाहौर से लगभग सवा सौ मील दूर है और मोहनजोदडो कराची से २५० मील ऊपर सिन्धु नदी के दायें तट पर सिन्ध के लाड़काना जिले मे है। इनमे हडप्पा का क्षेत्र बडा था, परन्तु विदेशी व्यापार के नाते मोहनजोदडो का ज्यादा महत्व था। इसकी खोज के अनुसार यह एक ही समृद्ध राज्य की पूर्वी तथा पश्चिमी दो राजधानिया थी, जो एक-दूसरे से लगभग ४०० मील दूर थी। बाद मे उत्तर मे सुदूर पश्चिमी बिलोचिस्तान में, दक्षिण मे रगपुर और लोथल (सौराष्ट्र) मे और पूव मे रोपड (पजाब) मे भी अनुरूप ध्वसावशेप पाये गये हैं। यद्यपि इस सभ्यता का प्रभाव देश की सीमाओ को पार कर मेसोपोटामिया, ईरान तथा मिस्र तक पहुँच चुका था, उस सभ्यता का नामकरण सस्कार करने वालो ने इसे 'सिंधु घाटी की सभ्यता' नाम ही दिया। यह कहा तक ठीक है, कहा नही जा सकता। हा, ऐसा करके इस सभ्यता को आर्य सभ्यता से पृथक् करने की चेष्टा ही की गयी।

१६४७ मे पाकिस्तान बनने से पहले तक मोहनजोदडो की निचली परतें, जो सिंधु नदी के धरातल से भी ३० फीट नीचे रह गई थी, खोदी नही जा सकी थी। उत्खनन काय मे २००० से अधिक मुद्राए मिलीं जिनकी लिपि अभी तक पढी न जा सकी। पढी जाने पर तत्कालीन स्थिति पर अधिक प्रकाश पडने की सम्भावना है। हडप्पा की खुदाई मे १६४६ मे एक किले के भग्नावशेष मिले, जिसकी लम्बाई ४०० गज, चौडाई २०० गज तथा दीवारो की ऊचाई ३० से ५० फीट तक पाई गई, पर इन भग्नावशेषो मे विद्वानो के विचारो के अनुसार ऐसा एक भी चिह्न नही पाया गया, जिससे सिद्ध हो सके कि आक्रमणकारियों के द्वारा इस नगर का विध्वस किया गया था। कुछ इतिहासकारो के मतानुसार इस ध्वस में प्रकृति के प्रकोप का ही हाथ रहा। शेरो और हाथियो की हड्डियों से पता चलता है कि उन दिनो सिन्ध मरुस्थल न था, बल्कि एक हरा भरा जगल था। सिन्धु और उसकी सहायक नदियो ने इस क्षेत्र को धन धान्य से सम्पन्न कर रखा था।

नगरो की बनावट—ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पूर्व नियोजित योजना के अनुसार ये नगर बनाये गये थे। राजमार्गो की चौडाई ३३ फीट और छोटी सडको की ७८ फीट थी जो एक दूसरे को चौराहे पर समकोण पर काटती थी। इन मार्गो पर बैलगाडिया चलती थी। उन दिनो वर्षा अधिक होती थी, अत यहाँ सघन जगल थे और मकानो की छतें पक्की बनायी गई थी। घरों से गन्दा पानी गली की ढकी हुई नालियो मे ले जाया जाता था। नगर मे नालियो की व्यवस्था सुन्दर थी। छोटी नालिया शहर की बडी नालियो मे मिलती थीं और अन्त मे विशालकाय नालों में से होकर नगर का सारा गन्दा पानी नगर से दूर बहाया जाता था। पानी के ऐसे सुन्दर

निकास को देखकर आजकल के इजीनियर भी चकित रह जाते हैं। इस नियोजना की लन्दन विश्वविद्यालय के श्री ए० एल० वाशम ने वडी सराहना की है।* शहर की सफाई का ध्यान रखा जाता था। मकानो के वाहर कूडा डालने के स्थान निश्चित थे। गलियो मे रोशनी के लिए आलोक-स्तम्भ थे।

भवन निर्माण—उस समय पत्थर वहा प्राय नही मिलता था। वाहर से मगाया जाता होगा। इसलिए भवन पक्की ईंटो से वनाये जाते थे। कम पक्की ईंटें छत या नीव मे लगायी जाती थी। दीवारो की चिनाई अच्छी पक्की ईंटो से गारे-चूने के साथ की जाती थी। पक्की ईंटें ११$\frac{1}{2}$ (५) २$\frac{1}{2}$ इच के आकार की रहती थी। घरो का निर्माण वाढ से वचने के लिए प्राय ऊचे धरातल पर किया जाता था। मकान दुमजिले होते थे। सीढिया सकीर्ण थीं। निवास की व्यवस्था ऊपर की मजिल मे रखते थे। नीचे का भाग भडार घर या नौकरो के लिए छोड दिया जाता था। आगन खुले और चौकोर थे। इनकी चौडाई प्राय ३२ फीट की रहती थी जिसके चारो ओर छोटे-छोटे कमरे थे। इन कमरो मे अल्मारिया भी होती थी। रसोई-घर अलग वनाया जाता था। स्नानागार भी प्रत्येक मकान मे होता था, जिसमे खडे होकर स्नान करने का प्रवन्ध रहता था। इससे पता चलता है कि वे लोग स्नान को वहुत महत्व देते थे। प्रत्येक घर मे छोटा, पर पक्का कुआ होता था। शौचालय भी वनाये जाते थे। छत मे शहतीरो का प्रयोग होता था। मकानो के मुख्य द्वार सडक पर न वनाकर गली की तरफ और उन्हे वीच दीवार मे न वनाकर कोने मे वनाये जाते थे। रोशनदानो का भी रिवाज था, पर सुरक्षा के लिए खिडकिया कम रखी जाती थी। विशाल भवनो की दीवारो की ऊचाई २५ फीट तक और चौडाई ५ फीट तक की पायी गयी है। मकानो मे मजवूती और आराम का ध्यान अधिक और सुन्दरता का कम रहता था। इन सव वातो से पता चलता है कि प्राचीनकाल मे भी भारत मे रहन-सहन का स्तर वहुत ऊचा था।

सार्वजनिक स्नानागार—मोहनजोदडो मे सावजनिक स्नानागार आज तक सुरक्षित है। यह पक्की ईंटो का वना वाहर से १८० फीट लम्वा और १०८ फीट चौडा है। जल वाले भाग की लम्वाई ३९ फीट और चौडाई २३ फीट और गहराई ८ फीट है। उसमे स्नान के लिए उतरने को सीढियाँ वनी हैं। इसकी दीवारें वडी मजवूत वनी हैं। ऊपर चारो ओर वरामदा है जिसमे कमरे वने हैं। समीप ही दो वडे कूप पक्की ईंटो से वने हैं जिनके पानी से इसे भरने का प्रवन्ध था। जल गन्दा हो जाने

---

*The unique sewage system of the Indus people must have been maintained by some municipal committee, and is one of their most impressive achievements No ancient civilization until that of the Romans, had so efficient a system of drains

—A L Basham Wonder, that was India

पर बड़े नालो द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था। साथ लगा हुआ एक हमाम है, जिसमे स्नान के लिए पानी गरम किया जाता था।

धान्यागार—हड़प्पा का धान्यागार बाढ से बचाव के लिए २०० गज लम्बे और १५० गज चौड़े एक ऊचे प्लेटफाम पर बनाया गया था। इसमे ५०×२० फुट के कोष्ठ अन्न को सुरक्षित रखने के लिए बने थे। यह अन्न तत्कालीन सरकार टैक्स के रूप मे लेती होगी। उस समय कृषि की प्रचुरता होगी और लोग समृद्ध होगे।

आहार तथा धन्धे—गेहूँ, जौ, मटर, सरसो तथा कपास की फसलें होती थी। गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड, गधे, कुत्ते, सुअर आदि पशु पाले जाते थे। बैलो को हल जोतने तथा बोझ उठाने के काम मे लाया जाता था। घोड़े थे, परन्तु कम। सूत लपेटने वाली नलकियो से पता चलता है कि रूई तथा ऊन काती जाती थी। सूती-ऊनी दोनो प्रकार के कपड़े पहने जाते थे। सब्जी फल तथा खरबूजे खाते थे। मीग और छुहारो की गुठलिया भी मिलती हैं। गाय के रहने से दूध, दही तथा मक्खन के सेवन का भी पता चलता है।

धातु तथा आभूषण और कला—धातुओ की चादरें बनती थी। स्वण तथा चादी के सुन्दर आभूषण तथा कानो की बालियाँ, गले के हार, पैरो के कड़े और मोतियो की मालाए आदि बड़े बन्द मटको मे रखे बक्सो मे सुरक्षित मिले हैं। हाथी-दात की चूडिया तथा शतरज के पासे भी मिले हैं। ताबे, टिन, पीतल, रागे की वस्तुए भी पायी गयी हैं। बतनो मे कटोरे, थालिया, कलश, सुराहियाँ पायी गयी, जो अधिकतर मिट्टी की थी। उन सबकी चित्रकला से उन्नत स्तर की अभिरुचि का परिचय मिलता है। उस समय की सभ्यता के लिए बड़े गौरव की बात है।* नृत्य करती हुई नतकी की एक मूर्ति उनके नृत्य कौशल का परिचय दे रही है। यह शिल्प कला का अनुपम उदाहरण है। कुम्भ-कला के अतिरिक्त चम-कला के प्रमाण भी मिले हैं। कई प्रकार के खिलौने तथा मिट्टी एव तावे के वर्तन भी मिले हैं। मूर्तिया तथा तोल के लिए पत्थर के बने चौकोर बाट भी मिले हैं, जिससे तराजू के प्रयोग का पता चलता है। स्केल भी १३ २ इच का रहा।

सामाजिक दशा—समाज चार भागो मे बटा था। विद्वान्, योद्धा, व्यापारी और श्रमजीवी।**

---

*At Harappa, Mohenjodaro, and other places we are confonted with an art of such high quality, that it may safely be said to be based on the accumulated artistic experience of ages

—Shantiswarup '5000 Years of Arts & Crafts in India & Pakistan' P 21

** देखें डॉ० रतिभानुसिह नाहर कृत भारतवर्ष का इतिहास पष्ठ १६ (किताब महल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित)

वेशभूषा—नारिया नीचे घाघरा और कमर के ऊपर कमीज के रूप का कोई पहनावा पहनती थी, परन्तु पुरुष कमर मे एक कपडा बाधते और ऊपर केवल शाल ओढे रहते थे। नारियो मे केश-सज्जा का शौक था। प्राप्त नारी-मूर्तियो की विभिन्न केश-रचनाए हैं। वे शृगार करती थी। सुरमचु कछिया बहुत मिली हैं। नृत्य सगीत का शौक था।

ओषधियो मे शिलाजीत तथा नीम के पत्ते और हिरन के सीगो का प्रयोग होता था। शस्त्रास्त्रो मे तलवारें, बरछिया, धनुष तथा तीरो का प्रयोग होता था।

आर्थिक दशा—आन्तरिक व्यापार कश्मीर व मैसूर तक था। व्यापारी नावो मे बैठकर सुदूर विदेशो मे मिस्र और बेबीलोन तक भी जाते थे। सुमेरियन मुद्राए यहा और यहां की वहाँ बहुत पायी गयी हैं, जिन पर भारतीय देवी-देवताओ की मूर्तियाँ तथा गेण्डे, साड आदि की आकृतिया हैं। खुदी हुई लिपि से उसकी लेखन-कला मे पारगत होने का प्रमाण मिलता है। प्रत्येक चिह्न किसी शब्द को प्रगट कर रहा है।

मृतक क्रिया—भस्म, अस्थि और कोयले से भरे हुए समाधि-पात्र पाये गये हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि मुर्दों को प्राय जलाया जाता था। हडप्पा मे समाधि तथा श्मशान भी मिले हैं। यह सब उनकी विकसित सस्कृति का ही प्रमाण है।

धार्मिक अवस्था—(१) नासिकाग्र दृष्टि—ऐसी मूर्ति पायी गयी है, जिसकी दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित है। यह दृष्टि भारतीय योगविद्या का एक महत्वपूर्ण अग है। जैसा कि गीता के छठे अध्याय के १३वें श्लोक मे है। अन्य ग्रीक, रोम आदि देशो के कलाकार इस अन्तर्दृष्टि का प्रयोग जानते ही नही थे।

(२) शिव तथा शक्ति की पूजा—मूर्ति कला के जो थोडे से नमूने मिले हैं उनमे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय शिव और शक्ति की पूजा का विधान था और योग-पद्धति का प्रचलन था।*

यहा यह बतला देना अप्रासागिक न होगा कि शिवलिंग-पूजा वैदिक है, पौराणिक है। इसमे किसी असद्भाव की कल्पना नही की जा सकती। यह विटरनीज का

---

*Certain large, smooth, cohesive stones, unearthed at Mohenjo-daro and Harappa, were undoubtedly the Lingas of these days This association (with the worship of Siva) however seems more probable

—The Indus Civilization by Macuar Pp 77-78

मत है।* इसके अतिरिक्त प्राचीन सभ्यता के विख्यात आलोचक डॉ० डूराट लिखते हैं कि हिन्दू उपासना पद्धति मे शिव-पूजा सबसे अधिक तपस्या और सयम-साध्य है। लिंगायत लोग शिवलिंग के श्रेष्ठ भक्त और पूजक हैं। भारत मे उनका सम्प्रदाय बहुत सयमशील है।**

(३) मोहनजोदड़ो के इन ध्वसावशेषो में एक चित्र भी मिला है जिसमे एक पीपल के वृक्ष की शाखा पर दो पक्षी बैठे हुए हैं। एक के मुह के पास फल है, दूसरे के पास कुछ नही। सम्भवत यह चित्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त का भाव दरसा रहा है, जिसका प्रतीकार्थ यह है कि दो पक्षी शरीर मे स्थित ईश्वर और जीव हैं। जीव खाता-पीता तथा कमफल भोगता है, दूसरा ईश्वर का साक्षीमात्र है, अकर्ता, अभोक्ता।

(४) पीपल के वृक्ष और साप की पूजा होती थी।

(५) समाज के चार विभागो का उल्लेख जो ऊपर किया गया है, वैदिक वर्णानुसार ही है।

(६) मुहरों पर प्राय देवताओ की मूर्तिया हैं। यह भी वैदिक सस्कृति का ही प्रमाण है।

(७) श्मशान का होना वैदिक रीति-अनुसार ही है।

(८) वैदिक काल के आरम्भ मे प्रकृति-पूजा थी, मन्दिर नही थे। यहाँ ध्वसावशेपो मे मदिर निकले हैं, जिनमे मूर्तियाँ नहीं हैं। दोनो नगरो के खण्डहरो मे बहुत से अग्निकुण्ड पाये गये।

(९) वैदिक काल के सत्ययुग मे लोग इतने सयमी होते थे कि इन्हें बाह्य नियमो को लागू करने के लिए सरकार की आवश्यकता नही थी और यदि न्यूनाधिक थी तो कुटुम्ब के मुखिया के रूप मे। आगे चलकर इसी ने वृहत्तर रूप में राज्यो का रूप धारण कर लिया। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का वणन तो नागरिक सभ्यता की चरम सीमा तक पहुचा दीखता है।

---

*The Linga Cult certainly bears no trace of any Phallic cult of an obscene nature

—Winternitz Indian Literature Vol I P 509

**The worship of Siva is one of the most austere and ascetic of all the Hindu Cults and the devoutest worshipper of the Linga are the Lingayats, the most puritanic sect in India

—Dr Durant P 519

विश्व की प्राचीन सभ्यता में स्थान—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि सर मार्शल ने इस सभ्यता को बेबीलोनिया और मिस्र की सभ्यताओं के समकालीन ठहराया, पर ए० एल० बाशम ने तो लकड़ी काटने की आरी को लेकर इस भारतीय सभ्यता को एक तरह से आगे बढ़ा दिया।* अपनी पूर्वोक्त रिपोर्ट में सर जान मार्शल अपना यह विचार प्रकट करते हैं कि यदि उन विद्वानों को ठीक मान लिया जाये, जो यह मानते है कि सुमेरियनों ने बेबीलोनिया में घुसपैठ की थी तो यह भी इंगित होगा कि वे स्वयं भारत की गोदी में पले थे और तब कहीं, वे पश्चिमी एशिया की अन्य सभ्यताओं की नींव रख सके।** बम्बई विश्वविद्यालय के श्री चि० कुलकर्णी ने श्री एफ० ई० पर्जीटर का हवाला देते हुए अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३६ पर लिखा है "आर्यों ही ने भारत से बाहर जाकर सुमेरिया, मिस्र और ईरान की सभ्यताओं को प्रभावित किया।*** अत विश्व भर की सभ्यताओं में सबसे पहली, भारतीय सभ्यता को बतलाते हैं।**** अतएव हो सकता है कि श्री चि० कुलकर्णी जी के कथनानुसार

---

*In one respect the Harappa people were technically in advance of their contemporaries—they had devised a saw, with undulating teeth, which allowed the dust to escape freely from the cut, and much simplified the carpenter's task

—A L Basham The Wonder That was India P 21

**If, therefore, these scholars are right who consider the Sumerians to have been an intrusive element in Mesapotamia then the possibility is clearly suggested of India, proving ultimately to be the cradle of their civilization, which in its turn, lay at the root of Babylonian, Assyrian and Western Asiatic culture generally

—Survey of India Report 1923-24

***On our evidence of the Puranas, scholars like F E Pergita have shown that the Aryas went out of India, and settled in different parts of the earth This view is further supported by the evidence of common place names—of goddesses, rulers, social systems and religious beliefs and practices of the people of Sumeria, Egypt, Persia and other ancient civilizations

—C Kulkarni Ancient Indian History & Culture

****The antiquity of Indian civilization has been pushed back considerably, and some scholars hold the view that the Sindhu Valley Civilization is the earliest Civilization in the world

—Ibid P 18

हड़प्पा तथा मोहनजोदडो की सभ्यता वैदिक सभ्यता का भग हो ।*

सक्षेपत सिन्धु घाटी की सभ्यता एक विशिष्ट वातावरण के साथ मानव-जीवन के एक बहुत पूर्ण समायोजन का, जो वर्षो के धैयपूर्ण प्रयास का ही प्रतिफल हो सकता है, प्रतिनिधित्व करती है । यह सभ्यता काल की कसौटी पर खरी उतरी यह पहले से ही विशेषत भारतीय है और आधुनिक भारतीय सस्कृति के लिए आधार प्रस्तुत करती है ।**

---

*The Sindhu valley civilization is only a part of the vedic civilization'

(Ibid P 38)

**New Light on the most ancient East—Prof Child
(1934) Page 220

विश्व की प्राचीन सभ्यता मे स्थान—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि सर मार्शल ने इस सभ्यता को वेबीलोनिया और मिस्र की सभ्यताओ के समकालीन ठहराया, पर ए० एल० वाशम ने तो लकडी काटने की आरी को लेकर इस भारतीय सभ्यता को एक तरह से आगे वढा दिया।* अपनी पूर्वोक्त रिपोट मे सर जान मार्शल अपना यह विचार प्रकट करते हैं कि यदि उन विद्वानो को ठीक मान लिया जाये, जो यह मानते हैं कि सुमेरियनो ने वेवीलोनिया मे घुसपैठ की थी तो यह भी इगित होगा कि वे स्वय भारत की गोदी मे पले थे और तव कही, वे पश्चिमी एशिया की अन्य सभ्यताओ की नीव रख सके।** बम्बई विश्वविद्यालय के श्री चि० कुलकर्णी ने श्री एफ० ई० पर्जीटर का हवाला देते हुए अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३६ पर लिखा है "आर्यों ही ने भारत से बाहर जाकर सुमेरिया, मिस्र और ईरान की सभ्यताओ को प्रभावित किया।*** अत विश्व भर की सभ्यताओ मे सवसे पहली, भारतीय सभ्यता को बतलाते है।**** अतएव हो सकता है कि श्री चि० कुलकर्णी जी के कथनानुसार

---

*In one respect the Harappa people were technically in advance of their contemporaries—they had devised a saw, with undulating teeth, which allowed the dust to escape freely from the cut, and much simplified the carpenter's task

—A L Basham The Wonder That was India P 21

**If, therefore, these scholars are right who consider the Sumerians to have been an intrusive element in Mesapotamia then the possibility is clearly suggested of India, proving ultimately to be the cradle of their civilization, which in its turn, lay at the root of Babylonian, Assyrian and Western Asiatic culture generally

—Survey of India Report 1923-24

***On our evidence of the Puranas, scholars like F E Pergita have shown that the Aryas went out of India, and settled in different parts of the earth This view is further supported by the evidence of common place names—of goddesses, rulers, social systems and religious beliefs and practices of the people of Sumeria, Egypt, Persia and other ancient civilizations

—C Kulkarni Ancient Indian History & Culture

****The antiquity of Indian civilization has been pushed back considerably, and some scholars hold the view that the Sindhu Valley Civilization is the earliest Civilization in the world

—Ibid P 18

हडप्पा तथा मोहनजोदडो की सभ्यता वैदिक सभ्यता का भग हो ।*

सक्षेपत सिन्धु घाटी की सभ्यता एक विशिष्ट वातावरण के साथ मानव-जीवन के एक बहुत पूण समायोजन का, जो वर्षों के धैयपूण प्रयास का ही प्रतिफल हो सकता है, प्रतिनिधित्व करती है । यह सभ्यता काल की कसौटी पर खरी उतरी यह पहले से ही विशेषत भारतीय है और आधुनिक भारतीय सस्कृति के लिए आधार प्रस्तुत करती है ।**

---

*The Sindhu valley civilization is only a part of the vedic civilization'

(Ibid P 38)

**New Light on the most ancient East—Prof Child
(1934) Page 220

अध्याय ३

वैदिक काल—आर्य धर्म और संस्कृति

भारतीय सभ्यता का द्वितीय चरण वेदकाल है। इसे ऋग्वेद-काल भी कह सकते हैं।

प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव—भारत की प्रकृति ने जो अलौकिक वैभव प्रदान किया है, उससे भारतीय मनीषियो को बहुत प्रेरणा मिली। विराट् हिमालय के हिमाच्छादित शिखर, उसकी हरी-भरी उपत्यकाए, उससे निकलने वाले निर्झर, नदिया, शेष तीनो ओर से मेखला सदृश घेरने वाले शान्त रत्नाकर का प्रभाव था जिससे भारतीय द्रष्टा, चिन्तक कवि बन गये। यहा उर्वरा भूमि के कारण उदरपूर्ति की समस्या कभी उठी ही न थी। जीवनोपयागी पदार्थ भारतवासियो को अत्यन्त सरलता से अनायास ही मिलते रहे। अत शारीरिक आवश्यकताओ की सामग्री जुटाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न की आवश्यकता न रहने से आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति बढी और वे निश्चिन्त होकर अपना ध्यान परमार्थ-चिन्तन की ओर लगा सके। इस प्रकार प्रकृतिदत्त पृथकता से अन्तर्मुखी स्वभाव बनने लगा। इसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने हृदय की पवित्रता मे सहायता दी और उनके निमल हृदयो मे अपौरुषेय ज्ञान की ज्योति का प्रकाश हो सका, क्योकि ज्ञान अपने शुद्ध रूप मे अपौरुषेय है। इसी शुद्ध ज्ञान भण्डार को वेद की सज्ञा दी जाती है।

वेद का अर्थ—वेद शब्द की व्युत्पत्ति विद् धातु से हुई है। 'विद्' का अर्थ 'जानना', 'अनुभव करना' है। स्वत सिद्ध सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी के रूप मे अपौरुषेय ज्ञान का नाम 'वेद' है।

श्रुति—वेद मन्त्रो का दूसरा नाम श्रुति है। श्रुति का अर्थ है 'सुना हुआ'। जो नित्य ज्ञान है वह अनादि परम्परा से श्रवण के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वेद भगवान् के नि श्वास हैं। सृष्टि के आदि मे स्रष्टा (ब्रह्मा) ने उन जगदीश्वर के नि श्वासो को सुना। ब्रह्मा से आदि प्रजापतियो ने सुना और इस क्रम से यह ज्ञान-परम्परा चली।

गुरु-शिष्य अथवा पिता-पुत्र द्वारा श्रवण की प्रथा के कारण ही इसका नाम 'श्रुति' पड़ गया।

प्रतिभावान् ऋषि ही मन्त्र-द्रष्टा हैं। वे वेदमन्त्रों के निर्माता नहीं थे। उन्होंने वेद-मन्त्रों का दर्शन, साक्षात्कार किया था। वे तत्ववेत्ता और मर्मज्ञ हैं, तभी तो वे अपनी अनुभूतियों को जन-सुलभ करने में निमित्त बन सके। वेद-वाणी परमात्मा की अपनी वाणी है, किसी महापुरुष या पैगम्बर की नहीं। इसी कारण यह अपौरुषेय कहलाती है।

चतुर्वेद—वेद चार हैं—१ ऋग्वेद २ यजुर्वेद ३ सामवेद तथा ४ अथर्ववेद।

वेद तो वस्तुतः एक ही है। पहले श्रुति की ऋचाओं का एकत्र रूप न था। श्रीकृष्ण द्वैपायन जी ने, जिनको बादरायण नाम से भी याद किया जाता है, अथक परिश्रम करके भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा सुनी गयी ऋचाओं का संग्रह किया और उन्हें क्रम देकर मुख्य विषयों के अनुसार चार भागों में विभाजित किया। तभी से उनका नाम वेदव्यास पड़ गया और तब से वेदों की संख्या चार मानी जाने लगी। वेदों में सम्पूर्ण ज्ञान के सूत्र निहित हैं। ये ईश्वरीय मूल ज्ञान के रूप हैं। उनके अक्षर एवं शब्द नित्य हैं। इनसे अतिरिक्त ज्ञान और है ही नहीं।

वेदों का स्वरूप—प्रत्येक वेद के चार भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्।

संहिता—संहिता का अर्थ है संग्रह अथवा संकलन। संहिता भाग में मन्त्रों का संग्रह है। मन्त्र ये हैं जो ऋषियों के मनन द्वारा प्रकट हुए और जिनका अर्थ मनन से स्पष्ट है तथा जिनका उच्चारण करके किये हुए जप, हवन, पूजन आदि देवताओं की प्रीति के सम्पादक के कारण होते हैं।

ब्राह्मण—जिन श्रुतियों में कौन सा मन्त्र किस कार्य में प्रयुक्त होना चाहिये इसका उल्लेख करके मन्त्रों की विशेष व्याख्या की गयी है, उनको ब्राह्मण कहते हैं। ये सब गद्य में हैं। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्म या वेद का ज्ञान। चार वेदों के चार ब्राह्मण हैं ऋग्वेद का ऐतरेय, यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद का साम, अथर्ववेद का गोपथ। किन्तु इसका यह भाव नहीं है कि इनके अतिरिक्त मन्त्र ब्राह्मण है ही नहीं।

ब्राह्मणों में यज्ञ के प्रकार और उनके अनुष्ठान की सम्यक् विधि दी गयी है, इसी से लोग इन्हें वेदों का कर्मकाण्ड कहते हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए ब्राह्मणों में बहुत से दृष्टान्त तथा आख्यायिकाएँ व कथाएँ हैं। इसी से कुछ लोग इसे वेदों का इतिहास भी कहते हैं, किन्तु ब्राह्मणों में इतिहास का आभास मात्र है जो कि वेदमन्त्रों को स्पष्ट करने के लिए ही उनके अनुसार कथा के रूप में वर्णन किया है।

आरण्यक—ब्राह्मणो के जिन अशो पर वानप्रस्थी अधिक विचारविमर्श की आवश्यकता समझते हैं, उनको अरण्यक भाग मे लिया गया है। इन पर वन या अरण्य मे चिन्तन करने से यह नाम पडा। इनमे उपासना काण्ड की महत्ता दर्शायी गयी है, पूजादि की प्रणाली वर्णन की गयी है।

उपनिषद्—जो आरण्यक मे भी अति गहन और गम्भीर विषय है, जिनपर और अधिक मनन-चिन्तन की आवश्यकता है, वे उपनिषद् भाग मे रक्खे गये हैं। ये जीव और ब्रह्म के ज्ञान पर बल देते है।

ऋग्वेद—इस वेद मे गायत्री आदि छन्दो के रूप मे मन्त्र अधिक सख्या मे है इन मत्रो से यज्ञो मे होत्र नामक कर्म सम्पादित होता है।

यजुर्वेद—इसमे भिन्न-भिन्न क्रियाओ पर विशिष्ट पद्धति से गीतयुक्त मन्त्र है। ऋग्वेद के बहुत से मन्त्र इसमे आ गये हैं। इसका उच्चारण विशिष्ट रीति से होता है।

सामवेद—इसके मन्त्र अध्वर्यु (यज्ञ का एक ऋत्विक) पढ कर यज्ञकर्म कराता है। यह एक साथ मिलाकर पढे जाते हैं और प्राय छन्द विशेष के नहीं होते।

अथर्ववेद—उपास्य देवताओ की उपासना के अनेक मन्त्रो का समूह इसमे है। इसमे उपर्युक्त तीनो वेदो के अर्थ स्पष्ट किये गये हैं। कुछ विद्वान् इनको स्वतन्त्र वेद के रूप मे नही मानते। ऐसे लोग वेदो की सख्या तीन मान कर इनको वेदत्रयी कहते हैं।

वेदमन्त्र का ऋषि—जिन ऋषि ने हृदय की गम्भीर एकाग्रता से जिस मन्त्र के अर्थ का साक्षात्कार किया वही उस मन्त्र का द्रष्टा कहलाया। वेदार्थ का साक्षात् व्याकरण की वस्तु नही, यह महान् तप के बल से प्राप्त होता है। ऋषियो को भी एकाग्रचित्त होने से ही मन्त्रदर्शन हो गया।

वेदमन्त्र का देवता—ऋषि लोग, जिस देवता की, जिस मत्र से, उस मन्त्रार्थ के दर्शन की इच्छा से स्तुति करते हैं, वही उस मन्त्र का देवता होता है। उसी देवता का एकाग्र मन से ध्यान करने पर देवता से प्रसाद रूप मे मन्त्र-दर्शन मिला। उस मन्त्र मे उसी देवता का स्वरूप-आराधना, प्रभाव एव स्थूल जगत् में उनका कार्य वर्णित है। इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र का एक अधिष्ठाता देवता होता है। तभी प्रत्येक मन्त्र के देवता का नाम मन्त्र के साथ दिया जाता है जिससे पता चल सके कि मन्त्र स्वाध्याय के समय कैसी दैवी शक्ति का साक्षात्कार होगा।

प्रत्येक ध्वनि का व्यक्त रूप कम्पन का परिणाम है और प्रत्येक कम्पन मे एक शक्ति-स्रोत रखता है तथा अव्यक्त मे एक साकार आकृति बनाता है। इसी साकार आकृति का शक्ति-स्रोत उसका अधिष्ठाता देवता है।

मन्त्रों के छन्द—मन्त्र के स्वरात्मक रूप की रचना छन्द से होती है। छन्द दर्शन में भी सहायक होता है। छन्द का अर्थ है विशेष प्रकार की मन्त्र-स्वर योजना। यह मूल स्वर बना रहना अत्यावश्यक है। स्वर-भंग से मन्त्रो मे दोषागम की सम्भावना हो जाती है। छन्दो के द्वारा ही स्वर का निश्चय होता है।

वेदों का अध्ययन और अध्यापन—जैसा कि पहले लिखा गया है कि मन्त्रोच्चारण मे बडी सावधानी की आवश्यकता है, इसलिए वेदो के अध्ययन-अध्यापन में शुद्ध उच्चारण पर अधिक बल दिया जाता रहा है। यही कारण है कि गुरु-शिष्य से मन्त्र कण्ठ करके पढने पढाने की यह प्रथा चलती आयी है। आज भी काशी तथा नासिकादि कतिपय तीर्थ-स्थानो मे वेदपाठी ब्राह्मणो ने इस पुण्य प्रथा को उज्जीवित कर रक्खा है। उन्हें हजारो वेद-मन्त्र कण्ठस्थ हैं। पाठ मे एक मात्रा भी इधर से उधर नही होती। इन ब्राह्मणो की स्मरण-शक्ति ने पाश्चात्य विद्वानो को भी चकित कर दिया है। श्री ए० एस० बाशम ने मुक्तकण्ठ से इनकी स्मरण शक्ति की सराहना की है।

शाखाए—वेदपाठी ब्राह्मणो की स्मरण-शक्ति अदभुत थी, जिसकी रक्षार्थ वर्णधर्म मे रक्त तथा सस्कारो के शुद्ध रखने पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक समझा गया। पर इसमे छन्दो की बडी सहायता रही। त्रिकालदर्शी ऋषियो ने चारो वेदों के मन्त्रो को छन्दों के क्रम से बाँट लिया। इसी प्रकार प्रत्येक देवता और ऋषि के मन्त्र भी पृथक तथा क्रमबद्ध कर लिए गये। मन्त्रो को विषय के अनुसार भी एकत्र किया गया। इन्ही को शाखाओ की सख्या दी गयी है। जब तक एक भी शाखा है, वेदवाणी सुरक्षित रहेगी।

प्रथा के अनुसार ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०६, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ५० शाखाए हैं। अत कुल शाखाएं ११८० हुई। अतएव उपयुक्त विधि से शाखाओं का सम्पादन क्रम सम्पन्न हुआ। तभी तो आक्रमण-कारियो द्वारा शाखाओ के नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाने पर भी कोई वेदाश अप्राप्य नही हुआ है। केवल सम्पादन क्रम अप्राप्य हो गया। चारों वेदो की एक एक शाखा भी शुद्ध प्राप्त होने से चारो वेदो की मूल वाणी सुरक्षित है। अत आज भी ऋग्वेद की शाकल शाखा यजुर्वेद की माध्यंदिन शाखा और अथर्व की शौनक शाखा की मूल के रूप मे शुद्ध प्राप्त होने के विषय में किसी को आपत्ति नही है। अत इन शाखाओं के रूप मे चारो वेद वाणी के वास्तविक रूप में आज भी उपलब्ध है।

ऋग्वेद

मुख्य विषय—ऋग्वेद तो अगाध सागर है। इसके दार्शनिक तत्त्व का ज्ञान पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त और हिरण्यगर्भ सूक्त मे विस्तारपूर्वक आ जाता है। इन सूक्तो मे ऋग्वेद के परम तत्त्व की सत्ता के ज्ञान की विचारधारा अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है। इतिहास मे पहली वार यह घोषणा सुनते हैं कि सारी सृष्टि का रचयिता एक ही है। यह महत्वपूर्ण विचार इस ऋचा मे इस प्रकार वर्णित है। **एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति** अर्थात् सत्य एक ही है, विद्वान लोग इसकी कई प्रकार से व्याख्या करते हैं।

आज के एकत्व विज्ञान का स्रोत यही उक्ति है। उसी तत्त्व को सबमे देखने की उत्तम शिक्षा की आवश्यक्ता है, जितनी आज के ससार को पहले कभी नहीं थी।

पुरुष सूक्त—जिस प्रकार व्यक्ति मे उसी प्रकार समष्टि मे ही अखण्ड चेतना की सत्ता विद्यमान है। प्रति पदार्थ चेतन तत्त्व था, है और रहेगा। जो दीख रहा है वह सब सहस्र शीर्ष विराट पुरुष का ही विभिन्न रूप है। सारा मानव-समाज एक ही विराट स्वरूप का अग है। इन मन्त्रद्रष्टाओ ने भी इस सृष्टि से उतना ही प्यार किया जितना स्वय परमात्मा से, क्योकि वे सब मे उसी एक के दर्शन करते थे। मानव-समाज की सुदृढता के लिए समाज को आध्यात्मिक, सैनिक, आर्थिक और श्रम विभाग मे बाँटने की चर्चा भी पुरुष सूक्त मे ही आती है।

यज्ञप्रथा की विशेषता को जिसमे आत्मसमर्पण की शुभ भावना भी काम करती हैं इसी सूक्त मे सुन्दर रूप मे दर्शाया गया है। मनुष्य तथा देवतागण सदैव अपने जीवन के हर कार्य मे निरन्तर इस महान् यज्ञ मे आहुति डाल रहे हैं।

जीवन की सफलता यज्ञ की पूर्ति मे है। हमे दूसरो के लिए जीना चाहिए। इसी शिक्षा को आज भी पुरुष सूक्त बराबर दे रहा है। साथ ही इस पर भी बल दिया जा रहा है कि मनुष्य अन्त मे अपने भाग्य का विधाता स्वय है।

पुरुषसूक्त बताता है कि मनुष्य इस मानव-सागर मे कोई एक द्वीप नही जो अलग-अलग रह सके। सारी सृष्टि मे वह एक ही स्वरूप रम रहा है। हम सब उस एक ही अग हैं।

नासदीय सूक्त—इस सूक्त मे वर्णन किये हुए सृष्टि की रचना के आरम्भ के वर्णन का भावानुवाद एक कवि के शब्दो में देखिए—

असत् नही उस प्रलयकाल मे सत् भी नही कारण।
हुआ भूमि पाताल प्रभृति भुवनो की सत्ता का धारण ॥
अन्तरिक्ष भी नहीं, नही वे स्वर्गादिक रह गये प्रदेश।

क्या आवरण, कहा, किसके हित, गहन गम्भीर नीर था शेष ॥
मृत्यु नही थी, नहीं अमरता, रात दिवस का ज्ञान नही ।
था चेतन बस एक तत्त्व ही, है जिसके मन प्राण नही ॥
था तमस के साथ विराजित एकमात्र ही मत्तावान ।
विद्यमान थी वस्तु यहाँ पर उससे भिन्न न कोई आन ॥
जिस विभु से इस विविध सृष्टि का हुआ प्रकट अतिशय विस्तार।
वही इसे धारण करता है रखता यह कि विना आधार ॥
जो इस जग का परम अधीश्वर रहता परम व्योममय देश।
वही जानता या न जानता नही अन्य का यहाँ प्रवेश ॥

—ऋग्वेद १०-१२९-१, २, ७

सृष्टि रचते समय और कोई नहीं था जो आखो देखी लिखकर छोड जाता इस ऋचा के अन्त मे हास्यपूर्ण ढग से यह वताया गया है कि सम्भव है कि स्वय रचयिता को इसका ज्ञान न रहा हो। मूल आरम्भ का ज्ञान किसी को भी नही ।

हिरण्यगर्भ सूक्त—परम सत्ता के एक दूसरे स्वरूप हिरण्यगर्भ को सृष्टिकर्त्ता मानकर हिरण्यगर्भ सूक्त मे सृष्टि की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि सृष्टि रचना से पूर्व हिरण्यगर्भ वर्तमान थे, वही सबके आश्रयदाता और परम पिता है और हमारी पूजा के अधिकारी हैं। वास्तव मे इन दोनो वर्णनो मे कोई मतभेद नही है, अन्तर केवल नाम का है।

वैदिक काल मे भारतीय सस्कृति

वैदिक युग के आर्यो की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण बातो के ज्ञान के लिए हमे वैदिक सहिता ब्राह्मण ग्रन्थ उपनिषदो का आश्रय लेना होगा।

पारिवारिक जीवन—परिवार का दूसरा नाम कुल था और पिता को गृहपति या स्वामी माना जाता था। पिता के पश्चात् पुत्र अधिकारी होता था। गोद लेने की भी प्रथा थी।

विवाह-प्रणाली—अधिकाश एक पत्नी होती थी। यद्यपि बहुपत्नीत्व की प्रथा भी कही कही पायी जाती थी। कन्याओ को वर चुनने की स्वतन्त्रता थी, राजकुमारियो के लिए स्वयवर रचाये जाते थे। विधवा विवाह अधिक नही होते थे। अन्तर्जातीय विवाह को पसन्द नहीं किया जाता था। बाल-विवाह की प्रथा नही थी। लडकियाँ भी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर बडी होकर विवाह-सूत्र मे बधना पसन्द करती थी। वे भी उच्च शिक्षा की अधिकारिणी थीं। गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषियो का उल्लेख उपनिषदो मे मिलता है।

स्त्रियो की स्थिति—स्त्रिया विद्याध्ययन करने के पश्चात् गार्हस्थाश्रम मे प्रवेश करके माता का गौरवमय पद प्राप्त करती थी। विवाह के समय जो प्रतिज्ञाए ली जाती थीं, उनका पालन पति-पत्नी दोनो करते थे। विवाह-विच्छेद का अवसर नही आने देते थे।

वेशभूषा—पुरुष धोती, चादर तथा पगडी का प्रयोग करते थे। ऊनी सूती दोनो प्रकार के वस्त्र ऋतु के अनुसार पहनते थे। स्त्रियो म केश-विन्यास की प्रथा थी। वे सोने-चादी के आभूषण अधिक पहनती थी।

आहार—रोटी गेहू और जौ दोनो की बनती थी। सोमरस पीने की प्रथा थी।

आर्थिक स्थिति—आर्य कृषि मे रुचि रखते थे। खाद का प्रयोग जानते थे। सिचाई वर्षा पर निर्भर होती थी। अनावृष्टि होने पर छोटी-छोटी नहरें भी बना लेते थे। साथ मे पशुपालन भी होता था। गाय, बैल, भेड, बकरी और घोडा आदि पाले जाते थे। उनका मान पशुधन से आका जाता था। गो को माता के समान पूजते थे।

लुहार, बढई, मोची, सुनार, जुलाहे आदि के धन्धे थे। कपास की खेती करने और रुई कातने की क्रिया जानते थे। भवन-निर्माण कला मे भी उन्नति हो रही थी। व्यापार के लिए वस्तु-विनिमय का प्रयोग होता था। नौका बनाना भी जानते थे। सामुद्रिक व्यापार का आरम्भ हो चुका था। फिनीशिया से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

राजनीतिक व्यवस्था—वेद की 'सगच्छध्व' अर्थात मिलकर रहो की आज्ञा के अनुसार अपने सगठन को एक बडा परिवार मानकर चलते थे, जिसमे एक मुखिया का शासन होता था। जनता राजा को चुनती थी। राजा प्रण करता था कि वह प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करेगा। उसकी सहायतार्थ दो सस्थाए — सभा और समिति—होती थी। समिति का अपना अध्यक्ष होता था जिसे 'ईशान' कहते थे। सभा समिति की अपेक्षा छोटी होती थी। सभा के सभासदो का निर्णय अपने पक्ष मे कराने के लिए प्रार्थनाए की जाती थी। सभासद भी अपने उत्तरदायित्व को समझते थे। सभा मे जाते समय सत्य पर दृढ रहते, कहते कि पाप के भागी न बनें। राजपद देने के समय राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। राजा धर्मसूत्रो के अनुसार ही दण्ड का विधान करता था।

वैदिक धर्म—वैदिक कालीन भारतीयों का विचार था कि प्रकृति मे अनेक शक्तियो के रहते हुए उनका अधिष्ठाता देवता भी होना चाहिए। अत वे इन शक्तियो को देवताओ के रूप मे मानकर पूजा करते थे, जिससे उनका देवता प्रसन्न होकर उनकी कामनाओ की पूर्ति करे। पुराकालीन भारतीयों ने देवताओ को तीन भागो मे बाटा था,—

१ द्युलोक के देवता—सूर्य, वरुण, विष्णु, मित्र,
२ अन्तरिक्षलोक के—पर्जन्य, वायु, इन्द्र, मरुत्,
३ पृथ्वीलोक के—पृथ्वी, उषा, अग्नि तथा सोम आदि

इन सबके होते हुए उनका दृढ विश्वास था कि परमात्मा की मूल सत्ता एक ही है। ऋग्वेद के मण्डल १० मे लिखा है-—"परम सत्ता तो एक ही है, उसी को इन्द्र, वरुण, मित्र और अग्नि यमादि के नाम से पुकार लेते हैं। यही मूल सत्ता भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रकट होती है। अनेकता में एकता है।

इनकी पूजा के लिए यज्ञों का विधान हुआ, जिनमें घी, दूध और अन्नादि की आहुतियाँ दी जाती थी। गो को अवध्य मानकर आदर का पात्र मानते थे।

कर्म और पुनर्जन्मवाद—जो कुछ हम करते हैं, उसकी प्रतिक्रिया भी कर्म है। कर्म से कर्म का फल पृथक नही माना जा सकता। कर्मवाद का अभिप्राय कार्यकारण-वाद लेना चाहिए। 'कर्म-चक्र-प्रवर्तन' का यह सिद्धान्त बौद्ध और जैन धर्म मे भी प्रतिपादित हुआ। संसार मे कोई शक्ति ऐसी नही जो कर्मफल को रोक सके। जैसा बीज बोया जाता है, वैसी ही फसल काटनी पडती है, हमारे अतीत कर्मो ने वर्तमान को बनाया और वर्तमान कर्म हमारे भविष्य का निर्माण कर रहा है। इस संसार मे सब कुछ पूर्व निर्धारित और सुव्यवस्थित है।

इस कर्म और कारणवाद के सिद्धान्त के साथ ही पुनर्जन्म अथवा जीव के देहान्तरगमन का बहुमान्य सिद्धान्त जुडा है। जैसे कर्म किये गये हैं, उनका फल भोगने के लिए दूसरा जन्म अवश्यमेव लेना पडता है। यह तथ्य बीज रूप में वेदों में मिलता है।

वेदों का महत्व—आज प्राय सभी देशों के विद्वान् यह मान गये है कि वेद सम्पूर्ण ज्ञान जगत् का प्राचीनतम लेखबद्ध ग्रंथ है, जिस संस्कृति का ऋग्वेद में वर्णन मिलता है, वह बहुत ऊंचे स्तर की है। यह विश्वास भी दृढ हो चला है कि विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति की स्थापना का उद्देश्य वैदिक संस्कृति अपनाने से ही पूर्ण होगा। यह वैदिक संस्कृति ही घोषित कर सकती है —

ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्॥

—यजु० ४०।१

हे मानव! इस विशाल परिवर्तनशील विश्व मे जो कुछ गतिविधि है, उस सब पर परमेश्वर का नियन्त्रण है। इस वरदान का त्याग की भावना से उपयोग कर। किसी अन्य के भाग को भोगने का लोभ न रख।

आदरणीय श्री पोप पाल के शब्दो भी, जो वेटिकन सिटी मे २५ सितम्बर

१९६७ को छपे एक लेख से लिये गये हैं, भारत के अध्यात्मवाद को बहुत सराहा गया है।

'India is a spiritual country It has in its nature a sense of the Christian virtues

If there was any country in which the beatitudes of the Sermon of the Mount could ever become a reality for the masses, that country was India Purity of the heart, peace, mercy and sweetness are very dear to Indians

While the leaders of the West were politicians, in the lands of India, they were mystics and sages Life runs in contemplation These are countries born for the spirit

श्री जकोलियट नामक प्रसिद्ध विद्वान् अपने 'The Bible in India' नामक ग्रन्थ मे अनेक मतो की सृष्ट्युत्पत्ति विषयक कल्पनाओ का उल्लेख करके वैदिक विचार के बारे मे निम्न उद्‌गार प्रकट करते हैं —

"Astonishing fact ! The Hindu Revelation (veda) is of all revelations, the only one, whose ideas were in prefect harmony with modern science, as it proclaims the slow and gradual formation of the world"

अर्थात् यह एक बडी आश्चर्यजनक बात है। ईश्वरीय धर्म-ग्रन्थो मे एकमात्र वेद ही ऐसा है जिसके विचार वर्तमान विज्ञान के साथ पूर्ण साम्य रखते हैं क्योकि वेद मे भी विज्ञान के अनुसार विश्व की क्रमिक रचना का प्रतिपादन है।

अमरीकन महिला व्हीलर विल्लाक्स (Mrs Wheeler Willox) कहती है —

"We have all heard and read about the ancient religion of India It is the land of the great Vedas, the most remarkable works, containing not only religious ideas in a perfect life, but also facts, which all Science has since proved true Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the seers who found the Vedas"

अर्थात् हम लोगो ने भारत के प्राचीन धर्म के विषय मे पढा है और सुना है। भारत इन अत्यन्त महत्वपूर्ण वेदो की भूमि है जिसके अन्दर न केवल पूर्ण जीवन के पूर्णत्व के लिए धार्मिक तत्वो का निरूपण है, वरन् उन तथ्यो का भी निर्देश है, जिनको सारे विज्ञान शास्त्र ने सत्य प्रमाणित किया है। वैदिक ऋषियो को विद्युत्-शक्ति, रेडियम, इलेक्ट्रोन तथा वायुयान इत्यादि सब बातो का ज्ञान था, ऐसा प्रतीत होता है।

फास के सुविख्यात योगी भी 'महान् भारत' के पृष्ठ ३६३ के अनुसार स्वीकार करते हैं कि वर्तमान विज्ञान केवल उन्ही सिद्धान्तो को पुन प्रस्तुत करता है जो वेदो मे वर्णित है।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राली विसन ने भी जिन वेद मन्त्रो का उद्धरण देकर प्राचीन भारत के जहाजी वेडे का परिचय दिया है। उनमे से एक स्वय अपने वल से चलने वाला, अन्तरिक्ष मे गति करने वाला जहाज है। (Intercourse between India and the Western World—Page 4)

प्रोफेसर मैक्समूलर अपने Biographical Essays मे लिखते है —

"To Swami Dayanand everything contained in the Vedas was not only perfect Truth but he went one step further in persuading others that everything worth knowing—even the most recent inventions of modern science were alluded to in the Vedas, Stean engine, Electricity, Telegraphy and Wireless, Marconogram were shown to have been known at least in the germs to the poets of the Vedas "

अर्थात् श्री स्वामी दयानन्द जी, जो कुछ भी वेदो मे है, उसे न केवल पूर्ण सत्य समझने प्रत्युत दूसरो को विश्वस्त करने के लिए वे एक पग और आगे वढते हैं। ऋषि कहते हैं कि वेदो मे जानने योग्य हर वस्तु का वणन है। यहाँ तक कि अति आधुनिक आविष्कारो जैसे वाष्पकल, विद्युत, टेलीग्राफी, वायरलेस (बिना तार का तार) मारकोनोग्राम का भी प्रतिपादन वेदो मे किया गया है। कम से कम बीज रूप मे तो अवश्य उपर्युक्त वस्तुओ का ज्ञान वदो के कवियो को रहा होगा।

योगी श्री अरविन्द ईश्वरीय ज्ञान वेद प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ७८-७६ पर कहते हैं।

वेदो मे सृष्टि विधा-तत्व का भी कुछ कम आविर्भाव नही है आधुनिक पदाथ विज्ञान की सत्यता भी वैदिक मन्त्रो मे प्रकटित है।

आचाय सत्यव्रत जो सामश्रमी, कलकत्ता सस्कृत कालेज मे वैदिक साहित्य के प्राध्यापक थे। पाश्चात्य तथा प्राच्य वैदिक विद्वानो मे इनकी वडी प्रतिष्ठा थी। इन्होंने वगाल एशियाटिक सोसाइटी (जिसे सारे योरोप मे सस्कृत साहित्य के प्रचार का श्रेय प्राप्त है) के कई ग्रथो का सम्पादन किया। आपने अपनी "त्रयी चतुष्टय" (प्रीफेस ७ ६) नामक ग्रथ मे वेदो के भाष्यकारो के सम्वन्ध मे अपनी सम्मति इस प्रकार लिखी है

When the त्रयी सग्रह was being compiled, the impression grew upon me that the real meaning of many mantras did not come out in Savana s commentary and the desire became strong in me to publish the interpretation of (Yaska) and other old expositors of the Vedas At a time when photography, phonography, gaslight, tele-

graph, telephone, Railway and baloons had not been introduced into the country, how could our people understand any verses referring to these things ? Our opinion is that, in vedic times, our country had made extra-ordinary progress In those days, the science of Geology, Astronomy and Chemistry were called आधिदैविक विद्या and those of Physiology, Psychology and Theology अध्यात्म विद्या

Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entierly lost, there are sufficient indications in vedic works of those sciences having been widely known in those days

अर्थात् 'त्रयी-सग्रह' पुस्तक का जव सकलन हो रहा था, उस समय मुझे आभास हुआ कि सायण भाष्य मे वहुत से मन्त्रो के यथार्थ भाव प्रकट नही हो सके। इसलिए मुझमे यह इच्छा प्रवल हुई कि यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारो के भावार्थ भी प्रकाशित करू। उस समय जव कि फोटोग्राफी फोनोग्राफी, गैस लाइट, टेलीग्राफ, टेलीफोन, रेलवे और वायुयानो का भारत मे प्रचार नही था, जिन मन्त्रो मे इन वस्तुओ के सकेत हो, भारत के वेदभाप्यकर्ता उनके यथार्थ रहस्यो को किस प्रकार समझ सकते थे ? हमारी सम्मति है कि वैदिक काल मे हमारे देश ने विशेष रूप से प्रगति कर ली थी। उस समय भूगभ विद्या ज्योतिष और रसायन विद्या को आधिदैविक विद्या कहा जाता था और शरीर विद्या, मनोविज्ञान तथा ब्रह्म विद्या को अध्यात्म विद्या।

उस समय के वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त हो गये हैं, तव भी वेदो मे उनविज्ञानो के सम्वन्ध के पर्याप्त निर्देश मिलते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे उन विज्ञानो का पर्याप्त प्रचार था।

अतएव इन उपर्युक्त प्रमाणो से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदो मे निहित समस्त ज्ञान की शुभ देन हमे स्वय ईश्वर से प्राप्त हुई। विज्ञान का भला हो जिसके द्वारा आधुनिक काल मे उस ज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश पडा। वैज्ञानिक साधनो का तो शायद आज भी अनुसधान नही हो पाया है। वेद भारतीयो के पवित्र ग्रन्थ हैं जो निश्चित रूप से विश्व की प्राचीनतम काव्य रचनाएँ हैं।*

इन वेदो मे स्पष्टत सिन्धु नदी, पजाव, कश्मीर, गान्धार आदि का वर्णन है। इनमे न तो तिव्वत का, न कैसपियन का और न उत्तर मेरु का ही उल्लेख है

---

*The vedas are the Hindu sacred writings, which are positively the oldest literary composition in the world

—Walls Sex and Sex worship Page 8

जहाँ से कि आर्य आये बतलाये गये। इस प्रसग मे महाकवि प्रसाद की पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

कहीं से हम आये थे नही,
प्रकृति का रहा पालना यहीं,
वही, हम दिव्य आर्य सन्तान।

श्री जयशकर प्रसाद की 'हिमालय' कविता से विदित होता है कि आर्य भारत के ही निवासी थे, समस्त विश्व को ज्ञान देने वाले भी भारतीय ही थे।

आर्य का अर्थ—'आर्य' शब्द विदेशी नहीं भारतीय है। आर्य शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ, पूज्य, उदारचरित, धर्मशील तथा पुनीत। इसी अर्थ को मान कर गीता मे भगवान् ने अर्जुन के धनुष फेंक कर युद्ध न करने के निश्चय को '**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्य**' का नाम दिया कि क्षत्रिय होकर रण से भागना धर्म-विरुद्ध है, यह श्रेष्ठ जनों को शोभा नही देता।

आर्य का यही श्रेष्ठ अर्थ अब तो मैक्समूलर तथा बाशम जैसे पाश्चात्य आधुनिक विद्वानो ने भी मान लिया है। World Encyclopedeia मे भी भूल सुधार कर आर्य का अर्थ noble दे दिया है किन्तु कितने होंगे जिन्होंने यह शुद्धि पढ ली होगी। बहुतेरे भारतीय भी पुरानी रट लगाकर आर्य को जातिवाचक मान रहे हैं।

यह आर्य शब्द जातिवाचक नही अपितु नैतिक एव सांस्कृतिक अर्थ का बोधक है। आर्य नाम की जाति कभी थी ही नही परन्तु यदि किसी जाति को आर्य नाम से वैशिष्ट्य प्रदान किया जाय तो वैदिक (भारतीय) जाति ही एकमात्र वह विशुद्ध जाति है। ऋग्वेद मे भी आर्य शब्द का उल्लेख तीन स्थानों पर (अ) १—१०३—३ (ब) ६—२५—२ तथा (स) १०—६५—११ आया है। यहाँ भी कही जातिवाचक अर्थ नही प्रयुक्त हुआ है।

उधर F E Pargitar* जैसे विद्वानो ने भी सिद्ध कर दिया है कि आर्य अपने मूलस्थान भारत से ही बाहर ससार के अन्य भागो मे गये थे, वही सब सभ्यताओं के आरम्भ करने वाले हैं। इस सदर्भ मे कवि प्रसाद की पक्ति द्रष्टव्य है 'जगे हम लगे जगाने विश्व'। भारत देश को माता के नाम से सबोधित किया गया है।

इधर हम इतिहास की पुस्तको मे पढते चले आये हैं कि आर्य जाति के लोग भारत से बाहर किसी देश मे वास करते थे। वे भारतीय हिन्दू-पारसी काकेशीय, ग्रीक आदि जातियो के पूर्वज थे। अनुमानिक २५०० से ६५०० ई० पूर्व के भीतर उन्होंने विभिन्न दलों में उत्तर-पश्चिम सीमान्त से भारत में प्रवेश किया था। उससे पहले भारत मे कोल, भील, द्रविड आदि जातियो के पूर्वज लोग निवास करते थे। परन्तु इसका कोई पुष्ट साक्ष्य नही मिलता। इस प्रकार समस्त वैदिक या भारतीय

---

*C H Kulkarni in his Ancient Indian History & Culture P 36

जाति आज वस्तुत आत्मविस्मृत है। हममे आज कितने हैं जो कि अपने देश भारत के वास्तविक इतिहास को जानते हैं। स्वदेश की प्राचीन सस्कृति और भावप्रवाह के साथ हमारा सम्बन्ध क्रमश क्षीण तथा विच्छिन्न हो जाने के कारण हम अपने समस्त जातीय गौरव और जात्याभिमान को प्राय खो चुके है। इसका कारण यह है कि अग्रेजो द्वारा ब्रिटिश-काल मे भारत का जो इतिहास लिखा गया है उसको पढने से यह धारणा होती है कि आदि काल से ही भारत-विजय आरम्भ हो गया था। क्रमश आने वाली एक जाति के बाद दूसरी जाति भारतीयो को पराजित करके इस देश मे अपना राज्य स्थापित करती रही। यह उनमे से किसी की भी मातृभूमि नहीं रही है। अग्रेजो का भारत-विजय भी उसी का एक आधुनिक अनुच्छेद या परिणाम था।

आर्य बाहर से नहीं आये—प्रमाण—आधुनिक पाश्चात्य मत के अनुसार भारत के इतिहास का आरम्भ अनुमानत ३१० ई० पूव अर्थात दिग्विजयी सिकन्दर के भारत आक्रमण से होता है। इससे पूर्व का जो कुछ ज्ञान है उसे वास्तविक इतिहास का नाम नही दिया गया।

(१) सिकन्दर की मृत्यु के बाद उनके सेनापति सैल्यूकस के राजदूत मैग-स्थनीज लगभग ३९४ ई० पूर्व मौय सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार मे रहे। उन्होंने भारत का जो वर्णन किया है, उसके विषय मे सभी सहमत हैं कि उनका वणन पक्षपातरहित था, क्योकि वे उच्चपदस्थ निरपेक्ष पूर्ण जानकार तथा प्रतिभाशाली राजदूत थे। वे लिखते हैं – भारत एक विराट देश है। उसमे विभिन्न जाति के लोग निवास करते हैं। इनमे एक भी व्यवित मूलत विदेशी वशोत्पन्न नही है। इसके अतिरिक्त यहाँ कभी विदेशियो का कोई उपनिवेश स्थापित नही हुआ और न भारत ने कभी विदेश के किसी देश मे जाकर अपना उपनिवेश स्थापित किया।

(२) श्री एलफिस्टन लिखते हैं कि भारतीय हिन्दुओ के पूर्वज कभी अपने आधुनिक निवासस्थान के अतिरिक्त किसी दूसरे देश मे थे—ऐसा मानने का कोई भी कारण नही। वेद तथा मनुस्मृति मे हिन्दू जाति के अन्यत्र निवास। भूमि का कोई भी उल्लेख नही मिलता।

(३) डा० कीथ वेद और भारत के विषय मे एक सुविख्यात गवेषक माने जाते हैं। वे लिखते हैं—'इस विषय के जो दो प्रमाण उपलब्ध हैं उनमे से कोई भी सिद्धान्त निकालने मे अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। परन्तु यह निश्चय है कि वैदिक भारतीय किस प्रकार भारत मे प्रवेश हुए इसके निर्धारण मे ऋग्वेद से कोई सहायता नही मिलती। आय अभियान का ऋग्वेद में कोई आभास भी नही है।*

*Cambridge History of India

आर्यों का आदि निवास-स्थान निश्चय ही भारत है। ये निश्चय ही भारतीय हैं। आर्यों ने बाहर से आकर इस देश पर विजय नहीं प्राप्त की। वे सदा से भारत-वासी हैं और भारतीय कहलाने मे सदा गर्व का अनुभव करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि आय अभियान की कहानी कपोल कल्पित है और सौ साल के अन्दर की गढी हुई है। इसके पीछे गम्भीर राजनैतिक दुरभिसंधि छिपी है—ऐसा सन्देह होता है। भारतीय मूलत स्वदेशवासी हैं वे आय अभियान दल के वशज नही। इस आय अभियान की कहानी को पिछले सौ सालो से इतना रटा गया कि हम स्वय इसे ही सत्य मान बैठे।

एक कथन के अनुसार शूद्र लोग निश्चयपूर्वक भारत के अधिवासी है। वे पूर्वकाल में दास थे। अमरीका के अग्रेज और पुर्तगीज आदि जातियो ने अफ्रीका-वासियो को दास बना रक्खा था। इनके वशज भी बहुत दिनो तक दास ही थे। इस उदाहरण को देखकर गवेषको का मन सहस्रों वर्ष पीछे जा पहुँचा और कल्पना करने लगा कि भारत मे भी वही कहानी दुहरायी गयी होगी। पुरातत्ववादियो ने स्वप्न देखा कि भारत काली आँखो वाले आदिवासियो से ठसाठस भरा है। उसके बाद श्वेतकाय आर्य लोग किसी देश से यहाँ आये थे। कुछ विद्वानो के मतानुसार यह लोग तिब्बत से तथा दूसरो के मतानुसार मध्य एशिया से आये। कुछ दिन पहले यह प्रमाणित करने की चेष्टा भी की गयी कि ये लोग पहले स्विट्जरलैण्ड मे एक झील के किनारे निवास करते थे। कुछ लोग कहते हैं कि ये लोग उत्तर मेरु मे रहते थे। हमारे शास्त्रो मे एक भी बात नही जिससे प्रमाणित हो कि आर्यजन कभी बाहर से भारत मे आये थे। प्राचीन भारत के भीतर तो अफगानिस्तान भी रहा। इसी बात की पुष्टि श्री चिदम्बर कुलकर्णी ने भी अपनी पुस्तक Ancient Indian History & Culture के पृष्ठ ३५ पर की है। अत आय आरम्भ मे भारत से बाहर किसी एक स्थान पर रहते थे, इस सिद्धान्त मे अब कोई सार नहीं रह गया है। वे निस्सन्देह भारत के ही निवासी हैं।*

वेदांग

वेदों का प्रत्येक शब्द उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि उच्चारण भेदो से बंधा है। अत उनको उनके उच्चारण—ध्वनि मे शुद्धता की अपेक्षा थी। परिणामत आवश्यक हो गया था कि सहायक रचनाए की जायें।

---

*Therefore there is no sense in the theory that the Aryans lived originally in one single home outside India They were undoubtedly the natives of India

शिक्षा—इसमे उच्चारण तथा स्वर-विज्ञान की शिक्षा मिलती थी। वेदो के पाठ की विधियाँ भी अनेक थी। इन्ही विधियो के कारण पीढियो तक अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति के वल पर गुरु-शिष्य वेद-मन्त्रो को सुरक्षित रख सकने मे समर्थ हो सके। ए० एल० वाशम जैसे पाश्चात्य विद्वान् वेदपाठी ब्राह्मणो की चमत्कारिक स्मरण शक्ति पर दाँतो तले उगली दवा लेते है।

छन्द—वैदिक मन्त्र छन्दवद्ध हैं। हमारे वेदो की छान्दसी सृष्टि ही सहस्रो वर्षों से कण्ठ से कण्ठ मे सचारण करती हुई प्रत्येक शव्द प्रत्येक ध्वनि को अक्षय रख सकी है। प्रत्येक छन्द का प्रभाव अपनी विशेपता रखता है। शिक्षा तथा छन्द मिलकर उन देवताओ को, जिनके लिए मन्त्रोच्चारण होता है, आकाश मे आवाहन करने मे वडी सहायता देते हैं। इस वीसवी शती के आरम्भ से ही फ्रास मे हुए परीक्षणो से सिद्ध हो चुका है कि भिन्न-भिन्न ध्वनियो से भिन्न-भिन्न रग रूप की आकृतियाँ वनती हैं।

निरुक्त—इस शास्त्र की आवश्यकता वेद के शव्दो की व्युत्पत्ति करने के लिए रही क्योकि वेद के कठिन शव्दो का अक्षरश अर्थ का वोध करना अनिवार्य था। इसलिए यह और भी आवश्यक हो गया, क्योकि वेद के शव्दो के अनेक अर्थ होते हैं। अत यह देखना होता है कि किस स्थान मे कौन सा अर्थ उपयुक्त रहता है।

व्याकरण—प्रत्येक भापा को उसके यथार्थ रूप मे समझने के लिए उसके व्याकरण का ज्ञान सहायक होता है। वेद के व्याकरण तो अनेक हैं, किन्तु पाणिनि का व्याकरण मुख्य माना जाता है।

ज्योतिष—यज्ञो की सफलता के लिए नक्षत्रो के योग के समय का ज्ञान अत्यावश्यक था। अत ज्योतिष शास्त्र की रचना की गयी जिसमे सभी ग्रह-नक्षत्रो के ज्ञान का समावेश है।

कल्पसूत्र—इसमे कर्मकाण्ड का विस्तार है जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में सहिताओ के प्रयोग की विधियाँ हैं उसी प्रकार कल्पसूत्रों मे इन्ही ग्रन्थो की पुन व्याख्या की गयी है। इनके अन्य उपविभाग हैं जैसे—

(अ) श्रौतसूत्र—वैदिक यज्ञो को यथोचित रूप से सम्पादन में तथा विधि विधान जानने मे सहायक होते हैं।

(आ) गृह्यसूत्र—गार्हस्थ्य जीवन मे गर्भाधान से अन्त्येष्टि क्रिया तक के सभी सस्कारो के कराने की पूरी विधि वताते हैं।

(इ) धर्मसूत्र—इसमे नीति-नियमो का वणन है। मनु आदि स्मृतियो का वीज रूप इसमे ही पाया जाता है। चारो वर्णाश्रमो की सुदृढ़ नीव भी इन धर्मसूत्रो मे पडी जिसने कालान्तर मे भारतीय सस्कृति के विशाल भवन का रूप धारण किया।

(ई) शुल्वसूत्र—यज्ञमण्डप आदि तथा हवनकुण्डो के निर्माण की विद्या भी आवश्यक थी। इनमे उन सबका वणन है।

उपवेद

उपवेद चार हैं—आयुर्वेद धनुर्वेद गन्धववेद तथा अर्थवेद।

आयुर्वेद—भारतीय लोकजीवन को महत्त्व देते थे। वे इसके प्रत्येक क्षण मे आनन्द लेते थे। आयु दीघ कैसे हो और स्वास्थ्य कैसे सुरक्षित रहे इसी के लिए इस उपवेद के रचना की आवश्यकता पडी। चरक और सुश्रुत से भी पूव अनेक आयुर्वेदाचाय हो चुके थे।

धनुर्वेद—इसमे शस्त्रास्त्रो की विद्या का वणन है। दिव्य अस्त्रो को मन्त्र शक्ति के द्वारा प्रयोग करने की विधि भी इस वेद मे दी गयी है।

गन्धववेद—भारतीय सस्कृति मे सगीत को बहुत महत्त्व दिया गया है। परमात्मा तक को प्राप्त करने के लिए सामवेद की रचना कर दी। सगीत अपने समीचीन रूप मे इष्ट देवतार्ओ के प्रकट करने में सफल मनोरथ होने के उद्देश्य से इस उपवेद की रचना की गयी।

अर्थवेद—प्राचीन वैदिक काल में वलविद्या को तो प्रमुखता दी ही जाती थी, लौकिक विद्याओ की भी उपेक्षा नही की जाती थी। इस वेद मे स्थापत्य कला के साथ-साथ अन्य कलाओं तथा दण्डनीति का वर्णन है।

उपनिषद्

• आय यज्ञो के ऊपर उठ कर यह विचार करने लगे कि यह सृष्टि कैसे रची गयी? इसका रचयिता कौन है? आत्मा क्या है? शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मरणोपरान्त क्या दशा रहती है? आदि अनेकानेक प्रश्न मानव के अन्तर मे उठने लगे। ऐसी जिज्ञासा ने उन्हे गृहस्थ जीवन से ऊपर उठने की प्रेरणा दी। और वे ससारिक सुख मे रत रहकर ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के प्रति उत्सुक हो उठे। अब आध्यात्मिक विषयक प्रश्नो पर विचार होने लगे और यज्ञो से उपराम हो चले। 'प्रेय' से अधिक 'श्रेय' को मानने लगे। यह सब ज्ञान उपनिषदो मे भरा पडा है।

परिचय—'उप' और 'नि' उपसर्ग वाले सद् धातु से क्विप प्रत्यय लगाने पर उपनिषद् शब्द बनता है। इसका तात्त्विक अर्थ है – गुरु के समीप बैठकर ज्ञान द्वारा आध्यात्मिक रहस्य ज्ञात करना। वेदो का अन्तिम भाग होने के नाते इन्हें वेदो का अन्त, वेदान्त भी कहते हैं। आद्य शकराचाय ने कठोपनिषद् की भूमिका मे लिखा है जो विद्या मुमुक्षुओ को ब्रह्म प्राप्त करा देती है, जिससे दुख का सवथा शिथिलीकरण हो जाता है वही अध्यात्म विद्या उपनिषद् है। इसका मुख्य अथ तो ब्रह्मविद्या ही है

गौण अर्थ ब्रह्म-विद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष है। वेद की प्रत्येक शाखा का विशिष्ट उपनिषद् था। इसलिए ११८० उपनिषद् होने चाहिये थे किन्तु अब इनमे से कुछ ही उपलब्ध हैं। उनमे से निम्नलिखित १० प्रमुख माने जाते हैं।

ऋग्वेद—ऐतरेय, तैत्तिरीय।

यजुर्वेद—ईश, कठ तथा बृहदारण्यक।

सामवेद—केन तथा छान्दोग्य।

अथर्ववेद—मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न।

विषय—उपनिषद् ज्ञान का भण्डार है, इन्ही से भारतीय दर्शन निकले हैं। इस कथन को मानने मे भी कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रपञ्चमय ससार के सारे दुख, दारिद्र्य, पाप-ताप मार भगाने के लिए इनका ज्ञान रामबाण है।

ब्राह्मणो और आरण्यको के कर्मकाण्ड की चर्चा आजकल नाममात्र की है, क्योंकि इनके आधार पर जो यज्ञ है वे या तो बिल्कुल विलुप्त से हो गये है अथवा रूपान्तरित हो चुके हैं, परन्तु उपनिषदो के ज्ञानकाण्ड मे कोई भी परिवर्तन नही हुआ है। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य अपने जीवन मे इनकी शिक्षा को व्यवहृत कर स्वय निरजन को प्राप्त कर सकता है और समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकता है। उपनिषदो मे परमात्मा, आत्मा, सृष्टि, कर्म, धर्म तथा योगादि का जो विवरण दिया हुआ है, वह आज तक ज्यो का त्यो है। उपनिषदो के उपदेश के अनुसार मनुष्य कामादि षड् रिपुओ से दूर रह कर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर तथा विवेक, वैराग्य, शम तथा दमादि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर स्वय आत्मज्योति पा लेता है और दिव्य तेज से समाज, देश तथा जाति को भी उद्भासित कर देता है। उपनिषद् बताते हैं कि मनुष्य अमृत-पुत्र है। वह सयमी रहकर बडी सरलता से अमरता प्राप्त कर सकता है।

उपनिषद् मनुष्य के अधिकारो का विशिष्ट आज्ञापत्र है। उनका उपदेश **'उत्तिष्ठत, जाग्रत् प्राप्य वरान्निबोधत्'** है—उठो, जागो तथा योग्य व्यक्ति के पास पहुँचो और सत्य का अनुभव करना सीखो। सोतों को जगा देने वाला और मुर्दों मे जान डालने वाला है। अमरत्व का सचार करके अखण्ड शक्ति प्रदान करता है। उत्साह पूर्ण नया जीवन प्रदान करता है। आज भी यह उपदेश मनुष्य मात्र के लिए उतना ही महत्त्व रखता है जितना आदि काल मे रखता था। उपनिषद् ललकार-ललकार कर, मनुष्य को, चाहे वह किसी देश, समय अथवा स्तर पर हो, प्रोत्साहित कर रहे ह कि वह अपना जन्मसिद्ध दिव्य अधिकार मागे, जो उसकी अपनी पैत्रिक सम्पत्ति है। विश्व-मानव मे ऐक्य की भावना सचरित करने की इनमे भारी शक्ति है। हमे इनसे प्रेरणा मिलती है कि इनसे हम, प्राणिमात्र मे एक ही ब्रह्म का दर्शन करें। इस तरह

चाहे जिस दृष्टि से देखें, उपनिषदो का उपदेश अनुपम और अमूल्य है। वे आर्य संस्कृति की पुण्य निधि हैं और भारतीयो के लिए ही नही वरन् मानव जाति के लिए गर्व की वस्तु हैं। इस प्रसग मे मैक्समूलर का कथन द्रष्टव्य है 'उपनिषद वेदान्त के आदि-स्रोत हैं। यह ऐसे निबन्ध हैं जिनमे मुझे मानवीय उच्च भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुची हुई मालूम पडती है'। सचमुच उपनिषदो की प्रत्येक वाणी अमर और ओजपूर्ण है जिसके अनुसार आचरण कर कितने ही विद्वान् सिद्ध बन गये, कितने ही योगी हो गये और कितने ही ब्रह्म मे विलीन हो गये हैं।

ब्रह्म—उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म वह है जिससे सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसकी सत्ता से जीवित रहते हैं और विनाश के समय जिसमे प्रवेश कर जाते हैं।

ब्रह्म ही शाश्वत तत्त्व है। इस नाना रूपात्मक जगत् के मूल मे स्थित वही एक अविनाशी सत्ता है। माण्डूक्य तथा अन्य उपनिषदो मे भी ब्रह्म को तुरीय बतलाया गया है, जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनो अवस्थाओ से पृथक् है। वह कूटस्थ और अविकारी है। उसका परिचय 'नेति-नेति' शब्द से ही दिया जा सकता है वह तत्त्व शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है, मन और इन्द्रियो से अगम्य और अगोचर है अनादि तथा अनन्त है, सच्चिदानन्द स्वरूप है।

इस परम तत्त्व की प्राप्ति वाचिक ज्ञान से कदापि नही हो सकती। याज्ञवल्क्य इसे आत्मानुभूति की सज्ञा देते हैं, जिसका अर्थ है ब्रह्ममय रूप मे सतत विहार करना, आत्मतृप्त, आप्तकाम, आत्माराम होना। इसमे विचरते हुए मनुष्य को इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ दीखना ही नही। प्राणिमात्र मे समता का भाव रखने वाला ही सदा ब्रह्म मे विचरेगा। इस दशा मे द्रष्टा और दृश्य एकरूप हो जाते हैं विश्व इन्द्रियगम्य भौतिक पदार्थ है और ब्रह्म मन तथा इन्द्रियातीत है। इसके लिए अन्तर्मुखी होना पडेगा। इसी साधन को योग कहते हैं।

आत्मा—जीव की आन्तरिक चेतना का नाम आत्मा है। आत्मा तत्त्वत ब्रह्मस्वरूप है, क्योंकि दोनो चैतन्य शक्ति हैं। ब्रह्म यदि समुद्र है तो आत्मा उसकी तरग है। रूप दो दीखते हैं, पर तत्त्वत वे दोनो एक ही हैं।

जगत—उपनिषदो के अनुसार जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण ब्रह्म ही है। जैसे पेड पौदे पृथ्वी से स्वत ही फूट पडते हैं तथा जैसे बाल और नाखून शरीर से निकलते हैं, या यो कहिए कि जैसे मकडी अपने अन्दर से निकले हुए जाले को स्वय ही वापस अन्दर ले लेती है, इसी प्रकार का ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध है। उपनिषदों मे इस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। साख्य और वेदान्त के ग्रन्थो मे इसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है। उपनिषदो के अनुसार

जगत् न केवल ब्रह्म से घिरा हुआ है, अपितु स्वय ही ब्रह्मस्वरूप है, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् मे कहा गया—'**सर्व खलु इद ब्रह्म**।'

मोक्ष—उपनिषदो का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति है, क्योकि आत्मानुभूति मे ही अनन्त सुख निहित है, जिसके समक्ष सभी सासारिक सुख हेय हैं। इसी से विश्व मे एकता का अनुभव होता है और इसी एकता का अनुभव मनुष्य को सर्वोच्च स्थिति मे ले जाता है। इससे परमानन्द की जो प्राप्ति होती है, उसका अनुमान तैत्तिरीयोपनिषद् मे इस प्रकार किया गया है

सौगुना इस ससार के सुख से होता है गान्धर्वलोक का आनन्द,
सौगुना गान्धर्वलोक के सुख से होता है पितृलोक का आनन्द,
सौगुना पितृलोक के सुख से होता है देवताओ का आनन्द,
(जिन्होने तपोबल से देवत्व प्राप्त किया)
सौगुना ऐसे देवताओ के सुख से होता है उन देवताओ का आनन्द,
जो जन्म से देवता हैं।
सौगुना जन्मजात देवताओ के सुख से होता है देवेन्द्र, इन्द्र का आनन्द,
सौगुना देवेन्द्र के सुख से होता है बृहस्पति का आनन्द,
सौगुना बृहस्पति के सुख से होता है प्रजापति का आनन्द,
सौगुना प्रजापति के सुख से होता है ब्रह्म का आनन्द।

इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता असीम है। यह सारा विश्व ब्रह्म के कणमात्र आनन्द के सहारे स्थित है। यह परमानन्द की परम सम्पत्ति है और सर्वोच्च लक्ष्य है। जो ब्रह्म को जान पाता है, वह स्वय ब्रह्म हो जाता है, अमरत्व प्राप्त कर लेता है। कहा भी है **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**। मानसकार तुलसी ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है 'जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।' वह तीनो प्रकार के तापो से रहित हो जाता है '**तरति शोक आत्मवित**।' इसी परम पुरुषार्थ की ओर सारा विश्व बढ रहा है।

उपनिषदों मे नैतिकता—लोगो की यह एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा है कि उपनिषद् केवल मात्रअध्यात्म विषय का निरूपण करते हैं। अत उनमे नैतिक शिक्षा का अभाव है। नैतिक आचरण सभी के लिए समान रूप से उपयोगी है, चाहे वह आध्यात्मिक जीवन हो अथवा व्यावहारिक। आन्तरिक विकास की अवस्था मे, एक ऐसा समय आता है जबकि नैतिक पूर्णता प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। एक प्रकार से यह अपनी प्रकृति का स्वामी बनना ही होता है और व्यक्ति को इस अवस्था से गुजरना ही पडता है। यदि कोई यह समझना है कि वह इस अवस्था से बिना गुजरे ही जीवन के दूसरे छोर तक पहुँच सकता है तो यह उसकी बहुत बडी भूल है और वह अपनी प्रकृति की पूण दुर्बलता को पूर्ण स्वाधीनता मान बैठता है। जब तक व्यक्ति नैनिक पूर्णता के आदर्श को प्राप्त नही कर लेता तब तक मानसिक अवस्था से अत्य-

धिक पूर्ण और बहुत अधिक अच्छी अवस्था से भी वह आध्यात्मिक जीवन की ओर नही जा जा सकता। यदि कोई व्यक्ति इस रास्ते को छोटा करने की कोशिश करता है और अपनी बाह्य प्रकृति की कमजोरियों पर विजय प्राप्त किये बिना ही अपनी आन्तरिक स्वाधीनता को प्राप्त करना चाहता है तो वह अपने आपको धोखा देता है। यह सच है कि सच्चा आध्यात्मिक जीवन, पूर्ण स्वतन्त्रता उच्चतम उपलब्धियों से कही ऊँची है। किन्तु इस जीवन मे प्रवेश करने से पूर्ण व्यक्ति को सहजभाव मे ही उस वस्तु के अनुसार अपने जीवन को बना लेना होता है, जिसे मानव जाति अत्यधिक उच्च, सुन्दर, पूर्ण, निस्स्वार्थ, व्यापक एव श्रेष्ठ कहती है।

और सच बात तो यह है कि नैतिकता के लिए अध्यात्मिकता अनिवार्य है। जो भौतिकवादी हैं, जो निर्विषय तत्त्व और आनन्द को कल्पना की वस्तु मानते है, वे नैतिकता की बात करते हैं और उसका आंशिक आचरण भी करते हैं, परन्तु उसकी भी नैतिकता का आधार अनिश्चित है, क्योंकि भौतिक सुख सम्पदा पाने के लिए नैतिकता का पालन अनिवार्य नही है। कुछ लोग जो अध्यात्म के अज्ञात और प्रच्छन्न प्रभाव के कारण सभी लोगों को सुखी बनाने की कामना करते और जनता जनार्दन कहकर उसको बाहरी सुख-सम्पदाओं से सम्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं और यह सोचते हैं कि उनके इस प्रयत्न से और नैतिकता का पालन करने से अवश्य ही हम परमात्मा के धाम मे मृत्यु के बाद पहुँच जायेंगे। ऐसे लोगों की नैतिकता मे कुछ अधिक बल रहता है, परन्तु सत्य का सही निरूपण नहीं जानने के कारण ये मोक्ष के आनन्द को जीवन-काल में ही नही पा सकते। सम्भावनात्मक विश्वास पर आधारित नैतिकता म अनिवार्य पालन की भावना उत्पन्न नही होती और पालन करने की क्षमता देने में तो वह असमर्थ रहती है। वास्तविक अध्यात्म का अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा द्वारा ही हो सकता है। ज्यो-ज्यो कोई व्यक्ति अध्यात्म की ओर बढता है त्यो-त्यो उसे प्रत्यक्ष रूप से पता चलता जाता है कि सदाचार का पालन आत्मानुभव कराने के पक्ष मे सहायता दे रहा है और उसी ही मात्रा मे सदाचार अथवा नैतिकता के पालन मे उसकी शक्ति भी बढती चली जाती है तथा नैतिकता का पालन उसके लिए अनिवार्य सा हो उठता है। अत नैतिकता के लिए अध्यात्म अनिवार्य शर्त है और यह अध्यात्म बुद्धि के द्वारा कल्पित अध्यात्म नहीं वरन् जीवन्त आत्मज्ञान से प्रकाशित अध्यात्म है।

इसलिए उपनिषदो मे नैतिक पूर्णता पर स्थान-स्थान पर बल दिया गया है किन्तु ये विचार इतने बिखरे हुए हैं कि उपनिषदो का गहन अध्ययन न करने वाले इन्हें सामान्यतया देख नही पाते हैं और यह दोष देते हैं कि उपनिषदों में आचार-शास्त्र के निरूपण की कमी है।

जगत् न केवल ब्रह्म से घिरा हुआ है, अपितु स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप है, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् मे कहा गया—'**सर्वं खलु इदं ब्रह्म।**'

मोक्ष—उपनिषदो का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति है, क्योकि आत्मानुभूति मे ही अनन्त सुख निहित है, जिसके समक्ष सभी सासारिक सुख हेय हैं। इसी से विश्व मे एकता का अनुभव होता है और इसी एकता का अनुभव मनुष्य को सर्वोच्च स्थिति मे ले जाता है। इससे परमानन्द की जो प्राप्ति होती है, उसका अनुमान तैत्तिरीयोपनिषद् मे इस प्रकार किया गया है

सौगुना इस ससार के सुख से होता है गान्धर्वलोक का आनन्द,
सौगुना गान्धर्वलोक के सुख से होता है पितृलोक का आनन्द,
सौगुना पितृलोक के सुख से होता है देवताओ का आनन्द,
(जिन्होने तपोबल से देवत्व प्राप्त किया)
सौगुना ऐसे देवताओ के सुख से होता है उन देवताओ का आनन्द,
जो जन्म से देवता हैं।
सौगुना जन्मजात देवताओ के सुख से होता है देवेन्द्र, इन्द्र का आनन्द,
सौगुना देवेन्द्र के सुख से होता है बृहस्पति का आनन्द,
सौगुना बृहस्पति के सुख से होता है प्रजापति का आनन्द,
सौगुना प्रजापति के सुख से होता है ब्रह्म का आनन्द।

इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता असीम है। यह सारा विश्व ब्रह्म के कणमात्र आनन्द के सहारे स्थित है। यह परमानन्द की परम सम्पत्ति है और सर्वोच्च लक्ष्य है। जो ब्रह्म को जान पाता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है, अमरत्व प्राप्त कर लेता है। कहा भी है **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**। मानसकार तुलसी ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है 'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।' वह तीनों प्रकार के तापो से रहित हो जाता है '**तरति शोकं आत्मवित।**' इसी परम पुरुषार्थ की ओर सारा विश्व बढ रहा है।

उपनिषदों मे नैतिकता—लोगो की यह एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा है कि उपनिषद् केवल मात्रअध्यात्म विषय का निरूपण करते हैं। अत उनमे नैतिक शिक्षा का अभाव है। नैतिक आचरण सभी के लिए समान रूप से उपयोगी है, चाहे वह आध्यतिमक जीवन हो अथवा व्यावहारिक। आन्तरिक विकास की अवस्था मे, एक ऐसा समय आता है जबकि नैतिक पूर्णता प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। एक प्रकार से यह अपनी प्रकृति का स्वामी बनना ही होता है और व्यक्ति को इस अवस्था से गुजरना ही पडता है। यदि कोई यह समझता है कि वह इस अवस्था से बिना गुजरे ही जीवन के दूसरे छोर तक पहुँच सकता है तो यह उसकी बहुत बडी भूल है और वह अपनी प्रकृति की पूर्ण दुर्बलता को पूर्ण स्वाधीनता मान बैठता है। जब तक व्यक्ति नैतिक पूर्णता के आदर्श को प्राप्त नही कर लेता तब तक मानसिक अवस्था मे अत्य-

धिक पूर्ण और बहुत अधिक अच्छी अवस्था से भी वह आध्यात्मिक जीवन की ओर नही जा जा सकता। यदि कोई व्यक्ति इस रास्ते को छोटा करने की कोशिश करता है और अपनी बाह्य प्रकृति की कमजोरियो पर विजय प्राप्त किये बिना ही अपनी आन्तरिक स्वाधीनता को प्राप्त करना चाहता है तो वह अपने आपको धोखा देता है। यह सच है कि सच्चा आध्यात्मिक जीवन, पूर्ण स्वतन्त्रता उच्चतम उपलब्धियो से कही ऊँची है। किन्तु इस जीवन मे प्रवेश करने से पूर्ण व्यक्ति को सहजभाव मे ही उस वस्तु के अनुसार अपने जीवन को बना लेना होता है, जिसे मानव जाति अत्यधिक उच्च, सुन्दर, पूर्ण, निस्स्वार्थ, व्यापक एव श्रेष्ठ कहती है।

और सच बात तो यह है कि नैतिकता के लिए अध्यात्मिकता अनिवार्य है। जो भौतिकवादी हैं, जो निर्विषय तत्त्व और आनन्द को कल्पना की वस्तु मानते हैं, वे नैतिकता की बात करते हैं और उसका आशिक आचरण भी करते हैं, परन्तु उसकी भी नैतिकता का आधार अनिश्चित है, क्योकि भौतिक सुख सम्पदा पाने के लिए नैतिकता का पालन अनिवार्य नही है। कुछ लोग जो अध्यात्म के अज्ञात और प्रच्छन्न प्रभाव के कारण सभी लोगों को सुखी बनाने की कामना करते और जनता जनार्दन कहकर उसको बाहरी सुख-सम्पदाओं से सम्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं और यह सोचते हैं कि उनके इस प्रयत्न से और नैतिकता का पालन करने से अवश्य ही हम परमात्मा के धाम मे मृत्यु के बाद पहुँच जायेंगे। ऐसे लोगो की नैतिकता मे कुछ अधिक बल रहता है, परन्तु सत्य का सही निरूपण नही जानने के कारण ये मोक्ष के आनन्द को जीवन-काल मे ही नही पा सकते। सम्भावनात्मक विश्वास पर आधारित नैतिकता मे अनिवार्य पालन की भावना उत्पन्न नही होती और पालन करने की क्षमता देने मे तो वह असमर्थ रहती है। वास्तविक अध्यात्म का अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा द्वारा ही हो सकता है। ज्यो-ज्यो कोई व्यक्ति अध्यात्म की ओर बढता है त्यो-त्यो उसे प्रत्यक्ष रूप से पता चलता जाता है कि सदाचार का पालन आत्मानुभव कराने के पक्ष मे सहायता दे रहा है और उसी ही मात्रा मे सदाचार अथवा नैतिकता के पालन मे उसकी शक्ति भी बढती चली जाती है तथा नैतिकता का पालन उसके लिए अनिवार्य सा हो उठता है। अत नैतिकता के लिए अध्यात्म अनिवार्य शर्त है और यह अध्यात्म बुद्धि के द्वारा कल्पित अध्यात्म नहीं वरन जीवन्त आत्मज्ञान से प्रकाशित अध्यात्म है।

इसलिए उपनिषदो मे नैतिक पूर्णता पर स्थान स्थान पर बल दिया गया है किन्तु ये विचार इतने बिखरे हुए हैं कि उपनिषदो का गहन अध्ययन न करने वाले इन्हें सामान्यतया देख नही पाते हैं और यह दोष देते हैं कि [illegible] ो म आचार

सत्य वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमद । (तै० १-११-१) सत्य बोलो । धर्म का आचरण करो । स्वाध्याय का कभी त्याग न करो । आचार्य को गुरु-दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करो । स्वाध्याय मे कभी प्रमाद न करो ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । माता को देवता के रूप मे पूजो । पिता को देवता के रूप मे पूजो । आचार्य को देवता क रूप मे पूजो । अतिथि को देवता के रूप मे पूजो ।

दान श्रद्धापूर्वक करो । विचारशील समदर्शी जिस प्रकार का आचरण करें उसी प्रकार का तुम भी करो ।

महत्त्व—उपनिषदो पर अब तक जितने भाष्य तथा जितनी वृत्तियाँ और टीकाएँ लिखी गयी हैं, कदाचित् ही किसी दूसरे साहित्य पर इतनी लिखी गयी हो । भारत के अनेक दार्शनिक जैसे अद्वैतवादी, द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी शुद्धाद्वैतवादी भेदाभेदवादी सभी ने एक स्वर से उपनिषदों की महिमा गायी है । इन सबो ने उपनिषदो की व्याख्या मे अपनी मनमानी भले ही की हो, परन्तु इनकी प्रामाणिकता के बारे मे सभी एकमत हैं । उपनिषदो के आधार पर ही इन दार्शनिको ने अपने-अपने दर्शनशास्त्रो का प्रतिपादन किया ।

पाश्चात्य दार्शनिको ने भी मुक्तकण्ठ से उपनिषद् के द्रष्टाओ के प्रति अपना आभार व्यक्त किया है । जब पाश्चात्य जगत् सभ्यता से दूर था तब इन द्रष्टाओ की प्रतिभा अपनी चरम सीमा पर थी । यही कारण है कि विदेशी विद्वान् उपनिषदो की चमत्कारिकता, सरलता, सुकुमारता, सुन्दरता, मृदुता एव मजुलता पर मुग्ध तथा आसक्त हैं । अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने अग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओ मे उपनिषदो के अनुवाद किये तथा जो टीकाएँ लिखी हैं उनसे उपनिषदो की महिमा और गरिमा ससार भर मे फैली है । विश्वविख्यात जर्मन विद्वान् शोपेनहावर ने लिखा है समस्त विश्व मे कोई भी ऐसा स्वाध्याय ग्रथ नही है जो उपनिषदो के समान उपयोगी और उन्नति के पथ की ओर ले जाने वाला हो, वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं । आगे या पीछे यह उपनिषद् ही एक दिन जनता का धर्म होगा ।

जर्मनी मे कील विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डायसन लिखते हैं उपनिषदो का दर्शनतत्त्व ससार भर मे अद्वितीय है ।

अध्याय ४

श्रीमद्भगवद्गीता

भगवान् श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व मे अपूर्व कला, अनुपम राजनीति, अपौरुषेय वीरता, अद्भुत चमत्कार, गम्भीर रहस्यवादिता, अद्वितीय योगशक्ति आदि सर्वांगीण रूप से विकसित दृष्टिगत होते हैं और यही कारण है कि उनकी श्रीमद्भगवद्गीता विश्व की सर्वोत्तम पुस्तक है। भगवान् का व्यक्तित्व जिस प्रकार सर्वांगीण विकास को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार उनकी गीता भी योगो के सर्वांगीय एव सम्पूर्ण विकास पर प्रकाश डालती है। योगेश्वर ही गीता की शिक्षा दे सकता था। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण सारे विश्व की जनता के जगद्गुरु तथा आकर्षण के सनातन केन्द्र हैं।

उनकी भगवद्गीता समस्त विश्व एव सभी सम्प्रदायो मे आदर की दृष्टि से देखी जाने वाली आकार मे लघु होते हुए भी एक महान् ग्रथ है। विचारो एव भावनाओ मे असीम, असाधारण तथा अमूल्य रत्न है। भारत एक अध्यात्मिक देश है और भगवद्गीता इस देश का रहस्यमय सार्वभौमिक ग्रथ है, महाभारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अश है।

गीता हिन्दू धर्मशास्त्र का एक अद्भुत रत्न है। यह विश्वमानव के प्रति एक सन्देश है। गीता समन्वय योग का प्रतिपादन करती है। यह ससार के सभी धार्मिक साहित्य मे अपना अमूल्य स्थान रखती है।

इसमे श्रीकृष्ण और अर्जुन का सवाद है। श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी थे और जब अर्जुन युद्धस्थल मे उतरते ही किंकर्तव्यविमूढ हो गये तब उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने कुछ उपदेश दिये थे, जिसे गीता कहते हैं। इन उपदेशो मे सम्पूर्ण उपनिषदो का सार सचित है। जैसा कि कहा गया है सभी उपनिषद् गाय हैं, अर्जुन बछडा है। इसी के लिए गीतारूपी अमृत भगवान् श्रीकृष्ण ने दुहा, जिसको पीने वाले सभी विद्वान् लोग हैं।

अपने को भ्रमजाल से मुक्त करने के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण से एक वद् निश्चित्य का अनुरोध किया। भगवान् को उपनिषदो का निचोड निकाल कर देना पडा। डा० राधाकृष्णन् के शब्दो मे गीता उपनिषदो के परस्पर विरोधी विचारो का समन्वय करके उनमे सामजस्य लाती है।

इस प्रकार गीता उपनिषदो की केवल पुनरावृत्ति ही नही करती वरन, विकास पथ पर उनसे आगे बढ जाती है। ब्राह्मण ग्रथो ने कर्मकाण्ड अथवा यज्ञादि पर योगाभ्यासियो ने तप पर बल दे रक्खा था, पर गीता ने मध्यम मार्ग खोज निकाला जिसके अनुसार जिसका आहार, विहार, चेष्टाएँ, निद्रा और जागरण सुनियन्त्रित है, उसी का योग दुख को हर सकता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि गीता को सन्मुख रखकर सब कार्य करने चाहिए, दूसरे शास्त्रो की आवश्यकता नही है। अर्थात् यदि हम गीता के अनुसार अपना जीवन ढाल लें तो हमे अन्य शास्त्रो से क्या लेना?

गीता मे दिये गये आत्मा के अमरत्व अनासक्ति और परमात्मा के स्वरूप मे एकीभाव होने के सन्देश से सतत प्रेरणा लेते रहना चाहिए। एकता के सिद्धान्त पर ही अनासक्ति योग आधारित है। भगवान् कहते हैं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नही है।

इसी अनासक्ति से सच्चे त्याग का जन्म होता है। गीता का जर्मन भाषा मे पहला अनुवाद १८०२ ई० मे हुआ। विदेशी विद्वानो ने मुक्त कण्ठ से श्री मद्-भगवद्गीता की सराहना की है।

श्री जे० ए० फर्कुहर जगत् के सम्पूर्ण साहित्य मे चाहे सार्वजनिक लाभ की दृष्टि से देखा जाय, चाहे व्यावहारिक प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय, भगवद्-गीता के जोड का अन्य कोई भी काव्य नही है। अध्ययन के लिए इससे अधिक आकर्षक वस्तु अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हो सकता है?

श्री रिचर्ड गार्वे भारतवर्ष के धार्मिक साहित्य का कोई अन्य ग्रथ भगवद् गीता के साथ समान स्थान प्राप्त करने के योग्य नही है।

सन १७८५ ई० मे चार्ल्स विलकिंस ने भगवद्गीता का एक अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जिसकी प्रस्तावना भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेटिंग्स ने लिखी थी। उसने कहा था कि भगवद्गीता के तरह के ग्रथ तब भी बने रहेंगे जब भारत में अग्रेजी उपनिवेश का कहीं नाम-निशान भी न रहेगा और इसके जिन स्रोतो से धन और शक्ति प्राप्त हुई थी, उसकी याद भी शेष न रहेगी।*

---

*When Warren Hastings was writing an introduction to the first English translation of the Bhagwadgita, he said, writings like this will survive when the British empire lost its domination over India, when the source of its wealth and prosperity are lost to remembrance, this book and writings like this will survive

श्रौर ग्रागे चलकर वह कहता है कि किसी भी जाति का उन्नति के शिखर पर ग्रारूढ करने के लिए गीता का उपदेश ग्रद्वितीय काय करता है। एमर्सन को गीता पढाने वाले महात्मा थोरे का कथन है

प्राचीन युग की सभी स्मरणीय वस्तुग्रो मे भगवद्गीता से श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नही है। भगवद्गीता मे इतना उत्तम ग्रौर सर्वव्यापी ज्ञान है कि उसके लिखने वाले देवता को हुए ग्रगणित वप हो जाने पर भी उसके समान दूसरा एक भी ग्रथ ग्रभी तक नही लिखा गया है। गीता के साथ तुलना करने पर जगत् का ग्राधुनिक समस्त ज्ञान मुझे तुच्छ लगता है। मैं नित्य प्रात काल ग्रपने हृदय ग्रौर बुद्धि को गीतारूपी पवित्र जल मे स्नान कराता हूँ।

सर जान उडरोफ ग्राधुनिक काल मे सज्जनगण तत्परता के साथ भारतीय साहित्य के सर्वोत्कृष्ट रत्न गीता का प्रचार कर रहे हैं। यदि यह प्रगति इसी प्रकार रही तो ग्रागामी सन्तान वेदान्त के सिद्धान्तों के प्रति ग्रधिक रुचि प्रकट कर उनका पालन करेगी।

श्री एफ० टी० वुक्स—श्रीमद्भगवद्गीता भारत के विभिन्न मतो को मिलाने वाली रज्जु तथा राष्ट्रीय जीवन की ग्रमूल्य सम्पत्ति है। यह भावी विश्व का सर्वोत्कृष्ट धमग्रथ है। भारतवप के प्रकाशपूण ग्रतीत की परम देन मनुष्य जाति के उज्ज्वल भविष्य का निर्माता वने।

श्री हमवोल्ट तो इसकी सराहना करते ग्रघाते नही गीता विश्व मे सब से भव्य एव पुनीत ग्रथ है।* एक ग्रन्य स्थल पर वे कहते हैं महाभारत की यह घटना सर्वाधिक सुन्दर है, इतना ही नही वल्कि कदाचित् यह ग्रकेली ही ऐसी दार्श-निक कविता है जिसकी तुलना की कोई वस्तु हमारे सुपरिचित साहित्य मे नही है।

ससार की कोई भी ऐसी मुख्य भापा नही है जिसमे गीता का ग्रनुवाद न हुग्रा हो। पूज्य महात्मा गाधी वालगगाधर तिलक, महामना मदनमोहन मालवीय ग्रादि भी इसकी प्रशसा करते नही थकते।

गीता के ग्रठारह ग्रध्यायो मे सात सौ श्लोक हैं। भापा सरल, पर ग्रर्थ गूढ है क्योकि विपय गम्भीर है। हर प्रकृति का व्यक्ति इससे तृप्त होता है। वह चाहे प्रवृत्ति मार्ग का हो ग्रथवा निवृत्ति माग का। इसके सिद्धान्त सभी देश तथा काल के ग्रनुकूल हैं। वे मानव मात्र के सिद्धान्त हैं।

---

*The Gita is probably the most profound and most sublime work the world can show

—Humbolt

विषय

ज्ञानयोग—भगवान कहते हैं—**'यो मा पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति'**—मुझको सब जगह देखो, हर पत्ते, हर डाल मे, हर पशु और मनुष्य मे मुझे देखो और सबको मुझ में देखो। ऐसी दृष्टि मे छोटे-बडे, चाण्डाल ब्राह्मण का प्रश्न ही नही उठता। वही एक सत्ता सब मे है। प्राणीमात्र मे समत्व की भावना रखना भारतीय संस्कृति की सबसे बडी देन है—

"समात्व योग उच्यते।"

सुख दुख, सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, शत्रु-मित्र, सफलता-असफलता, इन द्वन्द्वो मे समान दृष्टि रखना ही गीता सिखाती है। **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** की ऊची भावना गीता की ही देन है।

निष्काम कर्मयोग—कर्मयोग भारत का अद्वितीय सिद्धान्त है जो जीवन की सभी समस्याओ का समाधान करा देती है। यही दर्शन शास्त्र और धर्म का आधार है। मनुष्य को केवल कर्म करने का अधिकार है और फल देना प्रभु के हाथ मे है। जिस फल पर हमारा अधिकार ही नही, उसकी इच्छा ही क्यो की जाए ? अत किसी भी कार्य को करते हुए हमे उसके फल की इच्छा ही नही करनी चाहिए। इस प्रकार गीता केवल आदर्शवाद पर ही नही, अपितु व्यावहारिक समाधान पर बल देती है, क्योंकि कर्म तो प्रकृतिवश करने ही पडते हैं। कर्म के बन्धन से मुक्त बने रहने के लिए उसके कर्तापन की भावना नही आनी चाहिए। उस महायन्त्री के हाथो मे हम यन्त्र मात्र है। उसी की प्रेरणानुसार, उसकी दी हुई शक्ति से किये हुए सारे काम उसी के सादर समर्पित कर देने मे ही कल्याण है। इस अनासक्ति पर बल देते हुए महात्मा गाधी ने 'अनासक्ति योग' नामक एक ग्रन्थ की ही रचना कर डाली। सब स्वार्थ छोडकर लोकहित सारे कार्यों का सम्पादन करना ही गीता का 'लोक-सग्रह' है। विश्वकल्याण को ही प्रमुखता देने से **"सर्वभूतहिते रता"** को चरितार्थ कर सकेंगे। भगवान् की आज्ञा है, 'जो कार्य करो, जो खाओ, जो हवन करो, जो तप करो, हे अर्जुन ! वह सब मेरे अर्पण कर दो।

भक्तियोग—भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम को कहते हैं। गीता का ज्ञान कर्मयोग तथा भक्ति-प्रधान है। जहाँ ज्ञानयोग मे कुछ सीखने समझने की आवश्यकता है और कर्मयोग मे पूर्ण कुशलता को ध्यान मे रखना पडता है कि कर्म करते हुए आसक्ति के चक्र मे न पडें। वहा भक्तियोग मे कुछ भी नया कार्य नही करना होता, केवल प्रभु से 'प्रेम करना होता है। 'प्रेम' तो हम जन्म से ही करते हैं। यदि उनसे (भगवान् से) नही भी किया तो अपने सगे सम्बन्धियो मे वैसा ही करते रहें, किन्तु यह सब करें, प्रभु को बीच मे रख कर ही। उनके नाते ही, इस विश्व को उनका ही रूप मान कर उससे प्रेम करें। इसी पथ का अनुसरण कर उनके रचाये जगत् के माध्यम से ही

उसका साक्षात्कार करने मे सफल हो जाएगे। प्रेम का रूप अलौकिक है। इसमे अपने लिए किसी भी वस्तु की मांग नही की जाती है। इसमे एकमात्र प्रभु की इच्छा को शिरोधाय करना होता है। सच्चे प्रेम मे केवल देना ही है। सब काय प्रभु को लेकर ही होते रहते हैं।

ज्ञानियो और कमयोगियो की ओर से जहाँ प्रभु निश्चित हो जाते हैं कि वे अपने ज्ञान अथवा कम के बलबूते पर ही ससार से पार हो जाएगे, वहाँ भक्त का पूण उत्तरदायित्व वे कृपालु स्वय अपने ऊपर लेते हैं। भक्तवत्सल भगवान् भक्तो के हाथ मे अपने आपको बेच देते हैं। भक्त के रक्षाथ समय-समय पर अवतरित होते रहते हैं।

राजयोग—योग का अथ है—जुडना, युक्त होना, जीवात्मा और परमात्मा का जुडना। इन दोनो का सचेतन सम्बन्ध स्थापित होना, अहभावमय अज्ञान से ऊपर उठ कर ज्ञान मे प्रतिष्ठित होना, इस बात की उपलब्धि करना कि हम क्षुद्र 'अह' नहीं हैं, हम अपनी मूल सत्ता मे भगवान् के साथ और सब जीवो के साथ एक हैं तथा बाह्य चेतना और कम मे भी सदा साथ-साथ रूप से अपने हृदय स्थित भगवान् के साथ युक्त रहना।

अह और वासना के द्वारा हमारा चित्त विक्षुब्ध और विकृत हो जाता है। इसी अहभाव के वशीभूत होकर हम इस विश्व की सभी वस्तुओ को अपने से भिन्न और पृथक समझ कर उन पर अधिकार जमाना चाहते हैं और इसी कारण हमारे चित्त मे विक्षोभ उत्पन्न होकर दिव्य आनन्द को विकृत कर देता है। हमारा मन सामान्यतया बेमतलब इधर-उधर घूमता है, विचार कितने ही विषयो मे, प्रतिक्षण नाना विषयो मे, विपरीत और विरोधी विषयो मे दौडा करता है। उस समय चिन्तन के अन्दर न तो कोई दिशा होती है, न कोई सगति और न कोई सगठन ही। उस समय वह अपूण अधनिर्मित विचारो का स्तूप होता है। इस स्तूप को एक सीमित क्षेत्र के अन्दर और एक सुनिश्चित दिशा मे सुसीमित और सुसगठित करना, अनावश्यक तथा असगत विषयो का त्याग करना तथा आवश्यक विषयो को श्रेणीबद्ध करना मन को नियन्त्रित करने का अभ्यास है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गीता ने कम, भक्ति और ज्ञानयोग, जिन्हे एक साथ त्रिमाग कहते हैं, बतलाया है। इन्हें क्रमश इच्छाशक्ति, हृदय और बुद्धि का योग भी कह सकते हैं, किन्तु मन वायु से अधिक चचल और दुर्निग्रह कहा गया है और हो सकता है कि उपर्युक्त तीनो ही योग किसी के लिए प्रभावकारी न हो सकें। इस सम्भावना को दृष्टि मे रखकर ही गीताकार ने एक अन्य उपाय भी बताया है, वह है राजयोग।

समन्वय—वैसे तो सभी योग एक ही केन्द्र पर जा पहुँचते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि और सामथ्य मे भिन्नता रहने के कारण जिसको जो मार्ग अनुकूल प्रतीत

होता है, वह उसी को अपनाता है। इन सभी योगो का समन्वय गीता मे किस सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया है। गीता रचयिता भगवान् के अपने शब्दो मे "विना किसी आसक्ति के मेरे लिए ही कर्म करो। मुझे ही परम पूज्य, श्रद्धेय, सबसे बडा मानो। मेरी ही भक्ति करो।"

ज्ञान की पूर्णता भक्ति के विना सम्भव ही नही है। कमयोगी वनने मे भी ज्ञान और भक्ति की आवश्यकता है। इधर भक्ति भी ज्ञानरूपी बालक के विना वाझ स्त्री के बरावर रह जाती है और ज्ञान भक्ति के विना मातृहीन रह जाता है। अत जीवन को सफल वनाने के लिए इन सवके ऊपर राजयोग (यम, नियमादि) की छत्र-छाया चाहिए।

गीता मे शरणागति योग का सर्वोपरि स्थान है। सब कुछ करके उस एक की ही शरण मे जाने से मनुष्य ब्रह्म-स्थिति प्राप्त कर पाता है।

भगवद्गीता की देन

(क) विश्व-दर्शन मे

परमात्मा—परमात्मा ससार की सभी वस्तुओ मे व्यापक रह कर स्थित है। सारे हाथ, पैर, नेत्र, मुख, सिर उसी के हैं। सव इद्रियों से रहित होते हुए भी सम्पूर्ण इद्रियो की क्रियाओ को जानने वाला है। अपनी योगमाया से सवको धारण करने वाला और गुणो को भोगने वाला है। जैसे सूर्य किरण-स्थित सूक्ष्म जल साधारण मनुष्य नहीं जान सकते, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा अति सूक्ष्म होने से साधारण मनुष्यो के जानने मे नही आता। वह परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है और सवकी आत्मा होने से अत्यन्त समीप होते हुए भी श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषो के लिए उसका ज्ञान प्राप्त करना कठिन है।

जगत्—गीता के अनुसार यह जगत् "अनित्यमसुख', 'दुखालयमशाश्वत' है अर्थात् दु खो की खान तथा नाशवान् है। इस भौतिक जगत् को पारमार्थिक रूप से सत्य नही माना गया है। इस अनित्य और क्षणभगुर ससार मे भारतीयो की आस्था ही नही है। यह तो प्रभु-प्राप्ति का साधनमात्र है।

यह सम्पूर्ण जगत् उस अविनाशी, अप्रमेय, नित्यस्वरूप परमात्मा से व्याप्त है। उस परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नही। वही इसके कण-कण मे विद्यमान हैं।

भगवान् वतलाते हैं कि यह जगत् उनसे उत्पन्न, उनकी जीवरूपा पराप्रकृति से धारण किया जाता है। वह कहते हैं उन सच्चिदानन्द परमात्मा से यह सव जगत् वैसे ही परिपूर्ण है जैसे जल से वर्फ और सव भूत उसके अन्तर्गत सकल्प के आधार से स्थित हैं, इसलिए वास्तव मे वह उनमे स्थित नही हैं। जैसे आकाश से उत्पन्न

हुआ, सवत्र विचरने वाला महान् वायु सदा ही आकाश मे स्थित है, वैसे ही उनके सकल्प द्वारा उत्पन्न होने से सम्पूण भूत उनमे स्थित हैं।

उनका कहना है—'मैं इस सम्पूण जगत् को अपनी योगमाया के एक अश मात्र से धारण करके स्थित हू। इसीलिए मेरे को ही तत्त्व से जानना चाहिए।

जीवात्मा—जीवात्मा को भगवान् ने अपना ही सनातन अश बताया है। जैसे विभागरहित स्थित हुआ महाकाश भी घटो मे पृथक्-पृथक् की भाति प्रतीत होता है, वैसे ही सवभूतो मे एकीरूप से स्थित हुआ परमात्मा भी पृथक्-पृथक् की भाति प्रतीत होता है। आत्मा मे परमात्मा के सभी गुण हैं। यह भी सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है, अविनाशी है। इसी से सम्पूण जगत् व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने को कोई भी समथ नही है। यह अमर है, अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है तथा पुरातन है। शरीर का नाश भले ही हो जाए, पर इसका नाश नहीं हो सकता। इस आत्मा को शस्त्रादि काट नही सकते, आग जला नही सकती, जल गीला नही कर सकता और वायु सुखा नही सकती।

इस आत्मतत्व को बडा गहन वताते हुए भगवान् कहते हैं कि तभी तो कोई महापुरुष इस आत्मा को आश्चयवत् देखता है, कोई दूसरा आश्चय की तरह इसके तत्व को कहता है, कोई अन्य इस आत्मा को आश्चय की तरह सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्मा को नही जानता।

(ख) विश्व-धर्म मे—

ससार भर के सब धर्म अपनी-अपनी डफली बजाते हैं और केवल उसे ही सच्चा वताते हैं। गीता मे भगवान् कहते है कि 'किसी माग से जाए सव उसी के पास पहुँचते हैं, जो मुझे जैसे भजते है मैं भी उनको वैसे ही भजता हू। इस रहस्य को जानकर ही वुद्धिमान् मनुष्य सव प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार ही वरतते हैं।

हमे सव रूपो मे उस एक प्रभु के ही दशन करने चाहिए, तभी वे हमारे लिए और हम उनके लिए अदृश्य नही रहेंगे, क्योंकि वे दृढता से आश्वासन देते हैं—"यद्यपि मैं सव भूतो मे समभाव से व्यापक हू, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय ही, परन्तु जो भक्त मुझे प्रेम से भजते हैं वे मेरे मे और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हू।" जैसे सूक्ष्म रूप से अग्नि, सव जगह व्यापक होता हुआ भी, साधनो द्वारा प्रकट करने से प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सव जगह स्थित हुआ परमेश्वर भी भक्ति से भजने वाले के ही अन्त करण मे प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है।

श्रीकृष्ण ने प्रतिदिन व्यवहाराथ सुन्दर मार्ग दिखाया है "तुम जो कुछ कम करते हो, जो कुछ खाते हो, जो हवन करते हो, जो भी दान करते हो और जैसा भी तप करते हो, वे सव मेरे ही अर्पण कर दो।"

इस प्रकार गीता का धर्म ससार मे भाग जाने को या ससार मे रहकर काम न करने को नही कहता, वल्कि मानव-मात्र को स्वार्थ के त्याग पर वल देते हुए प्रभु और प्रभुजनो के लिए कर्म करने को कहता है। यदि हम दूसरो के लिए जीना प्रारम्भ कर दें तो यही ससार स्वर्ग बन जाएगा।

(ग) विश्व-सस्कृति मे—

विश्व-मानव के प्रति सवसे पहले मानवता का आदर्श इस प्रकार रखा है कि मनुष्य किसी सासारिक व्यक्ति या पदार्थ से उद्विग्न न हो, न स्वय किसी की उद्विग्नता का कारण बने, न किमी से भय माने और न किसी दूसरे के भय का कारण बने। ईश्वर-दृष्टि पैदा कर ले। पर-निन्दा की अपेक्षा यह भाव बनाये रखे कि प्रभु उसके अपने विपय मे क्या निर्णय करेंगे। उसका कोई अपना विचार या कर्म ऐसा तो नही जिसके लिए प्रभु के सामने होने से सकोच होगा। फिर तो उस दशा मे न तो कोई शत्रु दिखेगा, न मित्र। सवमे एक तत्त्व ही दिखाई देगा, जिससे उसके व्यवहार मे भी एकता आ जाएगी तथा स्वसुख-त्याग की भावना दृढ होती जाएगी। ऐमी धारणा यदि स्थिर होती चली गयी तो दु खालय कहलाने वाला ससार सुख का साधन बन जाएगा। इसी आदर्श ने भारतीय सस्कृति को विश्व भर मे ऊँचा स्थान दिलाये रखा है।

सभी मनुष्यो की वुद्धि का स्तर सामान नही हो सकता। अत वुद्धिमान् लोगो को यह आशा करना व्यर्थ है कि सब उन जैसा व्यवहार करें। जो जैसा कर रहा उसमे से उसकी श्रद्धा को न डिगाए, अन्यथा होगा कि वहाँ से श्रद्धा तो उखड जाएगी, पर जहाँ वे चाहेगे वह जम न सकेगी। इससे प्रकट होता है कि गीता धर्म-परिवर्तन का अनुमोदन नही करती। यदि ऐमे मार्ग पर पूर्ण सिद्धि इस जन्म मे कठिन दीख पडे तो भी निराश होने का कोई कारण नही, क्योकि जो कुछ भी यहाँ कर पाया है, वह कदापि व्यर्थ नहीं जाएगा। यही सस्कार उसे ऐसा शरीर दिलवाएगे जिससे वह आगे वढ सकेगा।

मरणोपरात जीवन

आत्मा की अमरता और मृत्यु के पश्चात् की स्थिति के दो महान् सत्य हैं। अमरता से तो गीता का प्रारम्भ होता है। शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। देखना यह होगा कि यहाँ हर घडी प्रभु की याद बनी रहे तभी तो अन्त समय स्वभावत वही सबसे प्रवल प्रवृत्ति के नाते शारीरिक दुवलता रहने पर भी उभरेगी जिससे अन्त की शुभ मति के अनुसार सद्गति हो जाएगी।

गीता मरणोपरात जीवन की स्थिति को मानती है और जीव के परलोक-गमन का भी समर्थन करती है।

उपसहार

इसी ज्ञान को अर्जुन को मित्र या बन्धु के रूप मे नही, मानव जाति के एक प्रतिनिधि के रूप मे, पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वय दिया था और यह आज भी सवत्र, सदैव तथा सर्वथा चरिताथ करने की आवश्यकता है और इसमे ही परम सुख की निधि निहित है।

व्यक्ति व्यक्ति मे एकात्म भाव को प्रस्तुत कर जाति, धम, वण, धन आदि के कारण समाज मे फैले हुए विभेदो को मिटाकर आज भी गीता विश्व मे फैली हुई समस्याओ का समुचित समाधान प्रस्तुत करती है।

सच्ची सस्कृति का सार जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित है। इसमे भारतीय सस्कृति की पूण झलक मिलती है। इच्छाओ का त्याग और आतरिक शान्ति भारतीय सस्कृति की विशेष देन है। भारतीय सस्कृति पर आत्मा की अमरता और मनुष्य के ईश्वरत्व की गहरी छाप है। गीता मे भारतीय सस्कृति की इस विचारधारा की झलक पदे-पदे मिलती है।

—०—

अध्याय ५

रामायण महाभारत युग

वेदकाल के पट-परिवर्तन के साथ रामायण के रूप मे जो कवि कृति हमारे समक्ष आती है, उसे जन-मानस ने आदि काव्य के रूप मे स्वीकृति दी है और उसके रचयिता को आदि कवि की सज्ञा से विभूपित किया है।

तत्कालीन युग मे अश्वमेधादि से उत्पन्न महाकोलाहल के बीच एक तटस्थ विरक्त महर्पि की असीम करुणा निरीह क्रौंच के क्रन्दन से उमड कर एक अमर काव्य का रूप ले लेती है। यह निश्चित ही भारत के इतिहास की एक आश्चर्यजनक महान् घटना है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि करुणाप्रवण महर्पि वाल्मीकि के हृदय मे जन-कल्याण की भावना भी द्विगुणित वेग से प्रवाहमान् होगी, जिस कारण उन्होंने जन-साधारण को उच्च स्तरीय ज्ञान कथा के सरल माध्यम से देने का स्वत प्रयास किया।

महाकाव्य—जन-साधारण वेदो और उपनिपदो के आध्यात्मिक आदर्श को समझने मे असमर्थ हैं। इसलिए महर्पि वाल्मीकि और व्यास ने क्रमश रामायण और महाभारत की रचना की। उच्च सिद्धान्तो को इनमे दृष्टान्त और कथा के माध्यम से समझाया गया है। रामायण और महाभारत भारतीय समाज के विधायक के दो महाकाव्य हैं। इनमे महाभारत ससार भर के महाकाव्यो मे सबसे बडा महाकाव्य है। हर घर मे इसकी प्रतिष्ठा है।*

---

*I do not know any work anywhere which has exercised such a continuous and pervasive influence on the mass mind as these two (Epics), dating back to remote antiquity, they are still a living force in the life of the Indian people

—J L Nehru Discovery of India

रामायण का कथा-सार

वाल्मीकि रामायण आदि महाकाव्य है। रामायण की कथा-वस्तु पुरुषोत्तम राम के चरित्र के चतुर्दिक् बुनी गयी है। यह काव्य के नायक हैं, अत इनका चरित्र पाठक के समक्ष रहता है। राम अयोध्या-नरेश दशरथ के पुत्र थे। ये चार भाई थे, राम, लक्ष्मण, भरत एव शत्रुघ्न। राम उनमे सबसे बडे थे। तत्कालीन प्रथा के अनुसार राम के वयस्क होने पर उनके युवराज बनने का अवसर आया, परन्तु अपनी पत्नी कैकयी के वचनबद्ध होने के कारण राजा दशरथ को विवश होकर राम को चौदह वर्षों के लिए वनवास तथा कैकेयी-पुत्र भरत को राज्य देना पडा।

अत्यधिक अनुरोध पर रामचन्द्र जी ने पत्नी सीता एव अनुज लक्ष्मण को भी सग चलने की अनुमति दे दी। राम के वियोग का कष्ट दशरथ के लिए असह्य हो उठा और वे परलोकवासी हो गये। भाई राम के प्रति अगाध श्रद्धा एव प्रेम होने के कारण तथा स्वभाव से ही न्यायप्रिय होने के कारण भरत ने सिंहासनारूढ होना अस्वीकार कर दिया। वे चौदह वर्षों तक राम की पादुकाए सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर शासन व्यवस्था देखते रहे।

श्री राम ने गोदावरी-तट पर पचवटी नामक स्थान पर कुछ समय तक निवास किया। वहाँ के समीपवर्ती स्थानो मे राक्षसो का आतक छाया हुआ था। वे ऋषि-मुनियो को उनके यज्ञ मे विघ्न डालकर अथवा उनकी समाधि भग कर अनेक प्रकार के उपद्रवो से तग किया करते थे। श्रीराम ने उनका दमन किया। परिणामत राक्षसो के राजा महाप्रतापी, लोकपीडक रावण से उनकी शत्रुता ठन गयी। शत्रुता की भावना को और भी प्रज्वलित करने के उद्देश्य से रावण सीता को अपहरण कर लका ले गया। फलस्वरूप राम और रावण का घनघोर युद्ध हुआ।

ज्योति के पत्र मे लिखा रह गया,
राम रावण का अपराजेय समर।

दोनो पक्ष की सेना हताहत हुई। रावण के अनेकानेक सेनापति मारे गये। अत मे दीघकालीन युद्ध के उपरान्त रावण भी मारा गया। लका का राज्य विभीषण को देकर श्री राम, सीता तथा लक्ष्मण सहित अयोध्या लौट आये। वनवास की अवधि पूण हो चुकी थी। अयोध्या मे उनका राजतिलक हुआ। वे प्रजा-वत्सल न्यायप्रिय राजा थे। जन रुचि और जन विचारो का आदर करते थे। प्रजा उन्हें प्राणो के समान प्रिय थी। अत दीघकाल तक रावण के अधीन रहने के कारण जब सीता के चरित्र के सम्बन्ध मे भी जनता के कुछ विचार राम को ज्ञात हुए तो उन्होंने सीता को तत्काल वन मे भेज दिया। वे उस समय गभवती थीं। वन मे महर्षि वाल्मीकि ने उन्हे

अपने आश्रम मे आश्रय दिया। वही उनके पुत्र लव-कुश का जन्म हुआ। अपने पिता के समान लव-कुश भी अत्यन्त वीर और तेजस्वी थे। राम ने अश्वमेघ यज्ञ किया तो लव-कुश ने उनका घोडा पकड लिया और राम से युद्ध किया। अत मे राम ने उन्हे पहचान लिया और सीता एव लव-कुश को अयोध्या ले आये।

महाभारत की कथा-वस्तु

महाभारत महाकाव्य के महानायक महाभारत के प्रतिष्ठाता भगवान् स्वय श्रीकृष्ण हैं। द्वापर युग के अन्त मे उन्होंने विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए विशेष मूर्ति धारण की थी। भारत की अखण्डता, भारतीय आत्मा की मुक्ति, मानव-समाज के सनातन नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श की विजय और इस महान् आदर्श के आधार पर भारतीय महाजाति का सगठन—यही उनकी समस्त कर्म और चेष्टाओ का लक्ष्य था। भारत मे सम्यक् ऐक्य की स्थापना के द्वारा समग्र विश्व मे ऐक्य प्रतिष्ठा का पथ प्रशस्त करना उनका आन्तरिक अभिप्राय था, क्योकि भारतवर्ष सम्पूर्ण मानव जगत् का आध्यात्मिक केन्द्र रहा है। इसमे महामिलन का आदर्श सुप्रतिष्ठित हो जाने पर पृथ्वी के अन्यान्य देशो मे भी वही धारा वहने लगती है। इसके लिए उन्होंने शान्ति के मार्ग का ही अनुसन्धान किया था, परन्तु एकत्व-भावना और साम्य का आदर्श, उनकी अखण्ड महाभारत की प्रतिष्ठा की परिकल्पना, उनका आध्यात्मिक नीव पर राष्ट्र और समाज के निर्माण का सकल्प, आसुरी भाव वाले राजनेताओ को अच्छा नही लगा। वे उनके शत्रु वन गये।

श्रीकृष्ण ने जव यह अनुभव किया कि उनके आदर्श प्रतिष्ठा मे वहुत से काटे देश और समाज के क्षेत्र मे अपनी जड जमाये फैले हैं, जिनको जड से उखाडे विना लक्ष्य की सिद्धि नही होगी, धर्मराज्य की स्थापना नही होगी, तो उन्होंने सव प्रकार की विद्रोही शक्तियो को ध्वस करने का निश्चय किया। महाभारत के युद्ध का यही प्रमुख हेतु था। धार्तराष्ट्र और पाण्डवो के साम्राज्य विकास का विवाद तो एक निमित्त मात्र था। समाज को आदर्श की ओर जाने मे उनके प्रेमार्द्र हृदय मे शोक, भय, ताप, चिन्ता और खेद नाम मात्र को भी उत्पन्न नही हुआ। विराट् आदर्श की स्थापना के लिए अपने असख्य प्रियजनो के प्राणो की वलि देने मे भी उन्हे सकोच नही हुआ। व्यासदेव तथा पाण्डवो ने, विशेषत अर्जुन ने, इस कार्य मे उनका हाथ वटाया। व्यास के ज्ञान और अर्जुन की शूरता ने श्रीकृष्ण के मस्तिष्क और भुजा का कार्य किया था।

कुरुवश की एक शाखा के नेता थे अहकारी दुर्योधन। इन दुर्योधन का केन्द्र वनाकर जव श्रीकृष्ण के आदर्श के स्थापन-पक्ष के विरोधी राजाओ ने अपना सगठन

आरम्भ किया तब इसी के वंश की दूसरी शाखा के धर्मवीर पाण्डवो ने श्रीकृष्ण को अपने जीवन का नेता बनाया। महाभारत के संगठन के लिए सूक्ष्मदर्शी श्रीकृष्ण ने केन्द्रीय राष्ट्र-शक्ति को धर्मराज युधिष्ठिर के हाथो मे सौंपना उचित समझा।

न्याय और धर्म की दृष्टि से पाण्डव ही कौरव राज्य के उत्तराधिकारी थे। उनमे क्षात्रोचित गुण भी अधिक था, इतने पर भी लड़कपन से ही उनका यातना और क्लेश की गोद मे लालन-पालन हुआ था। दुर्योधन और उनके कूटबुद्धि बन्धु-बान्धवो के षड्यन्त्र के कारण वे शैशव से ही नाना प्रकार के अत्याचार से पीडित थे, किन्तु धर्म, क्षमा तथा सहिष्णुता के आदर्श को अक्षुण्ण बनाये रखना ही उनका व्रत था। इसी से प्रतिकार की क्षमता रखते हुए भी सब प्रकार के अत्याचार और नियति को प्रसन्नता से सहते रहे।

भारत के विभिन्न प्रदेशो के जो राजा पाण्डवो के गुणो पर मुग्ध थे, न्याय और धर्म के पक्षपाती थे और श्रीकृष्ण के महान् आदर्श के प्रेमी थे, वे अपनी सारी शक्ति लेकर पाण्डवो के साथ आ मिले। भारत की राष्ट्र-शक्ति अब दो भागो मे विभक्त हो, परस्पर प्रतिद्वन्द्वी बन गयी। एक भाग था न्याय के पक्ष मे और दूसरा था स्वार्थ का पक्षपाती। एक भाग सताये हुए नर नारियों का पक्ष करता था तो दूसरा सताने वालो का। एक था ऐक्य और मिलन का पक्षपाती तो दूसरा था भेद और विरोध का।

श्रीकृष्ण ने व्यासार्जुन की सहायता से अनेक विरोधी शक्तियो का दमन किया था। बहुत से शत्रुओ को मित्र बना लिया था। अनेक प्रतिकूलाचारी लोगो को आदर्श का प्रेमी बनाने मे सफल हुए थे, परन्तु इससे उनके संग्राम की आवश्यकता दूर न हुई। युद्ध को टालने के लिए श्रीकृष्ण के परामर्श पर युधिष्ठिर पाच भाइयो के लिए पाँच गाँव लेकर सन्तुष्ट होना स्वीकार कर लिया। स्वयं श्रीकृष्ण दूत बन कर गये। भीम को विष देकर मार डालने की चेष्टा, कुन्ती समेत पाचो पाण्डवो को लाक्षागृह मे जला डालने का षड्यन्त्र, कपट से जुए मे राज, मान और धन का अपहरण, भरे राज-दरबार मे द्रौपदी के केश खीच कर उसे नग्न करने की कुचेष्टा, इन सभी अत्याचारो को देश की शान्ति, एकता और प्रेम की प्रतिष्ठा के लिए पाण्डव भुला देने को तैयार हो गये, परन्तु सन्धि स्थापन के सभी प्रयास व्यर्थ हुए। दो दलो मे बटी हुई राष्ट्र-शक्तियाँ एक दूसरे को ध्वंस करने को तैयार हो गई। देश की शान्तिप्रिय निरीह जनता महासमर की ज्वाला से बची रहे, इसके लिए युद्ध को एक स्थान विशेष मे मर्यादित कर सीमाबद्ध कर दिया गया। कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान मे दोनो ओर की सेनाए युद्ध के लिए आ डटीं।

अठारह दिनो के युद्ध मे भारत की आसुरी भावापन्न क्षात्र-शक्ति प्राय निर्मूल

हो गयी। पांच पाण्डव ही बच रहे और बच रहे स्त्री, बालक तथा वृद्ध जो युद्ध म सम्मिलित ही नही हुए थे। नि क्षत्रिय भारतवर्ष मे धर्मराज युधिष्ठिर चक्रवर्ती पद पर प्रतिष्ठित हुए और अखण्ड महाभारत की नीव पडी।

महर्षि व्यासदेव ने श्रीकृष्ण के आदर्श और विचारधारा को केन्द्र बना कर, तद्भावभावित कर्मी, ज्ञानी और भक्तो के जीवन को आधार बनाकर तदनुकूल शास्त्र, युक्ति और इतिहास का आश्रय लेकर महाभारत के इस कथानक के माध्यम से तत्कालीन आर्य जाति के आचार, विचार, व्यवहार और धर्म का रहस्य, अर्थशास्त्र, नियामक कामशास्त्र, वर्णाश्रम के सामान्य धर्म और विशेष धम, स्त्री-धर्म, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा आदि के पारस्परिक धर्म, राजनीति, सामान्य नीति, कपट नीति, युद्ध-कला, युद्ध समय मे नगर आदि की व्यवस्था, विविध कौशल, सृष्टि सौन्दय, अध्यात्मक ज्ञान तथा सर्वनियामक परमेश्वर का निरूपण बडे विशद रूप से किया है। एक जनोक्ति है कि *'यन्न भारते तन्न भारते'*—अर्थात् भारतीय साधना के क्षेत्र मे ऐसा कोई तत्त्व नही है, ऐसा कोई भी मत और मार्ग नही है, ऐसी कोई समस्या और समाधान नही है, जिसकी महाभारत ग्रन्थ मे पूर्ण निपुणता के साथ व्याख्या और आलोचना न हुई हो।

रामायण तथा महाभारत काल की सस्कृति

कौटुम्बिक स्थिति—रामायण काल मे सयुक्त परिवार की प्रणाली थी, जिसमे पिता की आज्ञा शिरोधार्य की जाती थी। महाभारत काल मे धृतराष्ट्र दुर्योधन को आज्ञा न दे सके तो यह अपवाद था। परिवार मे ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार-पूर्ण स्थान था। वही पिता का उत्तराधिकारी और उत्तर क्रिया करने क पात्र होता था। 'पु' नामक नरक से बचने और पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए पिता पुत्र की कामना से दीर्घकाल तक तपस्या, अनुष्ठान, पुत्रेष्टि यज्ञ करते थे। प्राचीन भारत मे आर्य सस्कृति की उत्कृष्टता का रहस्य उसके पारिवारिक जीवन की श्रेष्ठता है। इसका प्रोज्ज्वल उदाहरण रामायण मे चित्रित है। पिता-पुत्र मे, भाई-भाई मे, पति-पत्नी मे, देवर-भौजाई मे, सास-बहू मे परस्पर स्नेहसिक्त और अनुकरणीय सम्बन्ध होते थे। कुटुम्ब के अनुशासन मे तरुणवर्ग, स्वार्थ त्याग, निश्छल प्रेम और सेवा-भावना जैसे आदर्श गुणो को धारण करता था। यदि रामायण तथा महाभारत का अध्ययन हमारे घरो मे श्रद्धा-प्रेम से निरन्तर होता रहे तो हमे घर बैठे स्वर्ग का सुख प्राप्त हो सकता है।

स्त्रियों की स्थिति—कन्यावस्था मे उनका लालन पालन खूब प्रेम से किया जाता था। परिवार मे अविवाहित कन्याओ को मागलिक और उनकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाता था। रामायण-महाभारत के प्रमुख स्त्री-पात्रो की समीक्षा

से यह स्पष्ट है कि विवाह के पूर्व उन्हें अपने घरो मे समुचित शिक्षा मिल चुकी थी। क्षत्रिय कुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललित कला तथा युद्ध-कला से परिचित होती थी। वे अपने पति के साथ युद्ध स्थल मे भी जाया करती थी। कैकेयी ने युद्ध मे रथ की धुरी टूट जाने पर अपनी भुजा के प्रयोग से अपने पति दशरथ की आडे समय मे सहायता की थी।

विवाह के पश्चात् वधू रूप मे पति-गृह मे प्रवेश करती थी, जहाँ उसे पति-प्रेम और सास-श्वसुर का हार्दिक स्नेह प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होता था। अपने मधुर व्यवहार मे वधू उन्ह वाध्य कर देती थी कि वे उसे आख की पुतली बनाकर रखें। पतिव्रता धम का आदश सर्वोपरि था। स्त्री के लिए पति ही देवता, पति ही प्रभु है। वह अपने अस्तित्व को पति के व्यक्तित्व मे मिटा देने मे ही सुख मानती थी।

यद्यपि वैधव्य स्त्रियो के लिए घोरतम विपत्ति थी तथापि विधवाए अनादर का पात्र नही थी। दशरथ की विधवा रानिया तथा कुन्ती आदि ने वाद मे सम्मानपूण जीवन व्यतीत किया। निष्कर्ष यह है कि स्त्रियो की समाज मे प्रतिष्ठा थी। यह माना जाता था कि जहाँ स्त्रियो का आदर-सत्कार होता है वहाँ देवता वास करते हैं।

आर्थिक स्थिति—कृषि देश का मुख्य उद्योग था। सिंचाई के साधनो मे प्राकृतिक साधनो के अतिरिक्त कृत्रिम उपायो का सकेत मिलता है। वैसे सामयिक वर्षा उपज के लिए लाभकारी थी। खेती के लिए औजार के रूप मे हल, कुदाल आदि प्रयुक्त होते थे। गो-पालन के अतिरिक्त हाथियो और घोडो की अच्छी नसलें उत्पन्न करने या एक व्यवसाय था। पशु-पालन द्वारा दुग्ध, दुग्ध पदार्थो तथा हाथी दात का व्यवसाय होता था। लोहा, तांबा, पीतल, कांसा, चाँदी, सोना, सीसा और टिन जैसे खनिज पदार्थों का उल्लेख पाया जाता है। इससे वनी वस्तुए दैनिक उपयोग मे आती थी। वस्त्रोपयोग भी प्रचलित था।

कुसुमो के रग से कपडे रगे जाते थे। व्यापार की स्थिति वडी ही समृद्ध थी। समुद्र-पार विदेशी व्यापार के भी प्रमाण मिलते हैं। कम्वोज आदि देशो को सोना चाँदी, हीरा, माणिक, चावल, मिर्च, रेशमी वस्त्र तथा लाख आदि वस्तुओं का निर्यात होता था। राज्य की सहायता से सूती, ऊनी तथा रेशमी कपडो का उद्योग उन्नति पर था। शिल्प के ऊचे स्तर का प्रमाण पाण्डवो के राजमहल के फर्श देते थे जिनको दुर्योधन ने भ्रमवश जल समझ लिया था। जल, थल तथा नभ, इन तीनो मार्गो से ही यातायात होता था। रथ, पोत तथा यान यातायात के साधन थे। इस आर्थिक

सुव्यवस्था का रहस्य समाज मे धन का सन्तुलित विभाजन था, जिसमे आर्यों की वर्ण-व्यवस्था विशेष रूप से सहायक थी।

राजनीतिक जीवन—राजाओ का यह मुख्य धर्म माना जा था कि प्रजा की रक्षा अपनी सन्तान समझ कर करें। पहली बात जो भरत के वन मे मिलने पर राम ने पूछी वह यही थी कि 'प्रजा तो सुखी है ? तालावो मे पानी है ? सैनिको को वेतन तो बरावर मिलता रहता है ? जगली जानवरो से तो प्रजा सुरक्षित है ? राजा निरकुश नही होते थे। वे प्रजा की भावनाओ का पूर्णतया आदर करते थे। राम को युवराज-पद देने से पहले प्रजा की सम्मति ली गयी थी। कुल-पुरोहित वशिष्ठ जी की आज्ञा सदैव शिरोधार्य की जाती थी। राजा जनक ने अनावृष्टि होने पर स्वय हल चलाया था। कृषि, पशु-पालन तथा शिल्प, इन तीनो की उन्नति की चिन्ता राजा को रहती थी। राजा को परामर्श देने के लिए एक परिषद् होती थी। कर-प्रणाली ऐसी थी कि प्रजा को कर का भार अनुभव न हो। जैसे सूय के समुद्र, सरोवरो और तालावो मे से पानी सोखने का आभास नही होता, पर वर्षा के रूप मे जल खूब वरसता है तव सवको पता लग जाता है। इसी प्रकार राजा सार्वजनिक कार्यों के लिए कर रूप मे प्राप्त धन को प्रचुर मात्रा मे लौटाते थे। जब तक ससार है राम-राज्य आदर्श रूप मे ही रहेगा।

राम-राज्य—उनकी प्रजा स्वतन्त्र होने पर भी सनाथ थी। प्रजा की तुष्टि के लिए राजा राम ने सती साम्राज्ञी सीता को त्याग दिया। शासक ने धर्म-भावना इतनी वना रखी थी कि लोग पाप से डरते थे। वहाँ एक ही आन्दोलन चलता था। "मन की दासता से मुक्त रहो।" अत कारागार रिक्त थे। न्यायालय थे, पर वाद के लिए कोई नही जाता था। प्रजा पर पडी विपत्ति का कारण राजा अपने को मानते थे।

विजय प्राप्ति पर लका का राज्य विभीषण को दे दिया और वालि का राज्य सुग्रीव को। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने जरासन्ध की कैद मे सैकडो राजाओ को मुक्त कर उनके राज्य वापस किये। कस का वध करके राज्य उनके पिता उग्रसेन को ही दिया। युद्ध म धर्म-पालन किया जाता था। रात्रि को युद्ध वन्द रहते थे। नि शस्त्र पलायन करते योद्धा पर वार नही करते थे। आजकल की तरह निर्दोष प्रजा पर अन्धाधुन्ध वम नही वरसाये जाते थे।

धार्मिक दशा—उस काल की सस्कृति धर्म द्वारा पूर्णतया अनुप्राणित थी। वेदो का प्रभुत्व सर्वव्यापी था तथा आर्य उपयुक्त समय पर सन्ध्योपासना करने म बडे जागरूक रहते थे। मन्दिरो का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। वैदिक

देवताओ का स्थान त्रिमूर्ति ने ले लिया था, पर इनके भक्तो मे कोई विरोध नही था। विष्णु और शिव सर्वत्र छा गये थे, पर ब्रह्मा जिनसे मनुष्य तथा देवताओ की भी उत्पत्ति मानी जाती है, अन्तर्धान ही रहे। उनका केवल एक पुष्कर तीर्थ ही विख्यात है, लेकिन राम, कृष्ण के रूप मे विष्णु सभी मन्दिरो में प्रतिष्ठित थे। भगवान् शिव से भी कोई स्थान खाली न था। उजाड हो, वस्ती हो, एक पीपल का वृक्षमात्र दिखाई देता हो, वहाँ शिवलिंग अवश्य मिलेगा।

धर्म-पालन का, जो कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, आदर्श ऊँचा रहता था और यह पालन धर्म के लिए होता था, न कि स्वसुख के लिए। धर्मराज युधिष्ठिर ने, नल ने, स्वय सीता, राम, कुन्ती, द्रौपदी, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र आदि बडे बडे कष्ट धर्म के लिए ही उठाये, पर धर्म से विचलित नहीं हुए। सात्विक और दिव्य जीवन की ओर प्रेरित करने वाली सभी बातें धर्म के अन्तर्गत थी। रामायण और महाभारत के चरित्र चित्रण मे धर्म की साकार मूर्तिया, धर्म के ज्वलन्त आदर्श विद्यमान है।

भौतिक क्षेत्र मे—रामायण और महाभारत मे धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र मे तो भारत ने ऊची उडानें ली ही, गीता के द्वारा भारत को जगद्गुरु की पदवी भी मिली। सजय ने योग-बल से हस्तिनापुर मे बैठे हुए कुरुक्षेत्र में हो रहे युद्ध का पूरा विवरण धृतराष्ट्र को साथ-साथ देकर सबको चकित कर दिया। भौतिक क्षेत्र मे भी जो आदर्श स्थापित किये गये उन्होंने भारत के महत्त्व को बढा दिया, जैसे शास्त्र-विद्या मे राजा दशरथ का शब्द-भेदी बाण से पानी भरते हुए श्रवणकुमार को मार देना, अर्जुन का बाणो से—(१) स्वयवर मे मछली को बेधना, (२) पृथ्वी से जल निकालकर शरशय्या पर पडे भीष्म की प्यास बुझाना, द्रोणाचार्य का शस्त्र-विद्या द्वारा कुए से गेंद निकालना, युवा अभिमन्यु का चक्रव्यूह मे अकेले प्रवेश करना, लव-कुश का युद्ध मे भगवान् राम तक को अचम्भे मे डाल देना, अभियान्त्रिकता मे नल-नील का समुद्र पर पुल बनाना जिसके अवशेष अभी तक दिखायी देते हैं तथा श्री राम का पुष्पक विमान मे अयोध्या लौटना, शारीरिक बल मे चक्षुहीन धृतराष्ट्र का लोहे के भीम को चकनाचूर करना आदि-आदि आदर्श कहाँ तक गिनाये जा सकते हैं? वे विश्व-इतिहास मे अद्वितीय ही रहेंगे।

रामायण तथा महाभारत का महत्त्व

मिशेलेट ने वाल्मीकि रामायण के विषय मे लिखते हुए १८६४ ई० मे कहा था 'जो भी बहुत काम करने से अथवा चिंतन करने से थक गया हो

उसको चाहिए कि इस गहरे प्याले से जीवन और स्वास्थ्य की एक बडी घूट पी डाले '

(हर्टेल थ्री लेक्चर्स आन बुद्धिज्म, पृ० ३१)

अपने अग्रजो, समवयस्क और अनुजो के प्रति कैसा व्यवहार किया जाए, राजा अपना शासन कैसे चलाये, मनुष्य ससार मे कैसे जीवन सफल करें, यह सब आदर्श रामायण मे सागोपाग वर्णित है। दोनो ग्रन्थ भारतीय जीवन की आचार-सहिताए हैं। आज हमारे जो पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय आदर्श है, सब रामायण और महाभारत का ही अनुकरण है। श्री राम, लक्ष्मण और भरत के जीवन से भ्रातृप्रेम और परस्पर सद्भाव की, विशेपतया भरत की उदारता से, कितनी बडी शिक्षा मिलती है। कौशल्या की महत्ता, सुमित्रा की विद्वत्ता तथा कैकेयी की राजनीति सराहनीय है। सुग्रीव मित्रता का और हनुमान जी सेवा, धर्म तथा कर्मयोग का अद्वितीय आदर्श उपस्थित करते है। सीता जी के जीवन मे नारीत्व, पतिव्रत धर्म और माधुर्य का मधुर सामजस्य है। श्री जवाहरलाल नेहरू रामायण के महत्त्व को मानते थे।*

महाभारत एक विशाल वृहद् महाकाव्य है जिसमे मानव के शौर्य और साहस की गाथाए हैं। अपने इन्हीं तथा अन्यान्य अनेको गुणो के कारण यह भारतीय साहित्य मे बहुत उत्तम स्थान रखता है। इसे पचम वेद भी कहते हैं। इसमे पृथक् पृथक् तथा विविधता से भरे प्रसग एक ही वार्ता के रूप मे इस प्रकार सुन्दरता से ग्रथित हुए हैं कि इससे अधिक भव्य और सुयोजित कथानक की कल्पना करना सम्भव नही है। पुरुप तथा स्त्री पात्रो का चित्रण, सृष्टि-सौन्दर्य आदि के वर्णन मे काव्य का सौन्दय पूर्ण निखार पर है। इसीलिए इसे महाकाव्य कहा गया है।

---

*This great epic of our race has moulded the thoughts and emotions of uncounted generations people in India during past ages From the peasant in the field, and the worker in the factory, to the highbrow and scholar, the story of Rama and Sita has been a living one A story and an epic, which has had the powerful influence on millions of people during some millenia of our changing history, must have peculiar virtue in it

—Jawahar Lal Nehru

Quotation taken from Sri D S Sharma's article in "Hinduism in Epic Age" in World Parliament of Religions, (P 555)

रामायण और महाभारत महाकाव्यो मे जीवन के आनन्द और मानव की गरिमा, व्यक्तिगत एव प्रतिष्ठा के लिए तत्परता तथा साहसिकता के प्रति प्रेम पर बल दिया गया है। इसमे प्राचीन भारत की सस्कृति, रीति-प्रथा, कला, व्यवसाय आदि का विशद विवरण है। इन दोनो महाकाव्यो को पढकर प्राचीन भारत के गौरव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ससार मे और कोई भी देश इतने महापुरुषो, योगियो, ज्ञानियो, ऋषियो मुनियो, तत्वद्रष्टाओ, आचार्यों, योद्धाओ, राजनीतिज्ञो, देशभक्तो और सत-महात्माओ की जन्म-भूमि नही रहा। भारत का जो परिचय मिलता है उससे विश्व की दृष्टि मे उसका महत्व शतगुणा बढ जाता है।

हमको चाहिए कि इस गहरे प्याले से जीवन और स्वास्थ्य की एक बड़ी घूंट पी डाले ।'

(हर्टल थ्री लेक्चर्स आन बुद्धिज्म, पृ० २१)

अपने अग्रजों, समवयस्क और अनुजों के प्रति कैसा व्यवहार किया जाए, राजा अपना शासन कैसे चलाये, मनुष्य संसार में कैसे जीवन सफल करे, यह सब आदर्श रामायण में सांगोपांग वर्णित है। दोनों ग्रन्थ भारतीय जीवन की आचार-संहिताएं हैं। आज हमारे जो पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय आदर्श हैं, सब रामायण और महाभारत का ही अनुकरण है। श्री राम, लक्ष्मण और भरत के जीवन से भ्रातृप्रेम और परस्पर सद्भाव की, विशेषतया भरत की उदारता से, कितनी बड़ी शिक्षा मिलती है। कौशल्या की महत्ता, सुमित्रा की विद्वत्ता तथा कैकेयी की राजनीति सराहनीय है। सुग्रीव मित्रता का और हनुमान जी सेवा, धर्म तथा कर्मयोग का अद्वितीय आदर्श उपस्थित करते हैं। सीता जी के जीवन में नारीत्व, पतिव्रत धर्म और माधुर्य का मधुर सामंजस्य है। श्री जवाहरलाल नेहरू रामायण के महत्त्व को मानते थे।*

महाभारत एक विशाल वृहद् महाकाव्य है जिसमें मानव के शौर्य और साहस की गाथाएं हैं। अपने इन्हीं तथा अन्यान्य अनेकों गुणों के कारण यह भारतीय साहित्य में बहुत उत्तम स्थान रखता है। इसे पंचम वेद भी कहते हैं। इसमें पृथक्-पृथक् तथा विविधता से भरे प्रसंग एक ही वार्ता के रूप में इस प्रकार सुन्दरता से ग्रथित हुए हैं कि इससे अधिक भव्य और सुयोजित कथानक की कल्पना करना सम्भव नहीं है। पुरुष तथा स्त्री पात्रों का चित्रण, सृष्टि-सौन्दर्य आदि के वर्णन में काव्य का सौन्दर्य पूर्ण निखार पर है। इसीलिए इसे महाकाव्य कहा गया है।

---

*This great epic of our race has moulded the thoughts and emotions of uncounted generations people in India during past ages From the peasant in the field, and the worker in the factory, to the highbrow and scholar, the story of Rama and Sita has been a living one A story and an epic, which has had the powerful influence on *millions of people during some millenia of our changing history,* must have peculiar virtue in it

—*Jawahar Lal Nehru*

Quotation taken from Sri D S Sharma's article in "Hinduism in Epic Age" in World Parliament of Religions. (P 555)

रामायण और महाभारत महाकाव्यो मे जीवन के आनन्द और मानव की गरिमा, व्यक्तिगत पूव प्रतिष्ठा के लिए तत्परता तथा साहसिकता के प्रति प्रेम पर बल दिया गया है। इसमे प्राचीन भारत की सस्कृति, रीति-प्रथा, कला, व्यवसाय आदि का विशद विवरण है। इन दोनो महाकाव्यो को पढकर प्राचीन भारत के गौरव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ससार मे और कोई भी देश इतने महापुरुषो, योगियो, ज्ञानियो, ऋषियो मुनियो, तत्वद्रष्टाओ, आचार्यों, योद्धाओ, राजनीतिज्ञो, देशभक्तो और सत-महात्माओ की जन्म-भूमि नही रहा। भारत का जो परिचय मिलता है उससे विश्व की दृष्टि मे उसका महत्व शतगुणा बढ जाता है।

उसको चाहिए कि इस गहरे प्याले से जीवन और स्वास्थ्य की एक बडी घूट पी डाले '

(हर्टेल थ्री लेक्चर्स आन बुद्धिज्म, पृ० ३१)

अपने अग्रजो, समवयस्क और अनुजो के प्रति कैसा व्यवहार किया जाए, राजा अपना शासन कैसे चलाये, मनुष्य ससार मे कैसे जीवन सफल करें, यह सब आदर्श रामायण मे सागोपाग वर्णित है। दोनो ग्रन्थ भारतीय जीवन की आचार-सहिताए हैं। आज हमारे जो पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय आदर्श है, सब रामायण और महाभारत का ही अनुकरण है। श्री राम, लक्ष्मण और भरत के जीवन से भ्रातृप्रेम और परस्पर सद्भाव की, विशेषतया भरत की उदारता से, कितनी बडी शिक्षा मिलती है। कौशल्या की महत्ता, सुमित्रा की विद्वत्ता तथा कैकेयी की राजनीति सराहनीय है। सुग्रीव मित्रता का और हनुमान जी सेवा, धम तथा कर्मयोग का अद्वितीय आदर्श उपस्थित करते हैं। सीता जी के जीवन मे नारीत्व, पतिव्रत धर्म और माधुर्य का मधुर सामजस्य है। श्री जवाहरलाल नेहरू रामायण के महत्त्व को मानते थे।*

महाभारत एक विशाल वृहद् महाकाव्य है जिसमे मानव के शौर्य और साहस की गाथाए हैं। अपने इन्ही तथा अन्यान्य अनेको गुणो के कारण यह भारतीय साहित्य मे बहुत उत्तम स्थान रखता है। इसे पचम वेद भी कहते हैं। इसमे पृथक् पृथक् तथा विविधता से भरे प्रसग एक ही वार्ता के रूप मे इस प्रकार सुन्दरता से ग्रथित हुए हैं कि इससे अधिक भव्य और सुयोजित कथानक की कल्पना करना सम्भव नही है। पुरुष तथा स्त्री पात्रो का चित्रण, सृष्टि-सौन्दर्य आदि के वर्णन मे काव्य का सौन्दय पूर्ण निखार पर है। इसीलिए इसे महाकाव्य कहा गया है।

---

*This great epic of our race has moulded the thoughts and emotions of uncounted generations people in India during past ages From the peasant in the field, and the worker in the factory, to the highbrow and scholar, the story of Rama and Sita has been a living one A story and an epic, which has had the powerful influence on millions of people during some millenia of our changing history, must have peculiar virtue in it

—*Jawahar Lal Nehru*

Quotation taken from Sri D S Sharma's article in "Hinduism in Epic Age" in World Parliament of Religions, (P 555)

रामायण और महाभारत महाकाव्यो मे जीवन के ग्रानन्द और मानव की गरिमा, व्यक्तिगत पूर्व प्रतिष्ठा के लिए तत्परता तथा साहसिकता के प्रति प्रेम पर बल दिया गया है। इसमे प्राचीन भारत की सस्कृति, रीति-प्रथा, कला, व्यवसाय आदि का विशद विवरण है। इन दोनो महाकाव्यो को पढ़कर प्राचीन भारत के गौरव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ससार मे और कोई भी देश इतने महापुरुषो, योगियो, ज्ञानियो, ऋषियो मुनियो, तत्वद्रष्टाओ, आचार्यो, योद्धाओ, राजनीतिज्ञो, देशभक्तो और सत-महात्माओं की जन्म-भूमि नही रहा। भारत का जो परिचय मिलता है उससे विश्व की दृष्टि मे उसका महत्व शतगुणा बढ जाता है।

इस संस्कृति मे चतुर्विध पुरुषार्थ की व्यवस्था है। धर्म प्रधान साधन है, और 'मोक्ष' प्रधान साध्य। इनके बीच मे 'अर्थ' जीवन का आवश्यक व्यवहार ऐसा रहे कि धर्म के विरुद्ध न हो और काम अथवा 'विषय-भोग' ऐसा हो कि वह मोक्ष के विरुद्ध न हो और उस की प्राप्ति मे विघ्न न डाले। इस प्रकार का जीवनयापन किस भाँति किया जा सकता है इसका विधि-विधान स्मृतिया बतलाती हैं।

चतुर्वर्ण की उत्पत्ति—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र विराट् स्वरूप के क्रमश मुख, बाहु, जाघ और चरणो से उत्पन्न हुए। दूसरे शब्दो मे समाज का मस्तिष्क ब्राह्मण है, जिनको बौद्धिक काय के लिए उपयुक्त माना गया। यह सब सत्त्वगुण प्रधान, विचारवान, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक, पुरोहित और मन्त्री होते थे। क्षत्रिय समाज का शारीरिक बल है, क्योकि इनमे रजोगुण की प्रधानता थी अतएव यह सब कर्मठ, राज्याधिकारी, शूरवीर सैनिक तथा लोक नेता रहे। देश पर आक्रमण करने वाले शत्रुओ से इनको ही टक्कर लेनी पडती थी। देश-रक्षा का पूर्ण भर इनके कन्धो पर होता था शेष सभी वर्ण देश की उन्नति के लिए अपना कार्य निश्चित होकर इनकी सुरक्षा मे करते थे। जनता के पालन-पोषण का तथा देश की आर्थिक उन्नति का भार रज, तम, मिश्रित गुण वाले वैश्यो पर रहता था। ये देश की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कृषि, पशुपालन व्यापार द्वारा वित्त-सम्पादन करते थे। ये धातुओ के गुणो के मर्मज्ञ तथा रत्नो के परीक्षक होते थे।

उपर्युक्त तीनो को सेवार्थ जन-बल प्रदान करने वाले तम-गुण प्रधान शूद्र कहलाते थे। सारा समाज इन की सेवा का आधार लेकर खडा रह सकता है इस कारण इनको चरणो से उत्पन्न मानते हैं। ये समाज की नीव ही माने जाते थे।

इस प्रकार मस्तिष्क बल, शारीरिक-बल और धन-बल तीनों को पृथक्-पृथक् रख कर किसी एक मे केंद्रित न किया जाय, एक ही बल विकृत होकर सभी प्रकार के उपद्रवो का मूल बन जाता है। जहाँ सभी एकत्रित हो जायें तो वहाँ दुरुपयोग होगा ही जैसे कि इसरायल मे पोप और इसलाम मे खलीफा मे राजसत्ता में धर्म सत्ता जोड देने से समस्याए शताब्दियों तक रही।

पारस्परिक समानता—यह सभी वर्ण परस्पर सहयोगी और उपयोगी है। कार्य कोई भी छोटा नहीं होता—तभी तो एक कार्यकर्ता लघु, दूसरा महान् का प्रश्न ही नही उठता। उधर गीता ने कहा—

"**शुनि चैव श्वपाके च**" अर्थात् कुत्ते और चडाल मे भी मेरे ही दर्शन करो।"
समदर्शिता की कितनी ऊची उडान है। समाज के सुख दुख मे सभीवग

परस्पर भागीदार हैं। उनके उत्थान और पतन का उत्तरदायित्व सभी पर जाता है। कोई वरिष्ठ नही, कनिष्ठ नही।

श्री चिदम्बर कुलकर्णी के शब्दो मे—"यह इसी वर्ण व्यवस्था का प्रताप है जो आज तक भारतीय जाति जीवित है।" इसी तथ्य की पुष्टि उन्होंने अपनी पुस्तक Ancient Indian History & Culture के पृष्ठ ९२ पर सिडनीलो का उद्धरण देते हुए की है*।

कोलम्बया के डा० अलफान्सो तो इस के गुण गाते थकते नही है।**

आश्रम धर्म—वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक सगठन था। आश्रम-व्यवस्था द्वारा बाद मे स्मृति ने वे आदर्श स्थापित किये, जिन मे व्यक्तिगत जीवन का क्रमिक विकास निहित है। चारो आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, आध्यात्मिक उत्कर्ष के सोपान हैं। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकता है, क्योकि सामाजिक सगठन और व्यक्तिगत सगठन अन्योन्याश्रित है। प्राचीन भारतीय व्यक्ति समाज के सगठन का सुदृढ आधार था।

उन दिनो चारो आश्रमो को क्रम से पार करने की प्रथा थी। प्रकृति के नियमानुसार विकास की गति क्रमिक है, एकबारगी नही। इस क्रम से शनै शनै प्रौढता आती है। अपरिपक्वावस्था मे एक को छोडकर दूसरा आश्रम ग्रहण करना

---

*There is no doubt that the caste system is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian Society has been braced up for centuries against the shocks of politics and the cateclysisms of nature It provided every *man* with his place, his career, his occupation, his circle of friends It makes him member of a corporate body The caste system is to the Hindu, his club his trade union and his philanthropic society

—Sidney Low 'Vision of India'

**The Hindu caste system is a clear cut division, in which each person knows his place and duty It removed confusion and made for harmony One accepted one's *station* and vocation, and cheerfully went on, with one s life And one of the advantages of this system was that knowledge could be passed on direct from father to son, and whether it was a science or craft and Yoga Shastra or Kama Shastra, what the ancient sages knew was preserved and preserved well

—Dr Alfanso of Columbia "India of Yogis"

अध्याय ६

स्मृति तथा पुराण

श्रुति और स्मृति धर्म के शाश्वत प्रमाण हैं। श्रुति द्वारा अनुभूतियो को स्मरण मे रखना 'स्मृति' है। श्रुति अपौरुषेय वाणी है जबकि स्मृति श्रुति का आश्रय लेकर चलती है। प्रत्यक्ष अनुभूति को श्रुति करते हैं। इन अनुभूतिया की पुनरावृत्ति स्मृतियो का रूप लेती है। श्रुतियो के अनन्त स्मृतियो की महत्ता है। स्मृतिया श्रुतियो की अनुगामिनी हैं। श्रुतियो के वाद उनकी प्रामाणिकता है। वैदिक कर्मकाड का स्पष्टीकरण ही स्मृतियो का ध्येय है। स्मृतिया धर्मशास्त्र मानी जाती ह। इनके निर्देश से वैदिक समाज का पारिवारिक और राष्ट्रीय जीवन शासित होता है। साधारणतया देखा जाये तो वेदो के वाद स्मृतिया ही हैं जो वैदिक धर्म का सागोपाग विवेचन प्रस्तुत करती हैं। मनुष्य अपना निखिल जीवन किस तरह विताए, इसका समाधान इनमे वर्णित है। वर्णाश्रम धर्म तथा अन्यान्य क्रिया-कलाप, विधि-निषेध आदि स्मृतियो मे ही प्रतिपादित है। चित्तशुद्धि के उपाय तद्द्वारा चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति स्मृतियो के विशिष्ट विषय है।

देश, काल और सामयिक परिस्थितियो के अनुसार स्मृतिया वदलती रहती हैं। अत ऋषि-मुनियो ने भी तदनुकूल नयी-नयी स्मृतियो का प्रणयन किया। उन्होंने समयानुसार सामाजिक नियमो मे कुछ सशोधन-परिवतन करके उन्हे तत्कालीन समाज के अनुरूप वना दिया। वे इतना ध्यान मे अवश्य रखते थे कि वेद की मर्यादा का उल्लघन न हो। इन विधि-प्रेणताओ मे मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर के नाम अग्रगण्य हैं। ये तीनो महर्षि भारतीय समाज के प्रवर्तक और नियामक माने जाते ह। इनके नाम पर ही स्मृतियो का भी नाम है। मनुस्मृति या मानव-धमशास्त्र, याज्ञवल्क्य स्मृति और पराशर स्मृति।

मनुस्मृति सबसे वडा नीतिशास्त्र है। अन्य सहिताकारो ने अधिकतर उन्ही के सिद्धान्तो का समथन किया है।

मनु, याज्ञवल्क्य, शखलिखित और पराशर की स्मृतिया क्रमश सत्य, त्रेता,

द्वापर और कलियुग के अनुरूप कही जाती हैं। सब स्मृतियों का ध्येय मोक्ष है।

विशेषतया मनुस्मृति मे सृष्टिक्रम की सुन्दर व्याख्या है और उस क्रम की आधारशिला जिस दिव्य नियम पर आधारित है उसको कार्यान्वित करने को वर्णाश्रम के सामान्य तथा विशेष धर्मो का विशद विवरण है। क्योकि तदनुरूप नियम ही भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति द्वारा सामाजिक सस्थाओ मे सुन्दर गठन ला सकता है कारण कि निज शक्ति तथा क्षमता के अनुसार व्यक्ति के क्रमिक विकास द्वारा ही आध्यात्मिक विश्वव्यापकता सम्भव है। इन धर्मो मे इन्द्रिय सयम मन वचन-कम मे समानता अपरिग्रह, अक्रोध, सहिष्णुता तथा मनोजय आदि गुणो का समावेश है।

वर्ण-धर्म

मानव समाज को वर्ण-धर्म की आवश्यकता —मानव समाज मे मनुष्य को अपनी परिस्थितियो के साथ समझौता करना पडता है। अपने अपने विकास के अनुसार उस जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे रहकर अपने धर्म का पालन करना होता है। भारत की स्मृतियो ने गुण और स्वभाव के अनुसार ही विकास के आधार पर मनुष्य के विभिन्न धम निर्धारित किये हैं, मानव जाति एक ही सूत्र में पिरोई हुई है, अत एक का सुख दूसरे पर निभर रहता है। त्रिगुणात्मक जगत् मे प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति अपने में विशेष एव परस्पर भिन्न हैं। समाज को प्रत्येक व्यक्ति के गुण के उपयोग की आवश्यकता है। कोई भी दो व्यक्ति एक ही जैसे विचारो के हो नही सकते। पश्चिमी देशो मे प्लेटो के समय से ही समाज का विभाजन इस प्रकार चला जा रहा है। दाशनिक तथा ज्ञानी पुरुप, वीर, रक्षक, व्यापार मे रुचि रखने वाले वणिक् और श्रमिक, इससे मनुष्यो के गुणो और उनकी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार सामाजिक जीवन की सुन्दर व्यवस्था रहती है। निज स्वभाव से नियत किए हुए स्वधर्मानुसार कम को करता हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। यह सामाजिक विभाजन का उद्देश्य परस्पर प्रेम सम्वन्ध स्थिर रखना है। चारो ओर सुख शान्ति फैले इस उद्देश्य से इस यज्ञ मे हर मनुष्य को अपनी ओर से स्वय को ठीक समझते हुए अपने व्यक्तित्व को विकसित करते हुए अपनी सेवा की आहुति अर्पित करनी है। गीता मे भगवान कृष्ण ने कहा है कि प्रकृति के गुण और स्वभाव के अनुसार ही विकास के आधार पर वण व्यवस्था की गयी।

भारतीय वर्ण-व्यवस्था का लक्ष्य —आदि-मानव सस्कृति अथवा आय सस्कृति का केन्द्र व्यक्ति का दिव्यत्व ही है—ईश्वर ही परम प्राप्तव्य है। ईश्वरोदित शास्त्र आचार, विचार के ग्रथ है, उनमे उद्घोषित धम ही परम विधेय कर्तव्य है।

इस सस्कृति मे चतुर्विध पुरुषार्थ की व्यवस्था है। धर्म प्रधान साधन है, और 'मोक्ष' प्रधान साध्य। इनके बीच मे 'अर्थ' जीवन का आवश्यक व्यवहार ऐसा रहे कि धर्म के विरुद्ध न हो और काम अथवा 'विषय-भोग' ऐसा हो कि वह मोक्ष के विरुद्ध न हो और उस की प्राप्ति मे विघ्न न डाले। इस प्रकार का जीवनयापन किस भाँति किया जा सकता है इसका विधि-विधान स्मृतिया बतलाती हैं।

चतुर्वर्ण की उत्पत्ति—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र विराट् स्वरूप के क्रमश मुख, बाहु, जाघ और चरणो से उत्पन्न हुए। दूसरे शब्दो मे समाज का मस्तिष्क ब्राह्मण है, जिनको बौद्धिक कार्य के लिए उपयुक्त माना गया। यह सब सत्त्वगुण प्रधान, विचारवान, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक, पुरोहित और मन्त्री होते थे। क्षत्रिय समाज का शारीरिक बल है, क्योंकि इनमे रजोगुण की प्रधानता थी अतएव यह सब कर्मठ, राज्याधिकारी, शूरवीर सैनिक तथा लोक नेता रहे। देश पर आक्रमण करने वाले शत्रुओ से इनको ही टक्कर लेनी पडती थी। देश-रक्षा का पूर्ण भर इनके कन्धो पर होता था शेष सभी वर्ण देश की उन्नति के लिए अपना कार्य निश्चित होकर इनकी सुरक्षा मे करते थे। जनता के पालन-पोषण का तथा देश की आर्थिक उन्नति का भार रज, तम, मिश्रित गुण वाले वैश्यो पर रहता था। ये देश की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कृषि, पशुपालन व्यापार द्वारा वित्त-सम्पादन करते थे। ये धातुओ के गुणो के मर्मज्ञ तथा रत्नो के परीक्षक होते थे।

उपर्युक्त तीनो को सेवार्थ जन-बल प्रदान करने वाले तम-गुण प्रधान शूद्र कहलाते थे। सारा समाज इन की सेवा का आधार लेकर खडा रह सकता है इस कारण इनको चरणो से उत्पन्न मानते हैं। ये समाज की नीव ही माने जाते थे।

इस प्रकार मस्तिष्क बल, शारीरिक बल और धन-बल तीनों को पृथक्-पृथक् रख कर किसी एक मे केंद्रित न किया जाय, एक ही बल विकृत होकर सभी प्रकार के उपद्रवो का मूल बन जाता है। जहाँ सभी एकत्रित हो जायें तो वहाँ दुरुपयोग होगा ही जैसे कि इसरायल मे पोप और इसलाम मे खलीफा मे राजसत्ता मे धर्म सत्ता जोड देने से समस्याए शताब्दियो तक रही।

पारस्परिक समानता—यह सभी वर्ण परस्पर सहयोगी और उपयोगी हैं। कार्य कोई भी छोटा नही होता—तभी तो एक कार्यकर्ता लघु, दूसरा महान् का प्रश्न ही नही उठता। उधर गीता ने कहा—

"शुनि चैव श्वपाके च" अर्थात् कुत्ते और चडाल मे भी मेरे ही दर्शन करो।" समदर्शिता की कितनी ऊची उडान है। समाज के सुख दुःख मे सभीवर्ग

परस्पर भागीदार हैं। उसके उत्थान और पतन का उत्तरदायित्व सभी पर जाता है। कोई वरिष्ठ नही, कनिष्ठ नही।

श्री चिदम्बर कुलकर्णी के शब्दो मे—"यह इसी वर्ण व्यवस्था का प्रताप है जो आज तक भारतीय जाति जीवित है।" इसी तथ्य की पुष्टि उन्होंने अपनी पुस्तक Ancient Indian History & Culture के पृष्ठ ६२ पर सिडनीलो का उद्धरण देते हुए की है*।

कोलम्बिया के डा० अलफान्सो तो इस के गुण गाते थकते नहीं है।**

आश्रम धर्म—वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक सगठन था। आश्रम-व्यवस्था द्वारा बाद मे स्मृति ने वे आदर्श स्थापित किये, जिन मे व्यक्तिगत जीवन का क्रमिक विकास निहित है। चारो आश्रम ब्रह्मचय, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, आध्यात्मिक उत्कष के सोपान हैं। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकता है, क्योंकि सामाजिक सगठन और व्यक्तिगत सगठन अन्योन्याश्रित है। प्राचीन भारतीय व्यक्ति समाज के सगठन का सुदृढ आधार था।

उन दिनो चारो आश्रमो को क्रम से पार करने की प्रथा थी। प्रकृति के नियमानुसार विकास की गति क्रमिक है, एकबारगी नही। इस क्रम से शनै शनै प्रौढता आती है। अपरिपक्वावस्था मे एक को छोडकर दूसरा आश्रम ग्रहण करना

---

*There is no doubt that the caste-system is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian Society has been braced up for centuries against the shocks of politics and the cateclysisms of nature It provided every man with his place, his career, his occupation, his circle of friends It makes him member of a corporate body The caste system is to the Hindu, his club, his trade union and his philanthropic society

—Sidney Low 'Vision of India'

**The Hindu caste system is a clear cut division, in which each person knows his place and duty It removed confusion and made for harmony One accepted one's station and vocation, and cheerfully went on, with one's life And one of the advantages of this system was that knowledge could be passed on direct from father to son and whether it was a science or craft and Yoga Shastra or Kama Shastra, what the ancient sages knew was preserved and preserved well

—Dr Alfanso of Columbia "India of Yogis"

सर्वथा अनुचित है। इस नियम मे कुछ अपवाद भी है। जैसे शुकदेव जन्मजात सन्यासी थे। आदि गुरु शकराचार्य जी ने गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने से पूर्व ही सन्यास ले लिया था।

ब्रह्मचर्याश्रम मे जीवन यात्रा की नीव दृढ करके गृहस्थाश्रम मे धर्म, अर्थ और काम तीनो पुरुषार्थों को प्राप्त करके चौथे सन्यासाश्रम मे मोक्ष तक का मार्ग तय हो जाता है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम प्रवृत्ति मार्ग और वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम निवृत्ति मार्ग के नाम से अभिहित हैं। पहले दोनो में कर्मशील जीवन तथा दूसरे दोनो मे सव-कर्म-परित्याग को महत्ता देनी पडती है, क्योकि आर्य सस्कृति का साध्य नि स्वार्थता है? विषय भोग नही। ससार के दु खमिश्रित भोगो मे आसक्ति न रखकर जीवन को त्यागमय बनाना महत्व की बात है। सम्राट राज्य का त्याग कर वन चले जाते थे। जबसे भारत त्याग की महिमा को भुलाकर पाश्चात्यो के अनुकरण से "धम छोड केवल अर्थ काम" को अपनाने लगा है, तभी से अर्थ और अधिकार के उन्माद मे भारतीय नैतिक जीवन पतित हो चला। हमारे आश्रम धम मे तो प्रारम्भ मे ही त्याग की शिक्षा दी जाती थी।

ब्रह्मचर्याश्रम मे धनी, निर्धन अथवा राजगृह का बालक या सामान्य जन का बालक सब के लिए एक ही प्रकार की व्यवस्था थी। भगवान् कृष्ण और सुदामा गुरु सदीपन के पास साथ-साथ विद्या ग्रहण करते थे। वहाँ नियमत ही समस्त विलास-सामग्रियो का एन्द्रिय सुख-भोगो का त्याग और मन तथा इन्द्रियो का सयम रखना पडता था।

गुरुकुल मे प्रवेश, उपनयन अर्थात् यज्ञोपवीत सस्कार के साथ ही प्रारम्भ होता था और १२ वर्ष तक वेदो के अध्ययन की समाप्ति पर दीक्षान्त भाषण देकर गुरु उसे घर भेजते थे। वह उपदेश कुछ इस प्रकार से रहता था "सत्य वद"। **'धर्म चर' 'मातृ देवो भव" "पितृ देवो भव"। "आचार्य देवो भव" "अतिथि देवो भव"।**

'तुम सत्य बोलो' अर्थात् 'धर्म का आचरण करो'। 'अपनी माता को परमात्मा का स्वरूप मानो'। 'अपने पिता को परमात्मा का स्वरूप मानो'। गुरु को देव स्वरुप मानो, अतिथि को देव स्वरूप मानो।'

वर्तमान काल की बदली हुई परिस्थितियो मे प्राचीन शिक्षा प्रणाली को पूर्ण-रूप से अपनाना भले ही सभव न हो, नैतिक और चारित्रिक गठन सम्बन्धी सद् शिक्षाओ को आधुनिक शिक्षा-प्रणाली मे किसी न किसी रूप मे स्थान देना ही चाहिए इसी से देश का भविष्य उज्ज्वल होगा।

गृहस्थ—दूसरी अवस्था गृहस्थाश्रम है। अध्ययनादि समाप्त कर लेने तथा गृहस्थ के बोझ उठाने के लिए सक्षम हो जाने पर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते थे। विवाह एक पवित्र काय माना गया। पत्नी पति की सहधर्मिणी अर्धांगिनी मानी गई। पति कोई भी धार्मिक काम उसके सहयोग के विना नही कर सकता। यहाँ उसे भोगो मे रहकर त्यागी वनना पडता है। धनोपाजन अपने लिए नही, परिवार, समाज विश्व के और भगवान् के लिए करता है। पुत्रोत्पादन करके पितृऋण उतारता है। वह सयमी और जितेन्द्रिय होता है। सारे समाज का सेवक होता है तभी तो गृहस्थाश्रम सव आश्रमो से श्रेष्ठ माना जाता है। राजा जनकादि ने इस आश्रम की शोभा वनाए रखी थी।

वानप्रस्थ—गृहस्थ के वाद की पचास से ७५ वष की अवस्था (उस समय मनुष्य की औसत आयु सौ वर्ष मानी जाती थी) वानप्रस्थ है। जैसे गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने के लिए ब्रह्मचय की अवस्था एक तरह का पूर्वाभ्यास है, वैसे ही सन्यास जीवन मे प्रवेश के निमित्त वानप्रस्थ की अवस्था भी पूर्वाभ्यास है। गृहस्थोचित सभी कार्यों से मुक्त होकर वह वन के लिए प्रस्थान करे या शहर के वाहर एकान्त मे रहे इसके लिए स्वतन्त्रता थी। पत्नी चाहे तो साथ रह सकती थी।

सन्यासी—वानप्रस्थ के उपरान्त सयासाश्रम है—एक सन्यासी के लिए न कोई अधिकार है, न स्वत्व, न कोई अपना, न पराया, न कोई जाति, न उपाधि। उसमे सम-दृष्टि और सतुलित मन है। वह सवथा जीवन्मुक्त है तभी तो निष्काम होकर लोक-हिताथ जव वह किसी धर्म कार्य करने का निश्चय कर लेता है तो सिद्धि उसके पीछे पीछे भागती है। शकराचाय जी ने तीस साल की अल्पायु मे वेदों और गीता पर भाष्य की रचना का समय भी निकाल लिया और उन यातायात की कठिनाइयो मे भारत भर मे केरल से कश्मीर तक भ्रमण करके चारो धामों की नीव भी रख देने मे समथ हो सके।

"पुराणात पुराण इति" वेद के अथ को पूर्ण करने से पुराण नाम पडा। वेदाथ की पूर्ति पुराणो मे सिद्ध है। द्वापर के अन्त मे श्री व्यासदेव जी ने देखा कि अनादि वेदाथ वहुत विस्तृत और अव्यवस्थित हो गया था। उन्होने उस सम्पूर्ण ज्ञान का सकलन किया और महाभारत तथा अठारह पुराणों के रूप मे लिखा। पुराणो में अनेक स्थल ज्यो के त्यो वेदो के द्रष्टाओ के अनुसार रख लिये गये। इस प्रकार पुराणा की रचना महर्षि वेदव्यास जी ने की है। परन्तु उनका समस्त वणन, पूरे उपदेश तथा घटनाए अनादि हैं। इस प्रकार पुराणों की वाणी तो व्यास-कृत है, किंतु उनमे वर्णित विषय तथा पूर्व ज्ञानादि-पूर्व ऐतिहासिक काल का है।

वेदो मे समस्त ज्ञान सूत्र रूप से है श्रवण-पद्धति मे ऐसा रूप ही सहायक हो सकता था। पुराणो ने उसी ज्ञान को स्पष्ट एव विस्तृत किया है। अत भारतीय ज्ञान, भारतीय दर्शन, भारतीय कला, भारतीय समाज-व्यवस्था सबके आधार पुराण हैं। आधुनिक विद्वानो को भी इनके लिये पुराणो की ही शरण लेनी पडी।

पुराण १८ हैं जिनके नाम यह हैं—

ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, मत्स्य, विष्णु, भागवत, गरुड, पद्म, नारदीय, वाराह, ब्रह्म, कूर्म, लिग, शिव, स्कद और अग्नि। इनके अतिरिक्त अठारह ही उपपुराण है।

वैष्णवो मे अधिक प्रचलित श्रीमद्भागवत है। अमरकोष तथा पुराणो मे इनके पांच लक्षण बताये गये हैं—

१ सर्ग अर्थात् सृष्टि-रचना

२ प्रतिसर्ग अर्थात् लय और पुन सृष्टि

३ वश अर्थात् देवताओ की वशावलि

४ मन्वन्तर अर्थात् मनु के काल का विभाग

५ वशानुचरित अर्थात् राजाओ की वशावली

यह तो विषय प्राय सब मे हैं ही, इनके अतिरिक्त ऋषि-मुनियो के जीवन चरित्र, सारे तीर्थों का वर्णन, जीवन को सुखमय बनाने के साधनो का पूर्ण परिचय, भगवान् के नाना स्वरूपो तथा अवतारो की कथाए, जीवन को उत्कृष्ट तथा सफल बनाने के लिये आवश्यक ज्ञान का विशाल भडार, विष्णु, शिव, देवी की भक्ति के सुन्दर विवेचन, उनकी मूर्तियो के निर्माण और प्राण-प्रतिष्ठा तथा पूजन-विधि-विधानादि सब पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। लौकिक विषयो की भी उपेक्षा नही की गयी। भूगोल, इतिहास, ज्योतिष शास्त्र, राजनीति, व्याकरण, रत्न विज्ञान तथा आयुर्वेद की रोचक तथा सुन्दर शिक्षाओ का भी समावेश इनमे किया गया है।

यह विषय प्राय सभी मे सामान्य रूप से पाये जाते है। इनके अतिरिक्त जिस देवता विशेष के नाम पर जिस पुराण की रचना हुई उसमे उसी देवता की महिमा तथा चरित्र-चित्रण विशेष रूप से दिया है।

यद्यपि ये पुराण एक ही व्यक्ति द्वारा अर्थात् श्री वेदव्यास जी द्वारा लिखे गये हैं फिर भी एक पुराण मे उस देवता विशेष की सर्वश्रेष्ठता बतलाने के लिये उसे अन्य देवताओ से श्रेष्ठतम बतलाया गया है। कभी कभी इस पर आपत्ति भी उठाई जाती है कि पुराणो मे परस्पर विरोध पाया जाता है, किन्तु इस आपत्ति मे कोई आधार नहीं। भारतीय सदा से एक ही सत्ता को विभिन्न रूपो मे पूजते आये हैं। अत यदि इनमे कही-कही किसी देवता की विशेष प्रमुखता बतायी है तो वह

मूलत परम सत्ता की ही विशेषता थी उसका उल्लेख भक्तो मे श्रद्धा को दृढ करने के लिये किया गया है। उस देवता को ही सवस्व मानने से भक्त जन उसमे अनन्य भाव रखने मे समर्थ हो सकते हैं।

पुराणो मे कुछ धारणाओ का ऐसा वर्णन किया गया है जो आज के बौद्धिक मानव को सहज स्वीकार नही हो सकता। यदि हम उन वर्णनो मे थोडा गहराई में जाय और पुराणो की रचना के उद्देश्य की पृष्ठभूमि को समझकर उन पर विचार करें तो हमे उनमे कोई भी अत्युक्ति या अनैसर्गिकता नही मिलेगी। जब मनुष्य की बुद्धि इतर तीनो युगो के मनुष्य की बुद्धि के समान सक्षम न रही और त्रिकालदर्शी व्यासजी ने देखा कि आजकल का मानव वेद और उपनिषदो के अणु से भी अधिक सूक्ष्म विषयो को ग्रहण करने मे समथ नहीं है तो उन्होने मानव मात्र कल्याण की भावना से प्रेरित होकर वेदो और उपनिषदो के गम्भीर तत्त्वो को प्रतीकात्मक रूप मे समझाने के लिये ही पुराणो की रचना की जिनसे प्रेरणा लेकर वे विदेशी आक्रमणो तथा अत्याचारो से पीडित होने पर स्वधर्म की रक्षा कर पाने मे समथ हो सके।

अवतार—भारत भूमि सदा से ही धर्मभूमि रही है। वैदिक, शास्त्रीय, वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिकता पर आधारित अवतारवाद की परम्परा युग-युग से ईश्वर के प्रति श्रद्धा, विश्वास तथा प्रेम भरती रही है।

अवतार का अर्थ—अवतार का अथ है—'अवतरित होना'—'उतरना'—सर्व व्यापक परमात्मा का किसी भी शक्ति के रूप मे अवतीण होना। प्रश्न उठता है कि अवतार लेने की आवश्यकता ही क्या है ? क्योकि परमात्मा सकल्प मात्र से जो करना चाहे कर सकते है। ठीक है, पर अग्नि जैसे सवव्यापी होते हुए भी तब तक किसी चीज को भस्म नही कर सकती, जब तक उसे काष्ठ मे से प्रगट नही कर लिया जाता। ठीक उसी प्रकार जब सृष्टिकर्ता को समय समय पर अपने इस बगीचे को सभालना, सुधारना तथा सवारना पडता है तब वे विशेष प्राणियो के रूप मे अवतार लिया करते हैं।

भगवान् के अवतारो की सख्या चौबीस बतलायी गयी है जिनमे दस मुख्य हैं —

मत्स्य—सृष्टि के आरम्भ मे सत् युग मे ससार जब जलमय था, उस समय जल-जीव का अवतार ही विकास सिद्धान्त के अनुरूप हो सकता था। अत प्रथमावतार मत्स्यावतार है। प्रलय काल मे मनु को बचाकर भगवान् ने ससार को यह दिखा दिया कि जो उनका अभिन्न भक्त है, वह सदा सुरक्षित है।

कूर्म—जब जल से पृथ्वी निकली तब जल और स्थल दोनो में रहने वाले प्राणियो के दशन हुए। इस समय कच्छपावतार हुआ, क्योकि कच्छप जल और

पृथ्वी दोनो मे रह सकता है। यहा मन्दराचल पर्वत को अपनी पीठ पर धारण करके प्रभु यह स्पष्ट वतलाते हैं कि सदा सहायता करने वाले भगवान् भक्तो के काय स्वय सिद्ध करते है।

वराह—जव पृथ्वी के अविकाश भाग का दर्शन होने लगा भगवान् का वराह अवतार हुआ क्योकि वराह जल और स्थल दोनो का प्रेमी है। यहा यह दर्शाया है कि स्मरण किये जाने पर भगवान् तुरन्त सहायक होते हैं।

नृसिह—पशुता का ह्रास तथा मानवता का विकास शुरू हुआ। तव मानव और पशु के समन्वित रूप मे नृसिहावतार हुआ। यहाँ भक्त प्रह्लाद की पुकार पर खम्भ मे से प्रगट हो कर यह शिक्षा दी कि भगवान् को कही पर जाना नही पडता, वह सर्वव्यापक हैं, कण-कण मे व्यापक है। जहा चाहो, दर्शन हो सकते है। दुष्टो का नाश और भक्तो की रक्षा करते आये हैं। इस अवतार मे भक्त के अटल विश्वास की महिमा दिखायी है।

वामन—त्रेता युग मे जव मानवता आगे वढी, किन्तु पूर्ण विकसित नही हुई तव लघु देहधारी वामन भगवान् का अवतार हुआ। जव भौतिकवाद की पराकाष्ठा होनी है तव अध्यात्मवाद का उदय होता है। असुर राजा वलि के सारे वैभव को आध्यात्मिक मापदण्ड से नापने के लिये वामनावतार हुआ। 'मैं' और 'मेरा' की भेंट चढाकर वलि ने आत्मसमर्पण की महिमा सिद्ध की।

परशुराम— इसके वाद परशुराम के रूप मे भगवान् ने पूरे मानव का शरीर धारण किया, किन्तु तत्कालीन लोकपीडको के दमन के लिये परशु का प्रयोग भी खूव हुआ। भाव है कि जो शक्ति के मद मे अधे होकर पूज्य ऋपि-मुनियो का अपमान करते हैं, उनका विनाश अवश्यभावी है।

मर्यादा पुरपोत्तम श्री राम—मानव और मानवता का पूर्ण विकास श्रीरामावतार मे स्पष्ट दीख पडता है। भगवान् राम ने रावण की राक्षसी प्रवृत्तियो का अन्त किया। अयोध्या मे राम-राज्य के रूप मे धर्म और नीति की स्थापना की। साथ ही राजतिलक और वनवास मे समत्व भाव रखने का, पित्राज्ञा-पालन का, भ्रातृ-स्नेह का, प्रजारक्षण आदि मर्यादाओ की रक्षा के आदश स्थापित किये।

पूर्णावतार श्री कृष्ण—द्वापर के अन्त मे श्री राम जी द्वारा स्थापित धम नीति के आधार पर निर्मित मानव-मर्यादा जव तमोगुणी लोगो के द्वारा तिरस्कृत हुई, तव राजनीतिज्ञो के परम गुरु पोडश-कला सम्पूण भगवान् श्री कृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने मानव के समक्ष व्रज मे प्रेम-रस को वरसा कर, कंस के अत्याचारो का अन्त कर, सहपाठी दीन-हीन मित्र सुदामा से मैत्री निभाकर, राजनीति मे विशारद वन के, गीतोपदेश द्वारा अनासक्ति योग का महत्त्व वताया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों मे दक्षता प्रमाणित करके उन्होने ससार को चकित कर दिया।

बुद्ध—कलियुग के आरम्भ मे अहिंसा के द्वारा पूण शान्ति स्थापित करने के लिये बुद्धावतार हुआ।

कल्कि—यह अवतार कलियुग के अन्त मे आसुरी प्रवृत्तियों का नाश करने के लिये होगा। पुन नवीन सत्य युग की रचना के लिये इस युग की क्रूरताओ का सवनाश अवश्य ही होकर रहेगा।

इस प्रकार दशावतारो के क्रम मे सृष्टि की प्रक्रिया और विकासवाद के सिद्धान्त की अनुरूपता का सच्चा प्रभाव है।

उपर्युक्त कथन से सकेत लेते हुए विस्तार के लिये पुराणो का स्वाध्याय अपेक्षित है।

महत्व—कमकाण्ड और ज्ञान की महिमा का सुन्दर वणन वेदो की सहिताओ तथा ब्राह्मण ग्रथो एव उपनिपदो मे क्रमश किया गया है। पर त्रिकालदर्शी व्यासजी ने कलियुग के जीवो पर दया कर पुराणो मे भक्ति का रहस्य प्रकट किया। वे जानते थे कि आज जनता के लिए यज्ञ और ज्ञान शक्ति से वाहर की बात हो जायेगी। और हुआ भी ठीक वैसे ही। केवल इन पुराणो के आधार पर ही जनता अपनी दद भरी पुकार सीधे अपने रचयिता के पास उस सकट मे पहुचा पायी जव राष्ट्र और धर्म सकट मे पडे थे और इन पुराणो से ही प्रोत्साहन लेकर आज तक सस्कृति की रक्षा करने मे सक्षम रही और हम राष्ट्रीय स्वाधीनता लेने तक जीवित रह सके।

हिन्दुओ के धार्मिक तथा तदतिरिक्त साहित्य मे पुराणो का एक विशेष स्थान है। वेदो के वाद इन पुराणो की मान्यता है। इनका वाह्य रूप और अन्त स्वरूप प्राय रामायण, महाभारत और स्मृतियो के समान है। इन पुराणो को समष्टि रूप से प्राचीन एव मध्यकालीन परिस्थिति का उसकी धार्मिक, दाशनिक, ऐतिहासिक, वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक सस्कृति का लोकसम्मत विश्वकोश ही समझना चाहिये। आज भी जितना पुराणो का प्रचार है उतना और किसी धम ग्रथ का नही। भारतीयो मे आजकल अपने धम के प्रति और उसके द्वारा प्रतिपादित आचार-विचार, धार्मिक कृत्य आदि के प्रति जो आस्था पायी जाती है उसका भी श्रेय पुराणो को ही है।

अध्याय ७

षड्-दर्शन तथा वेदान्त की शाखाएँ

विचार स्वातन्त्र्य—प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार ही विचार कर सकता है। बच्चे की बुद्धि और विद्वान् की बुद्धि समान नही हो सकती। इसी प्रकार एक न्यायाधीश तथा एक वधिक के विचार अपराध के सबन्ध मे एक जैसे नही हो सकते। विचार का क्षेत्र एक बौद्धिक क्षेत्र है। वहाँ तो स्वतत्रता होनी ही चाहिये। विश्व मे भारत ही ऐसा देश है, जहाँ अति प्राचीन काल से विचार-स्वातन्त्र्य मनुष्य को प्राप्त था। इस देश मे विचारो पर कभी बन्धन नही लगा था। यहाँ विचारो के सम्बन्ध मे मानव कभी असहिष्णु नही बना। सामाजिक नियमो मे, जीवन के प्रत्येक काय मे धर्म का कठोर नियन्त्रण होने पर भी विचार-स्वातन्त्र्य के कारण भारत मे इतने दशन शास्त्र और मतमतान्तर विस्तृत हो सके। विश्व मे भारत अपने दशन शास्त्र के लिये अब भी श्रद्धा एव आदर का भाजन है। भारत विश्व-गुरु था और अब भी है। तप पूत ऋपियो के सूक्ष्म ज्ञान की विशाल सम्पत्ति के कारण।

षड्-दर्शन—हिन्दू धर्म साहित्य का बौद्धिक पक्ष दशन-साहित्य मे निदर्शित है। दार्शनिक वाङ्मय का अध्ययन और मनन विद्वानो के लिये ही सम्भव है। जिनमे मेधा, योग्यता प्रतिभा और तर्क शक्ति हो, दर्शन शास्त्र उनके ही समक्ष अपना स्वरुप प्रकट कर सकता है। पुराण, इतिहास और आगम जनसाधारण के लिये भी बोधगम्य एव उपयोगी है। दर्शन शास्त्र केवल विद्वानो की चीज है, पुराणादि विपय भावनापरक है, जबकि दर्शन शास्त्र बुद्धि-परक।

भारतीय दर्शन कुल छह है जिन्हे षड्-दर्शन कहा जाता है। सभी वैदिक सिद्धातो पर आधारित है। सबका ध्येय मोक्ष है, किन्तु उनकी चिन्तन परम्परा पृथक है।

दर्शन शास्त्र

अर्थ—'दर्शन' 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिनके द्वारा देखा जाये या वस्तु का तात्त्विक स्वरूप जाना जाये। पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के उद्देश्य से हमारे ऋपि जिन नित्य, सत्य सिद्धान्तो को अपने चिन्तन द्वारा खोज निकालने मे सफल

हुए उनको दशन का नाम दिया गया। इनमे मनुष्य मात्र के जीवन को स्थायी शाति और परम सुख प्राप्त कराने की शक्ति है। भारतीय दशन मानव मात्र को स्वार्थ पक से निकाल कर परमार्थ चितन की ओर उन्मुख करता है। वह भौतिक सुख को हेय समझकर आध्यात्मिक उन्नति पर बल देता है। भारतीय दर्शन के ये षट्शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं।

वैशेषिक

वैशेषिक और न्याय का जोडा है। हो सकता है कि वैशेषिक पहले लिखा गया हो। इसका निर्माण करने वाले महर्षि कणाद हैं। वैशेषिक का अर्थ है 'पदार्थो के भेदो का बोध'। इसका मुख्य विषय सात पदार्थों का निरूपण है। पदार्थ का अथ है 'नाम धारण करने वाली कोई भी वस्तु'। असख्य परमाणुओ से बने जगत् के सब पदाथ नित्य हैं जो इन सातो के अन्तगत आ जाते हैं।

१ द्रव्य २ गुण ३ कर्म ४ सामान्य
५ विशेष ६ समवाय और ७ अभाव

१ **द्रव्य**—वह वस्तु जो गुण और कर्म का आश्रय हो। कुल द्रव्य ७ हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, काल, दिक मन और आत्मा।

२ **गुण**—चौबीस हैं। यथा—रूप, रस, गन्ध, स्पश, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधम तथा सस्कार।

३ **कम**—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन ये पाँच कम हैं।

४ **सामान्य**—किसी वस्तु की जाति अथवा प्रकार, जैसे—वृक्ष मे वृक्षत्व मनुष्य मे मनुष्यत्व।

५ **विशेष**—विलक्षण प्रतीति 'द्रव्यो' मे भेद का निर्णायक।

६ **समवाय**—घनिष्ठ सम्बन्ध जो पृथक् न हो सके। जैसे गुण और गुणी का सम्बन्ध।

७ **अभाव**—इसके चार प्रकार हैं—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

सृष्टि की उत्पत्ति—परमाणुओ से होती है। प्रत्येक परमाणु वैसे तो निश्चल हैं, परन्तु व्यक्ति के पुण्य, पाप के फलस्वरूप इनमे हलचल उठती है। तभी वे सृष्टि के कारण बन जाते हैं।

ईश्वर की सत्ता तो इसे स्वीकार है, परन्तु उसे ससार का उपादान कारण नही माना, वह केवल निमित्त कारण है। वह कुम्हार की तरह जैसी मिट्टी

मिले वैसा वर्तन बना देता है। कच्चा माल जिसे वह रूप देता है हमारे कर्मों का फल रहता है।

यह दर्शन यथार्थवादी विचारधारा को मानकर चलता है। इसके अनुसार मुक्ति केवल दु खो से छुटकारा पाने की अवस्था है।

न्याय

यह शास्त्र किसी भी तथ्य को स्वीकार करने से पहिले उसे तर्क की कसौटी पर कस लेता है। अत वैदिक धर्म का यथार्थ स्वरूप जानने के लिये इस शास्त्र का ज्ञान अत्यावश्यक हो जाता है। तभी वैदिक सिद्धान्तो की विरोधियो से रक्षा करने मे इस शास्त्र का बहुत हाथ रहा।

अर्थ—न्याय का अर्थ है—'प्रमाणो के आधार पर किसी चीज के तत्त्व की परीक्षा करना।

इसके निर्माता ऋषि गौतम थे।

लक्ष्य—अन्तिम लक्ष्य इसका भी मुक्ति ही है जो प्रमाण आदि सोलह पदार्थो के जान लेने से होती है।

वैशेषिक की तरह इसमे भी मुक्ति केवल दु ख के नाश तक सीमित है।

ईश्वर—इसमे भी ईश्वर को निमित्त कारण माना जाता है। कार्यों की उत्पत्ति से उनके परम कारण ईश्वर की सत्ता का अनुमान किया जाता है। अत इसका रचयिता होना ही चाहिये। इस तरह अनुमान से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार प्रमाण के अन्य तीन प्रकारो की 'प्रत्यक्ष' 'उपमान' और 'शब्द' से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा—नित्य और सत्य है। यह इच्छा, द्वेष, सुख, दु ख, ज्ञान और प्रयत्न, इन छह लक्षणो वाला है। ज्ञान आत्मा का गुण है। आत्मा का सुख-दु ख आदि अनुभव मन के सयोग से होता है और इनसे वियोग का नाम मोक्ष है।

जगत्—इसकी उत्पत्ति अणुओ से होती है। इसका निमित्त स्रष्टा ईश्वर है।

न्याय और वैशेषिक के स्वाध्याय से बुद्धि तीक्ष्ण होती है।

साख्य

बीज रूप मे इस दर्शन का उल्लेख उपनिषदो मे हुआ किन्तु इसके प्रथम आचार्य कपिल मुनि हैं।

साख्य और योग का जोडा है। पहले मे सिद्धान्त और दूसरे मे प्रयोग होता है।

मुख्य तत्त्व—प्रकृति और पुरुष, दो मुख्य तत्त्वों को मानकर चलता है, ईश्वर की सत्ता को यह दर्शन नही मानता।

पुरुष—प्रकृति के सयोग से पुरुष को जीवात्मा कहते हैं। वैसे पुरुष चेतन और अनेक हैं। यह पुरुष शरीर, इन्द्रियो और मन से पृथक् रहता है यह बुद्धि और अहकार से भी भिन्न है। यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। यह नित्य और सर्वव्यापक है। तीनो गुणो सत्त्व, रज, तम से ऊपर है। अत इस पुरुष मे कभी कोई विकार नहीं आता। जैसे लाल फूल किसी बिलौरी टुकडे के समीप रखने से वह बिलौर लाल न होने पर भी लाल दीखने लग जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के गुणो को पुरुष मे भास पडता प्रतीत होता है किन्तु होता नही। यह अकर्ता तथा अभोक्ता ही रहता है। प्रकृति के साथ इसका मन के द्वारा सयोग होने से तीनो—दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से विवेक के द्वारा छुटकारा पाना ही उद्देश्य रहता है।

प्रकृति—साख्य मे ससार के सारे पदार्थों का कारण इसे ही माना जाता है। इसी रस्सी की सत्त्व, रज तमादि गुण की तीन लडिया हैं। कोई भी चीज स्वत बिना बीज कारण के अचानक उत्पन्न नहीं हो सकती। कारण अव्यक्त रूप मे भले ही हो पर रहता है, अवश्य। इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं। कोई भी चीज नई पैदा नहीं होती, केवल रूप में परिवर्तन आ जाता है। प्रकृति स्वय जड है, परन्तु पुरुष के समीप आकर उसके प्रकाश से सब कुछ करने लग जाती है, जैसे चुम्बक के पास जाने पर लोहे की कोई भी चीज स्वत उस चुम्बक के पास सरक जाती है।
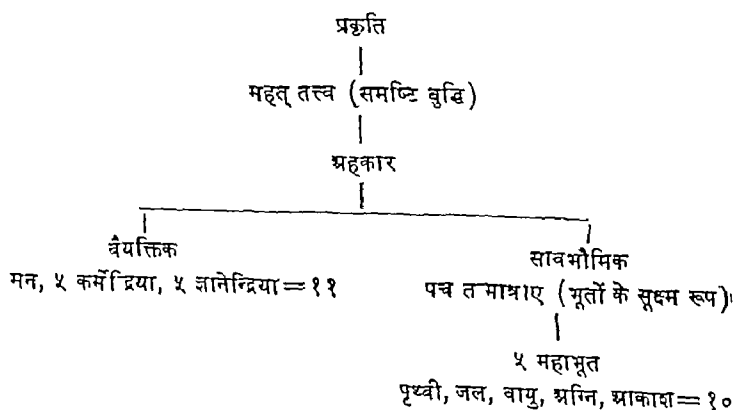
इस प्रकार पुरुष सहित कुल तत्त्व २५ हो गये। इसी सख्या के कारण इसे साख्य पुकारा जाता है। इन सब महाभूतों के अलग-अलग गुण हैं।

आकाश मे केवल एक गुण—शब्द।

वायु मे दो गुण—शब्द, स्पर्श।

तेज मे तीन गुण—शब्द स्पर्श रूप।

जल मे चार गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस ।

पृथ्वी में पाच गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ।

कठोपनिपद् मे एक रोचक कथा मे सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया गया है—

वाहरी वस्तुओ तथा विपयो का ज्ञान इन्द्रियो द्वारा होता है । अत इन्द्रिया, विपयो से अधिक सूक्ष्म हैं ।

मन, इन्द्रियो का स्वामी होने के कारण, उनसे ऊचा और सूक्ष्म है । जव तक यह मन साथ न दे तो इन्द्रिया, विपयो के साथ सम्पर्क रहने पर भी ज्ञान प्राप्त नही कर सकती ।

मन से सूक्ष्म अहकार है ।

वुद्धि अहकार से भी ऊची है जो निर्णायक की भाति अच्छे वुरे की परख कर पाती है ।

महत् तत्त्व वुद्धि से ऊचा और सूक्ष्म है जो वुद्धि को निर्णय करने की शक्ति प्रदान करता है ।

महत् तत्त्व से अधिक श्रेष्ठ मूल प्रकृति (अव्यक्त) है जिससे श्रेष्ठतर वह पुरुप है, जिससे वढकर ससार मे भी कोई सूक्ष्मतर श्रेष्ठ वस्तु नही है ।

निष्कर्प यह है कि—
विपयो से श्रेष्ठ इन्द्रिया है ।
इन्द्रियो से श्रेष्ठ मन है ।
मन से श्रेष्ठ अहकार है ।
अहकार से श्रेष्ठ वुद्धि है ।
वुद्धि से श्रेष्ठ महत् तत्त्व है ।
महत् तत्त्व से श्रेष्ठ मूल प्रकृति (अव्यक्त) है ।
अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुप है ।
और पुरुप से परे कुछ नही ।

यह पुरुप सदा निर्दोप, निर्विकार रहता है । प्रकृति इसको प्रसन्न करने के लिए नाचती रहती है । अन्ततोगत्वा जव यह जान जाती है कि पुरुप इसे भाप चुका है तो स्वत शान्त हो जाती है । ससार मे अकेली प्रकृति कुछ नही कर सकती । जैसे कहा जात है लगडे चैतन्य पुरुप को अधी जड प्रकृति उठाये फिर रही है ।

मुक्ति—पुरुप और प्रकृति के सम्वन्ध विच्छेद का नाम है—मुक्ति । यह वधन प्रकृति मे रहता है । पुरुप तो असग, द्रष्टा, अकर्ता, अभोक्ता और वधनो से सदा मुक्त है । वह सदैव एकरस रहने वाला सत् पदार्थ है, परन्तु अविवेक के कारण प्रकृति

के ससग से प्रकृतिजनित दु ख का प्रतिबिम्ब जो इसमे पडता दीखता है, उसी से दु ख की प्रतीति होती है जिसे विवेक द्वारा हटाना पडता है। जब पुरुष अपनी इस असग, स्वतन्त्र अथवा कैवल्य दशा को प्राप्त कर लेता है, तो जीवन्मुक्त हो जाता है। आजकल योग और वेदान्त अधिक प्रचलित हैं, सख्यादि दशन सैद्धान्तिक ज्ञान की वस्तु बनकर रह गए हैं।

योग

योग विद्या प्राचीन है। इसे राजयोग या अष्टाग योग भी कहते हैं। इसका वणन वेदो की सहिता तथा आरण्यको और उपनिषदों मे बीज रूप मे आता है। महाभारत, आगम तथा पुराणो ने भी इसके महत्त्व पर तथा इसके नियमो की प्रयोग-विधि पर बल दिया है। खूबी यह है कि पट्शास्त्रों मे इसे ही आज तक वेदान्त के साथ-साथ अपनाया जा रहा है। इस योग विद्या का अभ्यास करने वाले योगी अब भी भारत मे बहुत हैं—पाश्चात्यो ने भी इसे अपना रखा है क्योकि योग मनुष्य-मात्र की निधि है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वालो को यह योग बहुत अच्छा लगता है। इसमे चित्त की चचल अवस्था के सयम के बाद व्यक्ति द्वारा साक्षात् ईश्वर से सम्पक स्थापित करने की व्यावहारिक विधि का वणन होता है।

रचना—योग की क्रमबद्ध रचना सबसे प्रथम महर्षि पतजलि ने की। तत्पश्चात् जितने ग्रन्थ इस पर लिखे गए, उतने और किसी दर्शन पर नही रचे गए। हाँ, इसका विवेचन विद्वानो ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। बौद्ध और जैन ग्रन्थो मे भी इस योग की क्रियाओं का सुन्दर वणन है।

परिभाषा—महर्षि पतजलि इसकी परिभाषा यो देते हैं—"योगश्चित्तवृत्ति-निरोध ' जिसका अथ होता है 'चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियो पर पूर्णतया अपना अधिकार जमाना।' यहाँ चित्त के अन्दर मन, बुद्धि तथा अहकार तीनो का समावेश है। इस चित्त की उत्पत्ति सत्त्वगुण-युक्त प्रकृति से होती है, तभी तो प्रकृति की जडता और परिवतनशीलता इसमे रहती है।

योग की क्रियाओं का आधार साख्य दशन की प्रकृति और पुरुष पर है। इसमें प्रेरणा तो साख्य से ही ली गयी, पर अपनी ओर से उसमें ईश्वर को महत्त्वपूण स्थान दिया है।

उद्देश्य और प्रक्रिया—योग क्रियाओ का ध्येय, प्रकृतिजनित चित्त की वृत्तियो से, पुरुष की चेतना के सम्बन्ध का विच्छेद करके मोक्ष प्राप्त करना रहता है। यह चित्त ही प्रकृति का क्रिया मूल है। अत चित्त पर प्रयोग करना समस्त प्रकृति पर प्रयोग करना है। अत चित्त से स्वतन्त्र होना प्रकृति से छुटकारा

पाने मे निहित है। जीव की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के लिये मनोवैज्ञानिक ढग से मन पर विजय प्राप्त करने के लिए यौगिक क्रियाओ द्वारा चित्त की वृत्तियो का विश्लेपण आवश्यक हो जाता है।

वृत्तियाँ—चित्त के जिस परिवर्तन से किसी भी वस्तु के स्वरूप का जो ज्ञान होता है उसे वृत्ति कहा जाता है। वृत्तियाँ चित्त-रूपी तालाव की हलचलें हैं। कुल वृत्तियाँ पाच होती हैं —

१ प्रमाण, २ विपर्यय, ३ विकल्प, ४ निद्रा, ५ स्मृति।

प्रमाण—वस्तुओ का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाण तीन प्रकार का होता है —

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और उस पर आधारित हेतुजन्य ज्ञान को अनुमान, आप्त वाक्य से प्राप्त ज्ञान को 'शब्द' कहते हैं।

विपर्यय—अयथार्थ ज्ञान को कहते हैं।

विकल्प—वस्तु की वास्तविकता से शून्य सशययुक्त ज्ञान को विकल्प कहते हैं।

निद्रा—तमोगुण प्रधान वृत्ति का नाम है।

स्मृति—अपने अनुभव मे आये हुए विपयो का ज्यो का त्यो विना किसी अन्तर के याद आने को स्मृति कहा जाता है।

अवस्थाए—चित्त मे इन पाच अवस्थाओं का भास होता है —

मूढावस्था—इसमे तमोगुण की प्रधानता रहने के कारण चित्त विवेकहीन और मोहग्रसित रहता है।

क्षिप्तावस्था—इसमे रजोगुण की प्रधानता के कारण मन अस्थिर रहता है।

विक्षिप्तावस्था—इस अवस्था मे सत्त्वगुण की लेशमात्र सत्ता के कारण सुखो की ओर मन भागता है।

एकाग्रावस्था—सत्त्वगुण की अधिकता के कारण वाहरी पदार्थों से हटकर चित्त एक स्थान पर जमने लगता है।

निरुद्धावस्था—सव वृत्तियो के निरोध हो जाने का नाम है। इसी को योगावस्था कहते हैं।

विघ्न—एकाग्रता प्राप्ति मे जो विघ्न-वाधा डालते हैं, उनको 'क्लेश' की सज्ञा दी जाती है। ये भी पाच ह।

१ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेप, ५ अभिनिवेश

अविद्या—अज्ञानवश किसी वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप मे विलकुल उलटा

समझना। जैसे शरीर को ही आत्मा मान बैठना, सासारिक सुखो को सत्य मान लेना, नित्य को अनित्य आदि। यही अविद्या सारे दुःखो की जड है।

अस्मिता—यह अहभाव की जड है। यही स्वार्थपरक कार्य कराती है।

राग—तथाकथित सुखदायक वस्तुओ मे आसक्ति को राग कहते ह।

द्वेष—राग से बिल्कुल उल्टी भावना को, जिसमे दूसरे के अहित चिन्तन की प्रधानता रहती है, द्वेष कहलाता है।

अभिनिवेश—शरीर मे आसक्ति तथा शरीर से चिपके रहने का नाम है। तभी तो इससे मृत्यु द्वारा नाश हो जाने का भय बना रहता है।

लक्ष्य-प्राप्ति का साधन—प्रकृति के तीनो गुणो से ऊपर उठने के लिये विवेक द्वारा वैराग्य और अभ्यास की आवश्यकता रहती है। सारे ससार के भोग्य पदार्थों की लेशमात्र भी इच्छा न रह जाने को वैराग्य कहते हैं। अभ्यास उस सतत प्रयत्न को कहते हैं, जिसमे मनुष्य निरन्तर तत्त्व चिन्तन मे लीन रहने लगता है। इस विवेक प्राप्ति के लिये आठ अग बताये गये हैं। प्रथम पाँच बाहरी साधन हैं, शेष तीन आन्तरिक।

१ **यम**— दूसरो के साथ व्यवहार मे पाच प्रकार के सयम को कहते हैं।

अहिंसा—किसी भी प्राणी का किसी भी प्रकार से अहित न करना, न ऐसा सोचना।

सत्य—मनसा-वाचा कर्मणा, जैसे जानना वैसे ही प्रकट करना।

अस्तेय—जो वस्तु अपनी नही, उसके लेने की किंचित् मात्र भी इच्छा न रखना।

ब्रह्मचर्य—सभी इन्द्रियो को पूर्णतया वश मे रख कर उनका प्रयोग करना। उनका स्वामी बने रहना।

अपरिग्रह—सासारिक पदार्थों के सग्रह की भावना को मन मे न लाना।

२ **नियम**—अपने उद्धार के लिय निम्नलिखित पाँचो का नित्य प्रति अभ्यास करना।

शौच—शरीर, मन, मकान, वातावरण को सर्व प्रकारेण अन्दर बाहर से साफ रखना। यह मानकर कि ईश्वर प्राप्ति से पहले कोई चीज है तो वह सफाई ही है। जैसा कि अग्रेजी मे एक कहावत है—Cleanliness is next to Godliness

सन्तोष—गीता के "यथालाभस तुष्ट" की शिक्षा को चरितार्थ करना जितना कम मे जीवन पालन हो सके उसी मे तृप्ति का आनन्द लेना।

तप—द्वन्द्वो को सहने की शक्ति का नाम है—सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख, आदि सहने की शक्ति का अभ्यास निरन्तर करना।

पाने मे निहित है। जीव की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के लिये मनोवैज्ञानिक ढग से मन पर विजय प्राप्त करने के लिए यौगिक क्रियाओ द्वारा चित्त की वृत्तियो का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

वृत्तिया—चित्त के जिस परिवर्तन से किसी भी वस्तु के स्वरूप का जो ज्ञान होता है उसे वृत्ति कहा जाता है। वृत्तियाँ चित्त-रूपी तालाब की हलचलें हैं। कुल वृत्तियाँ पाच होती हैं —

१ प्रमाण, २ विपर्यय, ३ विकल्प, ४ निद्रा, ५ स्मृति।

प्रमाण—वस्तुओ का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाण तीन प्रकार का होता है —

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और उस पर आधारित हेतुजन्य ज्ञान को अनुमान, आप्त वाक्य से प्राप्त ज्ञान को 'शब्द' कहते हैं।

विपर्यय—अयथार्थ ज्ञान को कहते हैं।

विकल्प—वस्तु की वास्तविकता से शून्य सशययुक्त ज्ञान को विकल्प कहते हैं।

निद्रा—तमोगुण प्रधान वृत्ति का नाम है।

स्मृति—अपने अनुभव मे आये हुए विषयों का ज्यो का त्यो बिना किसी अन्तर के याद आने को स्मृति कहा जाता है।

अवस्थाए—चित्त में इन पाच अवस्थाओ का भास होता है —

मूढावस्था—इसमे तमोगुण की प्रधानता रहने के कारण चित्त विवेकहीन और मोहग्रसित रहता है।

क्षिप्तावस्था—इसमें रजोगुण की प्रधानता के कारण मन अस्थिर रहता है।

विक्षिप्तावस्था—इस अवस्था मे सत्त्वगुण की लेशमात्र सत्ता के कारण सुखो की ओर मन भागता है।

एकाग्रावस्था—सत्त्वगुण की अधिकता के कारण बाहरी पदार्थों से हटकर चित्त एक स्थान पर जमने लगता है।

निरुद्धावस्था—सब वृत्तियो के निरोध हो जाने का नाम है। इसी को योगावस्था कहते हैं।

विघ्न—एकाग्रता प्राप्ति मे जो विघ्न-बाधा डालते हैं, उनको 'क्लेश' की सज्ञा दी जाती है। ये भी पाच हैं।

१ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेष, ५ अभिनिवेश

अविद्या—अज्ञानवश किसी वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप से बिल्कुल उल्टा

समझना । जैसे शरीर को ही आत्मा मान बैठना, सासारिक सुखो को सत्य मान लेना, नित्य को अनित्य आदि । यही अविद्या सारे दुखो की जड है ।

अस्मिता—यह अहभाव की जड है । यही स्वार्थपरक कार्य कराती है ।

राग—तथाकथित सुखदायक वस्तुओ मे आसक्ति को राग कहते हैं ।

द्वेष—राग से बिल्कुल उल्टी भावना को, जिसमे दूसरे के अहित चिन्तन की प्रधानता रहती है, द्वेष कहलाता है ।

अभिनिवेश—शरीर मे आसक्ति तथा शरीर से चिपके रहने का नाम है । तभी तो इससे मृत्यु द्वारा नाश हो जाने का भय बना रहता है ।

लक्ष्य प्राप्ति का साधन—प्रकृति के तीनो गुणो से ऊपर उठने के लिये विवेक द्वारा वैराग्य और अभ्यास की आवश्यकता रहती है । सारे ससार के भोग्य पदार्थों की लेशमात्र भी इच्छा न रह जाने को वैराग्य कहते हैं । अभ्यास उस सतत प्रयत्न को कहते हैं, जिसमे मनुष्य निरन्तर तत्त्व चिन्तन में लीन रहने लगता है । इस विवेक प्राप्ति के लिये आठ अग बताये गये हैं । प्रथम पाँच बाहरी साधन हैं, शेष तीन आन्तरिक ।

१ **यम**— दूसरो के साथ व्यवहार मे पाच प्रकार के सयम को कहते हैं ।

अहिंसा—किसी भी प्राणी का किसी भी प्रकार से अहित न करना, न ऐसा सोचना ।

सत्य—मनसा-वाचा कर्मणा, जैसे जानना वैसे ही प्रकट करना ।

अस्तेय—जो वस्तु अपनी नही, उसके लेने की किंचित् मात्र भी इच्छा न रखना ।

ब्रह्मचर्य—सभी इन्द्रियो को पूर्णतया वश मे रख कर उनका प्रयोग करना । उनका स्वामी बने रहना ।

अपरिग्रह—सासारिक पदार्थों के सग्रह की भावना को मन मे न लाना ।

२ **नियम**—अपने उद्धार के लिय निम्नलिखित पाँचो का नित्य प्रति अभ्यास करना ।

शौच—शरीर, मन, मकान, वातावरण को सब प्रकारेण अन्दर बाहर से साफ रखना । यह मानकर कि ईश्वर प्राप्ति से पहले कोई चीज है तो वह सफाई ही है । जैसा कि अग्रेजी मे एक कहावत है—Cleanliness is next to Godliness

सन्तोष—गीता के "यथालाभसन्तुष्ट" की शिक्षा को चरितार्थ करना जितना कम मे जीवन पालन हो सके उसी मे तृप्ति का आनन्द लेना ।

तप—द्वन्द्वों को सहने की शक्ति का नाम है—सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख, आदि सहने की शक्ति या अभ्यास निरन्तर करना ।

स्वाध्याय—मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर कराने मे जो साहित्य सहायता दे, उसी मे तल्लीनता का अभ्यास करना।

ईश्वर-प्रणिधान – गीता की '**यत्करोपि यदश्नासि**' वाली आज्ञा का अक्षरश पालन अथवा उस परमात्मा की दी हुई शक्ति से जो भी किया जाय, वह उसके ही अर्पण कर देना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है।

३ **आसन**—चित्त की शन्ति के लिये सुखपूर्वक स्थिर बैठे रहने के क्रिया का का नाम है।

४ **प्राणायाम**—श्वास तथा प्रश्वास की गति को रोकने का नाम है। जिसके द्वारा मन को स्थिर करने मे बहुत सहायता मिलती है।

५ **प्रत्याहार**—इन्द्रियो को उनके विषयो की ओर न जाने देना प्रत्याहार कहलाता है।

६ **धारणा**—प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा किसी वस्तु पर चित्त को लगा देने का नाम है।

७ **ध्यान**—धारणा ध्यान का स्वरूप ले लेती है और ध्यान करने वाला ध्येय पदार्थ को एकाकारता से अनुभव करने लगता है।

८ **समाधि**—ध्यान मे मग्नावस्था का नाम समाधि है जिसमे उपरोक्त सातों साधनाओं का अलौकिक चरम फल है—जिस से मनुष्य सब क्लेशो से मुक्त होकर आठो प्रकार की सिद्धियो को प्राप्त कर लेता है। परन्तु मनुष्य तो उन मे फसते नही।

कैवल्य प्राप्ति—इस योग विद्या के अभ्यास से प्रकृति के बन्धनो से छुट्टी पाना ही मुक्ति है। इसे योग की परिभाषा मे कैवल्य-पद की संज्ञा दी जाती है।

अविद्या तथा क्लेशो के नाश हो जाने से पुरुष अपने स्वरूप मे विश्राम करता है। यही कैवल्य पद ही योग का अन्तिम लक्ष्य है।

मीमासा दर्शन

मीमासा का अर्थ है किसी चीज की विधिपूर्वक परीक्षा करना। उचित भी यही रहता है कि किसी भी चीज को अपनाने से पूर्व उसका सर्व प्रकारेण विश्लेषण कर लिया जाये। तब भारतीयों को अंधानुकरण नही आता था, यही कारण है कि उन्होंने वेद वाक्यों तक की प्रमाणो के आधार पर विवेचना कर दी।

आधार और प्रवर्तक—इसमे वैदिक कर्म-काण्ड का ही वर्णन है, जिसका ज्ञान मीमासा के बिना हो नही सकता। इसमें वेद के ब्राह्मण भाग को ही प्रमुखता दी गयी है। इस भाग मे यज्ञो की प्रक्रिया का सुन्दर वर्णन है तथा अनुष्ठाना का विवेचन भी किया गया है। यह दर्शन बतलाता है कि कौन सा यज्ञ किस प्रकार विधिवत्

करना चाहिये। ऋषि जैमिनी इस दर्शन के प्रवतक माने जाते हैं। क्योंकि मीमासा सम्बन्धी प्राचीन विचारो को शास्त्रीय रूप उन्होंने ही दिया। इस दशन की विशेपता यह है कि इसमे सभी वेदो के विधि-वाक्यो मे विरोधाभास का सुन्दर समाधान प्रस्तुत हुआ है।

जगत्—यहाँ इसे प्रवाह रूप से नित्य माना गया है। जैसे नदी सदैव वहती ही रहती है, केवल जल वदल वदल कर आता रहता है। इसी प्रकार इस ससार मे व्यक्ति नष्ट होकर वदलते रहते हैं। जगत् सत्य है और सृष्टि का नाश नही होता।

आत्मा—को व्यापक मानते हुए भी प्रत्येक शरीर मे भिन्न है ऐसा मानते हैं। यहाँ यह कर्ता भी है, भोक्ता भी है।

मोक्ष—हवनादि यज्ञो से स्वर्ग-प्राप्ति पर वल दिया गया है। इन यज्ञो से ही फल की प्राप्ति हो जाती है। अत यह दशन केवल मन्त्रो के देवताओ को ही मान्यता प्रदान करता है।

ससार के साथ आत्मा का सम्ब ध छूट जाने मे स्वग प्राप्ति को मोक्ष मानते है। इन्द्रियो के द्वारा शरीर जो वाह्य पदार्थों के चक्कर मे फस जाता है। वस इनके व धन से मुक्त हो जाना ही मोक्ष कहलाता हैं। नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को विधिपूर्वक करने मे ही स्वग के सुख की प्राप्ति मानते हैं।

वेदान्त दर्शन

अथ—'वेदो का अन्त—वेदो की विचारधारा का चरमोत्कष'—तथा 'वेदो के रहस्य का ज्ञान'।

ऋग्वेद काल से ही ब्रह्म की सत्ता का अनुभव हो गया था, पर तु आधार-भूत इस ज्ञान का विकास उपनिषदो मे ही मिलता है। तत्पश्चात् महर्षि व्यास ने उपनिपदों मे विखरे हुए तत्वों को ब्रह्मसूत्र मे क्रम से सुन्दर रूप मे रखा। किन्तु आश्चय की वात यह रही की जिस ब्रह्मसूत्र का ध्येय सव विवादास्पद तथ्यो का समाधान करना था उस पर भी अनेक प्रकार के भिन्न-भि न भाष्य हुए।

वेदान्त परमाथ सत्य का ज्ञान है जो व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओ से आता है। भि नाभिन्न विचारधाराओ के प्रवतको ने जीव और जगत् को ब्रह्म से अभिन्न, भिन्न तथा भि न भिन्न रूप से माना है। इन मतभेदो का कारण यही है कि परम सत्ता ब्रह्म केवल इन्द्रियो से ही अगोचर नही है, अपितु वुद्धि द्वारा भी अगम्य है। तार्किक दृष्टिकोण कभी भी साक्षात्कन अनुभव के समान नहीं हो सकता। पृथक्-पृथक् वुद्धि-स्तर के अनुकूल कई भाष्य रचे गये। अतएव तत्त्व जिज्ञा-

सुओ को इन मे भेद बुद्धि रखना अनुचित है। इन्द्रियो की दृष्टि से जगत् नाना रूप है तथा वाह्य है, सत्य सा भी प्रतीत होता है और परमात्मा से भिन्न भी दीखता है परन्तु आगमप्रमाणित सूक्ष्म बुद्धि के अनुमान से यह प्रतीत होता है कि जगत् और जीव, दोनो ब्रह्म का अश है और नितान्त पृथक् नही हो सकने जैसे स्वप्नावस्था मे स्वप्न सत्य दिखाई देता है वैसे ही जो वस्तु जिस समय बुद्धिगोचर होती है वह स्वप्न सी ही दिखाई पडती है। व्यावहारिक जगत् मे रहता हुआ मनुष्य व्यावहारिक प्रपच से ऊपर की सत्ता का ज्ञान नही पा सकता, परन्तु इस से यह निष्कप नही निकलता कि वुद्धिगम्य ज्ञान से गहरी कोई वस्तु नही। जाग्रत्, स्वप्न और सुपुप्ति अवस्थाओ के निष्पक्ष विवेचन से हम एक ऐसी सत्ता का अनुमान कर सकते हैं जो विश्वव्यापी है, अखण्ड है, चैतन्य मात्र है, चाहे उसे ब्रह्म कहो, चाहे जीव या जगत अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, आदि दर्शनो के प्रवर्तको ने इन दृष्टिकोणो मे से किसी एक पर वल देकर भाष्यो को रचा है। इन प्रवर्तकों मे शकर, रामानुज तथा मध्व मुख्य है। इन सबका ध्येय एक तत्त्व का साक्षात्कार करता है जवकि दार्शनिक विचार पद्धतियाँ पृथक्-पृथक् हैं।

शकराचार्य का सक्षिप्त जीवन चरित्र

(सन् ७८८—८२० ई०)

भारत की दशा—आठवी शताब्दी ई० के अन्तिम चतुर्थ भाग मे धम और दर्शन की अवस्था शोचनीय थी। कुछ इतिहासकारो ने उस समय प्रचलित मतो की सख्या ७२ तक वताई है। अतएव स्पष्ट है कि विचार-विमर्श मे पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न होता रहता होगा। परिणामत असत्य का वोलवाला हो रहा था। आदर्श भूमि भारत की दशा शोचनीय हो रही थी।

ऐसे समय मे केरल प्रदेश मे माता सुभद्रा को शकर के रूप मे एकमात्र सतान मिली। इस असाधारण वालक के तीन साल के हो जाने पर पिता श्री शिवगुरुजी का स्वर्गवास हो गया। इन्हे एक वर्ष के भीतर ही मातृभाषा का शुद्ध ज्ञान हो गया था और दो वर्षों मे विदुषी माता से सुने पुराणो को कठस्थ कर लिया। पाँचवें वर्ष मे यज्ञोपवीत सस्कार हो गया और ७ साल की आयु तक गुरु गृह मे रह कर चारो वेद, वेदाग तथा दर्शनशास्त्र की शिक्षा समाप्त कर ली। अव भला ससार का पथ-प्रदर्शक घर की चार-दीवारी मे कैसे वद रहता ? वृद्धा माता के साथ नदी मे स्नान करते समय जव मगर-मच्छ ने इनकी टाग पकडी, तव वे डूवते हुए भी शात वने रहे। इन्होंने तभी माता से सन्यास की आज्ञा माग ली, जो पुत्र की जीवन-रक्षा के लिये माँ ने दे दी। लेकिन इस शर्त पर कि उनकी मृत्यु पर दर्शन देने पहुच जायेंगे। वहाँ से नर्मदा तट पर आकर

स्वामी गोविन्द भगवत्पाद से आठ वर्ष की अवस्था मे सन्यास ग्रहण किया । शीघ्र ही यह सर्वगुण सम्पन्न योगसिद्ध हो गये ।

काशी पहुचकर 'प्रस्थान-त्रयी' के प्रथम भाग ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा और १६ वर्ष की वय तक प्रस्थान-त्रयी के अन्य दो भाग उपनिषद् और गीता के भाष्य पूर्ण किए । शेष १६ वर्षों मे सम्पूर्ण भारत मे घूम-घूम कर विरोधी तार्किको को शास्त्रार्थों मे पराजित करके श्रुति-सम्मत-धर्म की स्थापना की । उस समय पूरे देश मे बौद्ध मत का प्राबल्य था, जो उनके प्रभाव से लुप्तप्राय हो गया । चावलो की भूसी की अग्नि मे जलने बैठे हुए कुमारिल भट्ट को उनके द्वारा दिया हुआ वेदोद्धार का आश्वासन सत्य सिद्ध हुआ ।

शकराचार्य मे व्यावहारिक ज्ञान तथा प्रशासनिक क्षमता अपूर्व कोटि की थी । अत उन्होंने ब्राह्मण मठवाद की नीव वैदिक धर्म और सस्कृति के प्रचारार्थ रखी ।

श्री शकराचार्यजी द्वारा स्थापित चार प्रधान पीठ

ज्योतिष्पीठ—बद्रीनाथ से १९ मील पहले जोशीमठ मे श्री शकराचार्यजी का ज्योतिष्पीठ है ।

गोवर्धन पीठ—श्री जगन्नाथपुरी मे, श्री जगन्नाथ मन्दिर (स्वर्ग द्वार) से समुद्र की ओर श्री शकराचार्यजी द्वारा स्थापित गोवर्धनपीठ है ।

शारदापीठ—द्वारका मे श्री द्वारकाधीश जी के मन्दिर के प्राकार के भीतर शारदापीठ है ।

शृगेरी पीठ—दक्षिणी रेलवे की बगलोर-पूना लाइन पर बिरूर स्टेशन से साठ मील दूर तुंगा नदी के किनारे शृगेरी मठ है ।

आपने ३२ वर्ष मे इस लोक की यात्रा को समाप्त किया ।

वैदिक धर्म के उद्धार के लिये उनका प्रयत्न अद्वितीय रहा और सिद्धान्त-प्रणाली से बहुत दार्शनिको ने प्रेरणा ली । इनके, और इनके अनेक शिष्यो के, अनेक ग्रथ हैं । श्री शकराचार्यजी के अद्वैतवाद का देश एव विदेश पर व्यापक प्रभाव पड़ा । अद्वैतवादी होते हुए भी शकर ने मुख्य देवताओ की स्तुति के लिये स्तोत्रो की रचना की ।

भगिनी निवेदिता (एक अग्रेजी महिला) का कथन है —

"पश्चिम ससारवासी शकराचार्य जैसे व्यक्तित्व की कल्पना नही कर सकते । उन्होंने केवल कुछ वर्षो के दौरान १० महान् धार्मिक सम्प्रदायो की स्थापना की, जिनमे से चार आज भी अपनी महिमा मे अक्षुण्ण रहे हैं । उन्होंने सस्कृत का इतना वृहद् ज्ञान अर्जित किया और पृथक् दर्शन की नीव डाली । वे भारत के ज्ञानमडल पर इतने उज्ज्वल नक्षत्र बन करके चमके कि १२०० वर्षों की अवधि बीतने पर भी

उनकी उच्च स्थिति अक्षय है   इन सारी प्रतिभाओ को एक ही व्यक्ति मे पाने की कल्पना कौन कर सकता था ?"

अद्वैतवाद

श्री शकराचार्य के दादा गुरु श्री गौडपादाचार्य ने अपनी माडूक्य-कारिका मे अद्वैतवाद की भूमिका बाधी। शकराचार्य जी ने इसके रूप को सवारा और परिवर्धित किया।

विषय—शकर का अद्वैतवाद ब्रह्म की परम सत्ता को मानता है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही ज्ञान है। नाना रूपात्मक जगत् मे एकता का अनुभव करना ही मानव ज्ञान की चरम सीमा है। प्राणिमात्र मे उसी परम तत्त्व ब्रह्म की सत्ता के दर्शन करना ध्येय रहता है। सारा जगत् ब्रह्ममय है और ब्रह्म सत् चित् आनन्द रूप है। जगत् की व्यावहारिक सत्ता को तो अद्वैतवाद मानता है, पर उसकी पारमार्थिक सत्ता को नही मानता। वह तो केवल अज्ञान के कारण दिखाई पडता है। अज्ञान ही सासारिक कष्टो का कारण बनता है। ज्ञान होते ही परम आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

परम-तत्त्व इद्रियो के क्षेत्र से बाहर है। देश, काल, वस्तु से परिच्छिन्न होने के कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान की पहुच से परे है। यह अनुभव की चीज है। बुद्धिगम्य है ही नही। आदिगुरु श्री शकराचार्य जी ने इस अनुभूति के लिये साधन-चतुष्टय की आवश्यकता बतलाई है। साधन-चतुष्टय मे विवेक, वैराग्य, षड्सम्पत्ति, (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) तथा मुमुक्षत्व का समावेश रहता है। इतनी सतत साधना के पश्चात् जिज्ञासु ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणो मे बैठ श्रुतियो का श्रवण करता है, फिर उनका मनन करके निदिध्यासन विधि से परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार करता है। उसे अर्थात् जीव को ब्रह्म के साथ एकात्मभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यही पराविद्या है। यही सत्यज्ञान है।

ब्रह्म का स्वरूप—ब्रह्म ही केवल सत्य है, ब्रह्म महाकाश है। यही एक सदा रहने वाला तत्त्व है। ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विशेष तथा अकर्ता है। इस नाना रूपात्मक जगत् के मूल मे विद्यमान वह शाश्वत सत्ता वाला पदार्थ ब्रह्म ही है। वह सर्वव्यापक है। जैसे तिलो मे तेल और दही मे घी छिपा रहता है उसी प्रकार यह सब प्राणियो के हृदय मे छिपा रहता है। सारा जगत् इसी ब्रह्म मे स्थित है। वह जगत् का सचालन करने वाला है। जीव और प्रकृति इसी की विकृतिया हैं। वह इन दोनो का स्वामी है। सारा विश्व ही उसका रूप है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और वृहत् से भी वृहत् है। उसका परिचय 'नेति' शब्द से ही दिया जा सकता है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है। वह अनादि और अनन्त है। इस दर्शन ने भेद मे अभेद को ढूढ लिया है। प्राणिमात्र को एक ही समझना इसका ऊँचा आदर्श

है। सारा ससार ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म है आनन्दमय। ज्ञानी के लिये आनन्द के अतिरिक्त कुछ है ही नही।

माया—अद्वैतवाद मे 'माया' शब्द के कई अर्थ हैं। जिनमे से कतिपय नीचे दिये जा रहे हैं।

१ परमकारण-भूत ब्रह्म से जगत् की रचना की विधि,
२ जगत् की स्वप्नरूप व्यावहारिक सत्ता,
३ जगत् का ब्रह्म से अवर्णनीय सम्बन्ध,
४ ब्रह्म की शक्ति जिस से जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय होता है।
५ ब्रह्म की दृष्टि से जगत् की असत्ता।

माया सत्य नही है, क्योकि ज्ञान उत्पन्न होने पर लुप्त हो जाती है। वैसे इस में इतनी शक्ति है कि इसके प्रभाव से असत्य भी सत्य प्रतीत होने लगता है। यह विलक्षण है। यह सब पर व्यापती है। जीव और ब्रह्म मे जो भेद दीखता है, वह इसी माया के कारण से है।

ईश्वर—माया से प्रतिबिम्बित ब्रह्म-स्वरूप ही ईश्वर है। सृष्टि की सूक्ष्म क्रियावस्था मे ईश्वर ही हिरण्यगर्भ रूप मे परिणत होता है और स्थूल जगत् की रचना करने से 'विराट् स्वरूप' कहलाता है। यह जीव की सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओ का समष्टि रूप है। ईश्वर मेघाकाश है।

जगत्—ब्रह्म का यह रूप माया से सम्मत है। रज्जु को देखकर जैसे अज्ञान-वश सर्प का भ्रम होता है, वैसे ही हम जगत् को सत्य मान रहे हैं, ब्रह्म ज्ञान होने से यह भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, इस जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण ब्रह्म ही है। जिस प्रकार मकडी अपने शरीर से जाल तानती है और फिर उसे अपने ही शरीर मे समेट लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म से यह सृष्टि पैदा होकर वापस उसी मे लीन हो जाती है।

सृष्टि क्रम—सबसे पहले आकाश होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि पैदा होती है और फिर अग्नि से जल की उत्पत्ति और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। लय होने का क्रम ठीक इससे उल्टा रहता है।

आत्मा—आत्मा का तत्त्व बडा गहन है। आत्मा घटाकाश है। उसको जानना साधारण बात नही। यह न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है और न इसमे अवस्था के कारण कभी विकार ही पैदा होता है। यह सदा एक सा रहता है। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचो विषयो के ग्रहण करने वाली इन्द्रियो से, सकल्प विकल्प रूप मन से, विवेचना करने वाली बुद्धि से और जीवो की स्थिति के कारण भूत प्राणो से सर्वथा भिन्न रहता है। यह जगत् की सारी चीजो मे व्याप्त रहता है। यह सदा रहने वाली वस्तु है। इस ससार की सत्ता मानने के लिये आत्मा

का होना आवश्यक है। इसलिये आत्मा की सिद्धि ससार को मानने के लिये स्वत ही हो जाती है। इसी आत्मा से नश्वर ससार मे प्राणिमात्र जीवित रहते है।

जीव—जीव ब्रह्म से अभिन्न है। सापेक्षिक रूप से सत्य है। जब तक अज्ञान के कारण मन, बुद्धि, इन्द्रियो से तादात्म्य भावापन्न है, तभी तक इसका पृथक् अस्तित्व है। जब अविद्या का नाश होता है, जीव पानी के बुलबुले की तरह अपने मूल स्रोत ब्रह्म मे समा जाता है। जीव जलाकाश है।

मोक्ष तथा उसका साधन—जब आत्मा समस्त अज्ञान के कारण पैदा हुए प्रपच से रहित हो, प्रकाश के उदय होने पर ब्रह्म मे लीन होकर आनन्दमय हो जाता है तो वह स्वय साक्षात् ब्रह्म ही हो जाता है। बस, इसी अवस्था की प्राप्ति को मोक्ष कहते है। यह केवल दु ख की निवृत्ति नही है वरन् परमानन्द की प्राप्ति है, यह कही बाहर से नही आती, न इसके लिए कही जाना पडता है, इसका तो अपने आप मे ज्ञान के उदय होने पर पूर्ण भास स्वय हो जाता है, परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है। यही मुक्तावस्था है। इसके बाद कर्म भले ही होते प्रतीत हो, वह किसी अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से नही किये जाते, प्रत्युत निष्काम भाव से लोक-सग्रह के निमित्त होते रहते हैं केवल भगवान् की उपासना के रूप मे। जब कर्मबन्धन न रहा तो फिर आवागमन का क्रम स्वत कट जाता है। क्योकि तब न आसक्ति रहती है, न कर्तापन का अभिमान। जैसे एक जादूगर आम के वृक्ष मे तत्काल आम्रफल लगा देता है और दर्शक उन आमो को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी मिथ्या समझता है, और इस सारे प्रपच से उदासीन रहता है। देहाभिमान न रह जाने से कोई उसके लिये आकर्षण रह ही नही जाता। वह आत्मतृप्त तथा आप्तकाम हो जाता है। जब अभाव किसी प्रकार का रहता ही नही तो कर्म का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार शरीर रहते भी उसके इस शरीर का अन्त हो जाता है। यह सब क्रिया आत्मानुभव की वस्तु है। वेदान्त का पूर्ण ज्ञान कथन से या पुस्तकें पढ लेने से नहीं होता है।

शकर का अद्वैतवाद जो श्रुति, युक्ति और अनुभूति पर आधारित है, अपने मे अनुपम और अद्वितीय है। श्री शकराचार्य बडे मेधावी, मनस्वी और विद्वान् थे। अपनी तर्क-शैली से उन्होंने बौद्धमत की कई मिथ्या धारणाओ का खण्डन करके स्वधर्म का स्थापन किया है।

श्री शकराचार्य के अद्वैतवाद मे विराट् मानवता ने शान्ति, समृद्धि और सान्त्वना प्राप्त की है। आज के दु खी विश्व के लिये यह ज्ञान भडार रामबाण का काम कर सकता है। **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को उदय करने मे जगत्मात्र का कल्याण निहित है। शकर का दर्शन भारतीय विचारधारा पर तो छा ही गया था, साथ ही पाश्चात्य विद्वान् तथा सूफी सत भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

अखिल मानव-समाज इनका अति कृतज्ञ है, नतमस्तक है। यदि शकर न आते तो आज वैदिक धर्म दिखाई न देता। उन्होने अकेले सब विरोधी तत्त्वो से लोहा लिया। उन्होंने विजय पाई, अपने शुद्ध ज्ञान और आस्तिकता के बल बूते पर। वे सुधारक, दार्शनिक, तार्किक, कर्मयोगी और महापडित थे। वे यदि अधिक समय जीवित रह जाते, तो आध्यात्मिक एकता राजनीतिक सामूहिक चेतना मे बदल जाती।

विशिष्टाद्वैतवाद

प्रवर्तक—श्री रामानुजाचार्य (१०१७-११३७)—इनकी जीवनी यथास्थान अन्यत्र दी गई है। श्रीरामानुजाचार्य ने आलवार सन्तो द्वारा प्रवाहित भक्ति की मन्दाकिनी से प्रेरणा ली। पचरात्र आगम-शास्त्रो को वेदतुल्य मान्यता देकर वैष्णव धर्म की पक्की नींव रखी। तब से वैष्णव धर्म के दर्शन का विकास ही होता रहा।

ब्रह्म—सगुण एव सविशेष है। सर्वान्तर्यामी है। उत्पत्ति, स्थिति और सहार का कारण है, 'चित्-अचित्-विशिष्ट' समग्र तत्त्व ही ब्रह्म है। ब्रह्म के चेतन अश से (जीव) अचित् से जड (प्रकृति) की उत्पत्ति मानी जाती है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है। वे सकल जीवो के हितकारी हैं।

जीव—ब्रह्म का ही अश है। चेतन है, अणुरूप है। अपूर्ण है। ज्ञान का आश्रय है और नित्य, देहादि से भी भिन्न है, कर्ता है भोक्ता है।

जगत्—नारायण का शरीर है। अचित् है, सत्य है।

लक्ष्य—प्रपत्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति ही लक्ष्य है।

मोक्ष—जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म के सदृश हो जाता है न कि ब्रह्म रूप।

साधन—प्रपत्ति या शरणागति का मुख्य अश ही सर्वोत्तम साधन है। उपासना से अज्ञान का नाश होता है। यह सब के लिये प्राप्य है।

मत—इस मत के मानने वाले श्री रामानुज सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय नामो से जाने जाते हैं।

द्वैतवाद

प्रवर्तक—श्री मध्वाचार्य—इनके अनुसार जीव और ब्रह्म नित्य पृथक् सत्ताएं हैं। दास (जीवात्मा) कैसे स्वामी (परमात्मा) के समान हो सकता है?

ब्रह्म—पूर्ण स्वतत्र है। परमतत्त्व ब्रह्म भगवान् विष्णु हैं, जो सृष्टि के रचयिता पालयिता और सहर्ता है। लक्ष्मी, भगवान् की शक्ति है। परमात्मा जीवो को उनके पूर्व-कर्मानुसार, इस जन्म मे भी कर्मों मे लगाते हैं।

जीव—ब्रह्म से सदा पृथक् है और प्रकृति से भी भिन्न है तथा परतन्त्र है। जीव एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। जीव अनेक हैं। वे सब अणु हैं।

जगत्—विकारी और परिवर्तनशील होने पर भी मिथ्या नही है। ब्रह्म इसका निमित्त कारण है और प्रकृति उपादन कारण। ससार जीवो से भरा हुआ है।

साधन—भक्ति (कीर्तन, नृत्य), ध्यान तथा त्याग के द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष—जीव सामीप्य मुक्ति प्राप्त करके भगवान् की सेवा का अधिकारी बनता है। सभी जीव स्वाभाविक सहजानन्द की अनुभूति करते हैं। यही मोक्ष की अवस्था है। मुक्ति के अनन्तर जीव ईश्वर के स्वरूप नही हो जाते केवल ईश्वर के निरन्तर सेवा के अधिकारी होते हैं।

सार रूप मे द्वैतवाद मे मुख्य तथ्य ये हैं —

(क) विष्णु ही परम सत्तावान् हैं।
(ख) जगत् सत्य है।
(ग) जीव ब्रह्म से भिन्न तथा दास है। जीव अनेक हैं। ये साधारण तथा श्रेष्ठ श्रेणियो मे है।
(घ) भगवत्-साक्षात्कार ही मोक्ष है।
(ङ) मोक्ष का साधन भक्ति है।

द्वैताद्वैतवाद

प्रवतक—श्री निम्वार्काचार्य—ब्रह्म सब का नियन्ता है। जीव भोक्ता है, जगत् भोग्य है। ब्रह्म सगुण भी है, निर्गुण भी है। ब्रह्म को ही जगत् का निमित्त एव उपादान कारण माना है।

ब्रह्म—सर्वोच्च सत्ता है। यह अद्वितीय है। यह अपने वास्तविक रूप मे असीम और अनन्त है। अपने दूसरे रूप में जगत् का स्वामी ईश्वर बन जाता है। तीसरे रूप मे जीव बनकर चौथे मे जगत् बन जाता है। चारो परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। श्री निम्वार्काचार्य जी ने ब्रह्म की तुलना भगवान् श्री कृष्ण से की है। राधा उनकी नित्य सहचरी है। ब्रह्म सकल सृष्टि का निर्माता होकर भी उससे अनासक्त रहता है।

जीव—जीवात्मा परब्रह्म परमात्मा का एक अश है। लेकिन इससे अभिन्न भी है जैसे तरगबुदबुदादि जलाशय से भिन्न है, किन्तु जल मे मिलकर पुन जल का रूप धारण कर लेने से अभिन्न भी है। जीव अणु है और अनेक है। जीव ज्ञानस्वरूप है। यह ज्ञान है और ज्ञानी भी है। जैसे सूर्य प्रकाश है और प्रकाश देने वाला भी। प्रलय काल मे सभी जीव सूक्ष्म अवस्था मे ब्रह्म मे समा जाते है। यह सभी अवस्थाओ मे आनन्दमय है।

जगत्—सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ने अपने सकल्प से ही जगत् की रचना कर डाली, जैसे मकड़ी विना किसी बाहरी पदार्थ के अपना जाल अपने आप बुन लेती है। इस प्रकार जगत् का व्यवहार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है, स्वतन्त्र नही है। यह ससार भ्रममात्र नही है, परमात्मा की सूक्ष्म शक्तियो का परिणाम है। अत यह असत्य नही माना जाता। जीव की भाति यह ससार ब्रह्म से भिन्न भी है, और अभिन्न भी।

साधन—भक्ति का साधन प्रपत्ति अर्थात् आत्म-समपण एव नाम-स्मरण है। भक्त ज्ञानी पुरुष ईश्वरेच्छा से ससार मे जीता रहता है। श्री राधाकृष्ण की युगल-मूर्ति मे ब्रह्म की पूजा होती है जो एक होते हुए भी लीला के लिए दो रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ भक्ति ऐश्वय-प्रधान न होकर माधुर्य-प्रधान है।

मोक्ष—जीव और ब्रह्म का चिर ऐक्य ही मोक्ष है। मोक्ष के उपरान्त जीव की अपनी व्यष्टि सत्ता बनी रहती है। यही द्वैताद्वैत है।

शुद्धाद्वैतवाद

प्रवर्तक—श्री वल्लभाचार्य—इनके द्वारा प्रचारित दिव्य-जीवन का मार्ग पुष्टि-माग कहलाता है। आदि गुरु श्री शकराचार्य जी के मायावाद मे विश्वास नहीं करते। उनके कथनानुसार ब्रह्म को माया जैसी किसी सहायक वस्तु की आवश्यकता नही है। इनके मत मे सम्पूण जगत और जीव समुदाय सत्य हैं, और ईश्वर के सूक्ष्म अश हैं। ईश्वर इम जीव समुदाय और जगत् का स्रष्टा और सहर्ता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जीवन में कम से कम एक वार श्रीनाथद्वारा का दर्शन करना अपना पुण्य कतव्य समझता है।

ब्रह्म—श्रीकृष्ण स्वय ही है। वे सच्चिदानन्द, रसपूर्ण पुरुषोत्तम हैं। वे सर्व-शक्तिमान्, सनातन, सवज्ञ और सवव्यापक हैं।

जीव—जीव ईश्वर का अश है, जैसे अग्नि से स्फुलिंग फूटते हैं, वैसे ही सम्पूण ब्रह्म से जीवों का उद्भव होता है। दोनो मे कोई मौलिक भेद नही है। जीव अणु है, कर्ता है और भोक्ता है।

जगत्—ब्रह्म का ही स्वरूप है। प्रभुमय है। यह सत्य है और ब्रह्म में ही समाहित है।

साधन—मनुष्य का अन्त करण पापो के कारण मलिन है। उनके परिष्कार के लिए प्रभु की कृपा पुष्टि-पोषण की परम आवश्यकता है। इसी भक्तिमाग के द्वारा जीवात्मा परमात्मा का सान्निध्य (मोक्ष) प्राप्त करता है।

ये लोग संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। भगवान् की लीला का गान कथा-कीर्तन श्रवण, जप तथा अष्टयाम पूजा करते हैं। इनमे प्रेमा-भक्ति का विकास होता है जिससे वे ईश्वर के दिव्य-तत्त्वो के मर्मज्ञ हो जाते हैं, और अन्त मे उन्हीं को प्राप्त करते हैं।

मोक्ष—भक्तो को मुक्ति नही चाहिये। ये प्रभु की निरन्तर सेवा को ही मोक्ष मानते हैं। श्रीकृष्ण के धाम (गोलोक) मे निवास करना, इनकी लीलाओ का अनुकरण करना, जड या चेतन किसी भी रूप मे उनका सान्निध्य लाभ करना, इत्यादि इनका चरम-लक्ष्य होता है। गोपियाँ अपने मे भी श्रीकृष्ण का दर्शन करती हैं, यही पराभक्ति है।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद

प्रवर्तक—श्री चैतन्य महाप्रभु। श्रीरामानुज और श्रीमध्वाचार्य के विचारो मे प्रभावित थे। यह सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय की ही एक शाखा है, जिसमे कुछ नई विशेषताए है। इन्होंने परमात्मा, आत्मा, माया या प्रकृति सभी को माना है जीव और जगत् परमेश्वर मे भिन्न होकर भी परमेश्वर मे आश्रित हैं। न तो उनसे पृथक् हैं न ही अभिन्न। इनमे अनिर्वचनीय या अचिन्त्य भेद और अभेद हैं, अत इस दर्शन का नामकरण अचिन्त्यभेदाभेद पडा।

ब्रह्म--सच्चिदानन्द स्वरूप है। श्रीविष्णु के रूप मे वे इस जगत् के नियामक हैं। वह माया के प्रभाव से मुक्त होने के कारण निर्गुण है, किन्तु सर्वशक्तिमान् होने के कारण सगुण हैं। वे जगत् के निमित्त तथा उपादान कारण हैं। परमपिता परमेश्वर श्रीकृष्ण ज्ञानियो के लिए ब्रह्म, योगियो के लिए परमात्मा और भक्तो के लिए ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् हैं।

जीव—अणु है। जीवात्मा का परमात्मा से वही सम्बन्ध है, जो अग्नि की दाहिका शक्ति का अग्नि से। इस प्रकार दोनो परस्पर भिन्न भी हैं, अभिन्न भी हैं। जीव माया से प्रभावित होने के कारण पारमार्थिक स्वरूप को भूला रहता है। गुरु एव ईश्वर की कृपा से माया का प्रभाव न्यून होता है। जीव नित्य है।

जगत्—ईश्वर ने महत्तत्त्व से सृष्टि की रचना की। जगत् के अन्य रूपो को रचने का काय ब्रह्मा को दिया गया। जगत् परमेश्वर की शक्तियो की अभिव्यक्ति है। उनके इशारे पर माया सब काम करती है। जगत् न सत्य है, न असत्य है, अचिन्त्य है।

साधन—प्रभु का स्मरण कीर्तन ही भक्ति है। ससार मे व्यस्त रहते हुए भी प्रभु-स्मरण होता रहना चाहिए। नाम-महिमा पर विशेष वल दिया गया है। श्रीकृष्ण प्रेम मे अनुरक्ति ही, मनुष्य को शोक, मोह से मुक्त करके, परम सुखी बनाती है। श्रद्धा वाछनीय है। भगवान् की भाति ही गुरु के प्रति भी श्रद्धा पर वल दिया गया है।

लक्ष्य—जीवात्मा का अपने परमात्मा-स्वरूप को जानना ही परम लक्ष्य है। श्रीकृष्ण-दासत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है।

उपसहार—जनसाधारण के लिए जीव और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार करना सरल नही था। अधिकारी भेद एव रुचि-भेद के कारण इन सोपानो (वादो) की आवश्यकता पडी। ये सब वाद एक ही परम लक्ष्य के सोपान हैं। इनमे परस्पर कोई विरोध नही है, अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। वेद तथा प्रस्थान त्रयी सबको मान्य हैं।

वस्तुत तत्त्व एक ही है। उसी ब्रह्म तत्त्व को श्री मध्वाचार्य जी ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के आधार पर, श्रीरामानुजाचार्य जी ने बौद्धिक-ज्ञान के आधार पर और श्री शकराचार्यजी ने अनुभूति जन्य ज्ञान के आधार पर समझाने का प्रयास किया है।

दशन तथा सम्प्रदाय तालिका

	न्याय	वैशेषिक	साख्य	योग	मीमासा	वेदान्त
	अद्वैत	विशिष्टाद्वैत	द्वैत	द्वैताद्वैत	शुद्धाद्वैत	अचिन्त्यभेदाभेद
आचार्य	श्री शकराचार्य	श्री रामानुजाचार्य	श्री मध्वाचार्य	श्री निम्बार्काचार्य	श्री वल्लभाचार्य	श्री चैतन्य महाप्रभु
सम्प्रदाय		श्री वैष्णव	ब्रह्म	सनकादिक	रुद्र	
ब्रह्म का स्वरूप	निर्गुण, शुद्ध, बुद्ध, नित्य-मुक्त एकरस	सगुण, सविशेष	सगुण	सगुण तथा निर्गुण	सगुण	सगुण
जीव का स्वरूप	मुक्त होने पर ब्रह्म रूप	चेतन, अणु, अनेक	परतन्त्र, सदा पृथक् प्रकृति से भिन्न	अणु, ज्ञानस्वरूप, ब्रह्म से पृथक् होने पर भिन्न पर चैतन्य होने पर अभिन्न	ईश्वर का अश सत्य, अणु, कर्ता, भोक्ता	नित्य, कृष्णदास अणु
जगत्	मिथ्या, असत्य	ब्रह्म के समान सत्य, अचित् मायावी नही	सत्य	सत्य, ब्रह्म से भिन्न व अभिन्न	सत्य, प्रभु का स्वरूप	न सत्य, न असत्य, अचिन्त्य
माया	स्वीकृत, ब्रह्म की शक्ति, न सत्य न असत्य,					

	न्याय	वैशेषिक	सांख्य	योग	मीमांसा	वेदान्त
मोक्ष	ब्रह्मलीनता, ब्रह्म सायुज्य जीवत्व का परित्याग, ब्रह्मत्व मे निष्ठा, जीव ब्रह्म का ऐक्य।	सारूप्य, जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो कर तत्सदृश होना,	सामीप्य, सेवा के अधिकारी	चिर मिलन	गोलोक मे सान्निध्य निरन्तर सेवा ही मोक्ष	दासत्व-प्राप्ति को ही मोक्ष
साधना	चिन्तन, मनन, ज्ञान	नाम-स्मरण आत्मसमर्पण	कीर्तन, नृत्य	नाम-स्मरण स्वकीया भाव	सेवा, सख्य	श्रवण कीर्तन परकीयाभाव
भगवत्प्रतीक	निराकार	नारायण	कृष्ण	राधाकृष्ण	राधाकृष्ण	कृष्ण वैसे तो एक तत्व राधा तत्व की विशेषता
भाषा	संस्कृत	संस्कृत	संस्कृत	संस्कृत	ब्रजभाषा	बंगला
केन्द्र	उत्तर—जोशीमठ, पूर्व—जगन्नाथपुरी, दक्षिण—शृंगेरीमठ पश्चिम—द्वारिका	अयोध्या	वृन्दावन	द्वारिका	श्रीनाथद्वारा	नवद्वीप, वृन्दावन

अध्याय ८

धार्मिक सुधारवादी आंदोलनों का युग

आदि काल मे यज्ञ पद्धति की प्रथा थी। अग्नि आदि देवताओ की प्रसन्नता एव स्वर्ग-प्राप्ति के लिये, अनावृष्टि के प्रकोप को दूर करने के लिए, पुत्र-प्राप्ति आदि कामनाओ की पूर्ति के हेतु, यज्ञ प्रधानता पा चुके थे। पर अब यह प्रथा सरल न रह कर जटिल हो चली थी। हर चीज की अति बुरी होती है, साथ ही क्रिया और प्रति-क्रिया का भी क्रम चलता आया है। अतएव जनसाधारण का यज्ञो के प्रवृत्ति मार्ग से ऊब जाना स्वाभाविक था। यज्ञो मे की गई पशु-बलि की हिंसक प्रवृत्ति की वृद्धि मे जनता को विरक्ति भी होने लगी थी।

अत वे चाहते थे निवृत्तिपरक ज्ञान। किन्तु उपनिषदो से प्राप्त हुए ज्ञान मे याज्ञिक कर्म गौण भले ही थे, परन्तु जिस ब्रह्म-विद्या और ज्ञान पर बल दिया गया, वह भी दुर्बोध और जटिल प्रतीत हुआ। उसे केवल बुद्धिजीवी वर्ग ही समझ सकता था। पशु हिंसा की प्रतिक्रिया के रूप में लोगो के हृदयो मे दया की प्रबल भावना उमडने लगी। समय की ऐसी मांग की पूर्ति के लिये इस पृष्ठभूमि मे जैन और बौद्धमत सामने आये।

जैन धर्म

कहने को तो महावीर वर्धमान जैनमत के सस्थापक कहे जाते हैं, पर तथ्य यह है कि वे अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर थे। जैन धर्मावलम्बी तो अपने वर्ग को सृष्टि के साथ ही निर्मित मानते हैं। इनके अनुसार राजर्षि ऋषभ प्रथम तीर्थंकर थे। आर्य धर्म मे ऋषभ देव का ऊँचा स्थान है।

महावीर वर्धमान के २५० वर्ष पहले २३वें तीर्थंकर श्रीमहात्मा पार्श्व हुए। आप भी ३०वें वर्ष मे राजपाट को त्याग कर वन मे तपस्या करने चले गये। तदुपरान्त पूरे ७० वर्ष जैन धर्म का प्रचार करके महात्मा पार्श्व ने पार्थिव शरीर छोडा। उन्होंने जीवनपर्यंत इन चार व्रतो पर बहुत बल दिया था,

(१) सत्य और केवल सत्य का व्यवहार।
(२) कायिक, वाचिक, मानसिक हिंसा का पूर्णतया त्याग।
(३) अस्तेय।
(४) अपरिग्रह—अनावश्यक कुछ भी संचित न करना।

वर्धमान महावीर का संक्षिप्त जीवन चरित्र तथा उपदेश

आज से २५६५ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को इक्ष्वाकु वंश के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला देवी को एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई थी, जिसका नाम वर्धमान रखा गया। राजकुमार को यथोचित शिक्षा दिलाई गई। माता के अनुरोध पर विवाह हुआ और कन्या हुई जिसका नाम प्रियदर्शनी रखा गया। माता-पिता के देहान्त होने पर भ्राता के आग्रह से राज प्रबन्ध मे कुछ सहयोग देकर ३० वर्ष की अवस्था मे उन्होने गृह त्याग कर दिया।

अति उग्र तप करके उन्होंने सिद्धिया प्राप्त की। दूसरो के मन की बात जान लेना इनके लिए बच्चो का खेल था। तपस्या जारी रही। छह छह मास निर्जल रहे। महीनो खडे ही रहे। कहा जाता है कि उन्होने साढे बारह वर्षों मे ३४ बार ही आहार किया था। वे सामान्य मनुष्य तो थे नही। उनका निश्चय हिमालय की तरह अविचल था। उनके धैर्य और मनोबल को देखकर ही उन्हे 'महावीर' की पदवी मिली। वे सर्वज्ञ और महासिद्ध थे। ५२७ ई० पूर्व ७२वें वर्ष मे कैवल्य पद प्राप्त किया।

उपदेश—वर्धमान महावीर ने भूत-दया और अहिंसा के कल्याणमय धर्म का उपदेश प्रारम्भ किया। बडे-बडे नरेश इसे सुनकर साधु हो गये। उनके शिष्यो मे चारों वर्णो के महापुरुष हुए हैं। श्रीऋषभदेवजी के चार उपदेशो मे इन्होने पाँचवा और जोड दिया, जिसमे ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया था।

स्याद्वाद—जैनमत की सबसे विलक्षण देन इसका स्याद्वाद है—"एक ही वस्तु मे देश, काल तथा अवस्था भेद से अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध धर्मों का होना सम्भव है। अत एकान्त रीति से अमुक वस्तु का अमुक धर्म है, दूसरा नहीं—यह कहना ठीक नही।" इस प्रकार सत्य के अनेक पहलू हैं, तभी तो इसे **'अनेकान्तवाद'** कहा जाता है। इसमे जैन धर्म की अहिंसा भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची। केवल अपनी बात को ही ठीक कहते रहने का आग्रह करना भी हिंसा-तुल्य है। इससे दूसरे के मत का आदर करना आवश्यक हो जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्त की स्थापना करने का श्रेय 'महावीर' को ही है।

संदेश तथा मानव संस्कृति को देन—समाज मे दया, परोपकार अहिंसा तथा जीवन में त्याग, तितिक्षा, तप, संयम, इन्द्रिय-निग्रह यही मनुष्य जाति के लिए उनका

सदेश है। महावीर ने मानव सस्कृति को अहिसा, त्याग तथा तप का जो वरदान दिया वह अनेक जातियो के लिए आदर्श रहा है। मनुष्य अपनी दुर्बलता से उसे भले न अपना सके, परन्तु यह स्वत सिद्ध है कि मानव उन्नति तथा कल्याण, त्याग, सयम, और अहिसा मे है।

अहिसा को जितने व्यापक एव सार्वभौम रूप मे जैन धर्म मे ग्रहण किया गया है, उतने व्यापक रूप मे दूसरे किसी धर्म मे नही लिया गया। घोर तपस्या और उससे प्राप्त सिद्धियो के लिए जैन महात्मा सदा विख्यात हैं। १३वें महीने मे कपडे फटकर स्वत ही उनके शरीर को छोड गये। उन्होंने फिर वस्त्र धारण ही न किये। तभी से इस आदि-दिगम्बर के अनुयायी भी दिशाओ को अपना अम्बर (वस्त्र) मानते चले आ रहे हैं। इनसे पहले के २३ तीर्थंकरो को मानने वाले श्वेताम्बर कहलाते हैं।

जैन दर्शन—वेदो की प्रमाणिकता मे जनमत विश्वास नही रखता।

आत्म तत्त्व—जैन धर्म आत्म-तत्त्व को मानता है।

जगत्—अनादि है। इसका रचयिता कोई नहीं। यह उत्पत्ति और विनाश रहित है। जगत् प्रकृति के नियमो से चल रहा है।

लक्ष्य—जैन मतानुसार मनुष्य का लक्ष्य कैवल्य पद की प्राप्ति है। इसी को वह परम पुरुषार्थ मानते हैं। इसकी प्राप्ति के लिए ससार का त्याग आवश्यक है। जैन महात्माओ के मतानुसार जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है। तपस्या द्वारा आवागमन से छुटकारा पाना मोक्ष है।

सोपान—मोक्ष प्राप्ति के लिए ७ सोपान हैं

१ **जीव**—आत्मा को कहते हैं।

२ **अजीव**—शरीर।

३ **आस्रव**—अर्थात् कर्म सस्कार—शरीर, वाणी और मन से आस्रव स्फुटित होता है। मिथ्या दर्शन, अवरति तथा प्रमाद के कारण ही आत्मा शरीर मे बधता है।

४ **बध**—कर्म-सस्कार द्वारा आत्मा-शरीर का बधन ही बध कहलाता है।

५ **सवर**—वर्तमान कर्म करते हुए कर्मो मे अनासक्ति का नाम ही सवर है। सवर मोक्ष का कारण है।

६ **निर्जरा**—पूर्व जन्म के सचित कर्मो से छुटकारा पाने के लिए सतत उद्योग (तपस्या) ही निर्जरा है।

७ **कैवल्य पद (मोक्ष)**—पूर्व सचित कर्मो एव वर्तमान कर्मो से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

महावीर स्वामी को ऐसा आभास हुआ कि उनके समस्त पूर्व जन्म एव इस जन्म के ३० वष व्यथ गए। उन्होने शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए १२ अनुप्रेपो पर विचार करना आवश्यक समझा

१ जगत् के सब पदाथ नश्वर हैं।
२ आत्मा ही एकमात्र आधार है।
३ यह जगत अनादि है।
४ आत्मा की सहायता आत्मा ही कर सकता है।
५ आत्मा शुद्ध और शरीर अशुद्ध है।
६ मन, आत्मा से भिन्न है।
७ कम बन्धन का मूल कारण कर्मों मे आसक्ति है।
८ कम से छुटकारा ही परम ध्येय है।
९ कम चक्र से निकलने का नाम ही मुक्ति है।
१० मुक्त आत्मा ही श्रेष्ठ है।
११ मनुष्यता का भास तथा मुमुक्षत्व की कामना ही वरदान है।
१२ त्रिरत्न (सद्-विश्वास, सद्-ज्ञान और सदाचार) की प्राप्ति ही केवल परम अचार है। इन तीनो के समन्वय से ही मोक्ष का मार्ग बना है। सद् ज्ञान से वस्तुस्थिति का पता चलता है। सद् विश्वास से उन पर विश्वास होता है। सदाचार से कर्मगति का अवरोध होता है, फलस्वरूप सत्तपस्या से पवित्रता की प्राप्ति होती है।

जैन धम मे अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया गया। अहिंसा को परम धम मानने वाले जैन लोग पानी भी छानकर पीते हैं। जो जैन लोग पूणरूपेण शाकाहारी होते हैं वे उठते बैठते, चलते-फिरते इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि जीव हिंसा न हो जाए। वे लोग भोजन सन्ध्या से पूव कर लेते हैं। कीटाणु के प्रवेश को रोकने के लिए हर समय मुह से कपडा बाधे रहते हैं। जैन-धर्म स्वावलम्बी, अपने तीर्थंकरो को पूज्य रूप मे मानते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि उनके तीर्थंकर परम-धाम मे निवास करते है। इस श्रेष्ठ पद को उन्होंने अपने तप के बल पर ही प्राप्त किया। जैन मन्दिरो मे इन्ही तीर्थंकरो की प्रतिमाओ की पूजा होती है। तीथ का अर्थ है—भव-सागर को पार करना, जिसने पार कर लिया हो उसे तीर्थंकर कहते हैं।

महावीर के सिद्धान्त

१ अहिंसा को महावीर स्वामी ने विश्व-शान्ति का मूल कहा है। इसी एक शक्ति के द्वारा मानव तो क्या प्राणिमात्र का कल्याण हो सकता है।

२ अपरिग्रहवाद को विश्व शान्ति का दूसरा प्रधान कारण कहा है, जितने क्लेश व झगडे हैं उन सबका कारण परिग्रह ही होता है। अपरिग्रह का भाव है, इच्छाओ को कम करना।

३ स्याद्वाद जैन मत का अपना एक स्वतन्त्र मौलिक सिद्धान्त है। इसी के द्वारा विश्व मे, राष्ट्र मे, समाज मे तथा प्राणिमात्र मे शान्ति के वीज वोये जा सकते हैं।

४ महावीर स्वामी ने कर्म सिद्धान्त को अति विशाल रूप से दर्शाया है। इसके समझे विना सिद्धान्त अधूरा है। जीव कम कैसे करता है, उन्हे कैसे भोगता है तथा उससे किस प्रकार छुटकारा पाता है, उन्होने इन्ही सव वातो को अपने कम-सिद्धान्त मे वतलाया है।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म से पूर्वकाल—बुद्ध के समय से पूर्वकाल का मगध साम्राज्य आजकल के गगा के दक्षिण मे दक्षिण-विहार तक फैला हुआ था और राजधानी राजगृह नगरी थी। गगा के उत्तर मे प्रवल लिच्छिवियो का राज्य था जिसकी राजधानी वैशाली थी। जिसे इन दिनो पूर्वी विहार कहते हैं, उसका नाम अग प्रदेश था। उत्तर पश्चिम मे कोसल राज्य की पुरानी राजधानी अयोघ्या के उजड जाने से नवीन राजधानी श्रावस्ती हरी-भरी थी। पास मे रोहणी नदी के दोनो किनारो पर शाक्य और कोली दो स्वतन्त्र जातिया आमने सामने राज्य कर रही थी। शाक्यो की राजधानी कपिल-वस्तु के राजा शुद्धोधन कोली महाराज की दोनो वेटियो से विवाह कर लाये थे।

बुद्ध का जन्म—वहुत समय वाद वडी रानी महामाया देवी प्रसवार्थ मायके जा रही थी कि रास्ते मे ही नेपाल के लुम्विनी नामक स्थान पर ५६३ ई० पू० मे सिद्धार्थ का जन्म हुआ। वे एक सप्ताह के थे कि माता चल वसी। फलत पालन-पोषण का उत्तरदायित्व विमाता गौतमी पर आ पडा। वह उनकी मौसी भी लगती थी। तभी से इनका नाम 'गौतम' पडा था। वैसे गोत्र भी गौतम था। यही सिद्धार्थ वाद मे 'गौतम बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए। महाराज शुद्धोधन को ज्योतिपियो ने वतला रखा था कि यह वालक ससार मे महान् कार्य करेंगे। चक्रवर्ती महाराज होगे या फिर घर-वार त्याग कर सवका उद्धार करेंगे।

वाल्यकाल—सिद्धार्थ ने गुरु-गृह मे रहकर अल्पकाल मे ही अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण सव शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इधर महाराज को वरावर भविष्य-वाणी याद रहती। तभी उन्होंने पूर्ण सावधानी से इस वात का घ्यान रखा कि किसी भी दु खदायक घटना का ज्ञान राजकुमार को न होने पाये।

विवाह और गृह त्याग—राजा शुद्धोधन ने १८ साल की आयु मे राजकुमार का परमसुन्दरी यशोधरा राजकुमारी से स्वयम्वर रीति से विवाह कर दिया। पर होनी तो होकर ही रही। एक दिन जव राजकुमार वायु-सेवनार्थ जा रहे थे। अकस्मात् वृद्ध, रोगी, शव-यात्रा के दृश्य आखो के सामने आ गये। मन राजकुमार का विरक्त होना ही था। उनका मन ससार से उचाट हो गया।

सिद्धाथ के हृदय मे मनुष्य मात्र के दु ख दूर करने की अभिलाषा हुई। वे ऐसे उपाय की खोज मे थे, जिसे न तो धन और न ही अधिकार द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। तभी पुत्र-रत्न की प्राप्ति जो हुई, तो उसे उन्होंने नया विघ्न माना और इसीलिए नाम रखा 'राहुल' किन्तु उन्होंने इस नये बन्धन मे न पडने का दृढ निश्चय कर लिया। जब सारा राज्य हर्षोत्सिव मनाकर रात को देर से सोया ही था कि गौतम ने अपने अश्व को लेकर सारथि छन्दक के साथ आधी रात को निस्तब्धता मे गृह-त्याग किया। कपिलवस्तु से २४ कोस दूर नदी के तट पर पहुच कर गौतम घोडे से उतर पडे और अपने वस्त्राभूषण छन्दक को सौंप कर उसे कपिलवस्तु लौट जाने को कहा और यह सदेश दिया कि "अब मे बुद्धत्व प्राप्न करके शान्त चित्त से ही लौटूगा, इसलिए पिताजी चिन्ता न करें।"

खोज और बुद्धत्व की प्राप्ति—तत्पश्चात् गौतम त्यागी-वेप मे कुछ दिन वैशाली मे रहे। वहाँ से राजगृह मे आकर महापडित रुद्र के साथ रहे। वाद मे आचाय अलार वल्लभ के यहाँ रहे। वहाँ भी सन्तोप न हुआ तो ज्ञान प्राप्ति के लिए उद्रक सन्यासी के पास रहकर उन्होंने दशन शास्त्र का अध्ययन किया। लेकिन निरे तार्किको से, जिनको अनुभव-जन्य आत्म-बोध था ही नही, एक सच्चे आत्मशोधक की तृप्ति भला कैसे हो सकती थी ?

अत वे तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के विचार से आधुनिक गया के निकट वर्ती जगल मे गये, जहाँ पाच साथियो के साथ छह साल तक कठोर तपस्या की शरीर सूख कर काटा हो गया। एक दिन अत्यन्त दुवलता के कारण वे गि पडे। तव उनके विचार ने पलटा खाया और वे इस निर्णय पर पहुँचे कि तपस्य व्यथ है और उन्होंने उसे त्याग दिया। इस पर पाचों साथी उन्हे छोडक काशी चले गये। अन्त मे वे पीपल के पेड के नीचे इस प्रण से बैठे कि उठेंगे त तव जव ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। इन्द्रियो ने ललचाया, पर अन्ततोगत्वा सत का प्रकाश नेत्रो के सामने चमकने लगा। वैशाख पूर्णिमा के दिन उन्होंने अने प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के बाद बुद्धत्व प्राप्त कर लिया। ससार व समस्त रहस्योद्घाटन हो गया। ससार के दु ख का कारण तथा उसके निरोध उपाय भी ज्ञात हो गया। गौतम ने समझ लिया कि न तो मन को ससार की विल मिता मे फसने दे और न ही निरयक दु खदायक तपस्या के चक्कर मे पडे। इन दो के बीच के माग से ही शाति और सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस बोध से वे स्व तो 'बुद्ध' कहलाये और पीपल वृक्ष (अश्वत्य) "बोधि-वृक्ष"।

उद्देश्य तथा प्रचारार्थ भ्रमण—इस समय देश मे कमकाण्ड का प्राधान्य थ राजस तामस यज्ञो मे वलि प्रथा मे हिंसा को प्रोत्साहन मिल रहा था। इस हिंसा अ रक्तपात मे बुद्ध का हृदय करुणा-विगलित हो उठा। वे हिंसा वृत्ति के उन्मूलन अ

३ स्याद्वाद जैन मत का अपना एक स्वतन्त्र मौलिक सिद्धान्त है। इसी के द्वारा विश्व मे, राष्ट्र मे, समाज मे तथा प्राणिमात्र मे शान्ति के वीज वोये जा सकते हैं।

४ महावीर स्वामी ने कर्म सिद्धान्त को अति विशाल रूप से दर्शाया है। इसके समझे विना सिद्धान्त अधूरा है। जीव कर्म कैसे करता है, उन्हे कैसे भोगता है तथा उससे किस प्रकार छुटकारा पाता है, उन्होने इन्ही सब वातो को अपने कर्म-सिद्धान्त मे वतलाया है।

वौद्ध धर्म

वौद्ध धर्म से पूर्वकाल—वुद्ध के समय से पूर्वकाल का मगध साम्राज्य आजकल के गगा के दक्षिण मे दक्षिण-विहार तक फैला हुआ था और राजधानी राजगृह नगरी थी। गगा के उत्तर मे प्रवल लिच्छिवियों का राज्य था जिसकी राजधानी वैशाली थी। जिसे इन दिनो पूर्वी विहार कहते है, उसका नाम अग प्रदेश था। उत्तर पश्चिम मे कोसल राज्य की पुरानी राजधानी अयोध्या के उजड जाने से नवीन राजधानी श्रावस्ती हरी-भरी थी। पास मे रोहणी नदी के दोनो किनारो पर शाक्य और कोली दो स्वतन्त्र जातिया आमने सामने राज्य कर रही थी। शाक्यो की राजधानी कपिल-वस्तु के राजा शुद्धोधन कोली महाराज की दोनो वेटियो से विवाह कर लाये थे।

वुद्ध का जन्म—वहुत समय वाद वडी रानी महामाया देवी प्रसवार्थ मायके जा रही थी कि रास्ते मे ही नेपाल के लुम्विनी नामक स्थान पर ५६३ ई० पू० में सिद्धार्थ का जन्म हुआ। वे एक सप्ताह के थे कि माता चल वसी। फलत पालन-पोषण का उत्तरदायित्व विमाता गौतमी पर आ पडा। वह उनकी मौसी भी लगती थी। तभी से इनका नाम 'गौतम' पडा था। वैसे गोत्र भी गौतम था। यही सिद्धार्थ वाद मे 'गौतम वुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए। महाराज शुद्धोधन को ज्योतिषियो ने वतला रखा था कि यह वालक ससार मे महान् कार्य करेंगे। चक्रवर्ती महाराज होंगे या फिर घर-वार त्याग कर सवका उद्धार करेंगे।

वाल्यकाल—सिद्धार्थ ने गुरु-गृह मे रहकर अल्पकाल मे ही अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण सव शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इधर महाराज को वरावर भविष्य-वाणी याद रहती। तभी उन्होने पूर्ण सावधानी से इस वात का ध्यान रखा कि किसी भी दु खदायक घटना का ज्ञान राजकुमार को न होने पाये।

विवाह और गृह त्याग—राजा शुद्धोधन ने १८ साल की आयु मे राजकुमार का परमसुन्दरी यशोधरा राजकुमारी से स्वयम्वर रीति से विवाह कर दिया। पर होनी तो होकर ही रही। एक दिन जव राजकुमार वायु-सेवनार्थ जा रहे थे। अकस्मात् वृद्ध, रोगी, शव यात्रा के दृश्य आखो के सामने आ गये। मन राजकुमार का विरक्त होना ही था। उनका मन ससार से उचाट हो गया।

सिद्धार्थ के हृदय मे मनुष्य मात्र के दु ख दूर करने की अभिलाषा हुई। वे ऐसे उपाय की खोज मे थे, जिसे न तो धन और न ही अधिकार द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। तभी पुत्र-रत्न की प्राप्ति जो हुई, तो उसे उन्होंने नया विघ्न माना और इसीलिए नाम रखा 'राहुल' किन्तु उन्होने इस नये बन्धन मे न पडने का दृढ निश्चय कर लिया। जब सारा राज्य हर्षोत्सव मनाकर रात को देर से सोया ही था कि गौतम ने अपने अश्व को लेकर सारथि छन्दक के साथ आधी रात को निस्तब्धता मे गृह-त्याग किया। कपिलवस्तु से २४ कोस दूर नदी के तट पर पहुच कर गौतम घोडे से उतर पडे और अपने वस्त्राभूषण छन्दक को सौंप कर उसे कपिलवस्तु लौट जाने को कहा और यह सदेश दिया कि "अब मै बुद्धत्व प्राप्त करके शान्त चित्त से ही लौटूगा, इसलिए पिताजी चिन्ता न करें।"

खोज और बुद्धत्व की प्राप्ति—तत्पश्चात् गौतम त्यागी-वेष मे कुछ दिन वैशाली मे रहे। वहाँ से राजगृह मे आकर महापण्डित रुद्र के साथ रहे। बाद मे आचार्य अलार कल्लभ के यहाँ रहे। वहाँ भी सन्तोष न हुआ तो ज्ञान प्राप्ति के लिए उद्रक सन्यासी के पास रहकर उन्होने दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया। लेकिन निरे तार्किको से, जिनको अनुभव जन्य आत्म-बोध था ही नही, एक सच्चे आत्मशोधक की तृप्ति भला कैसे हो सकती थी ?

अत वे तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के विचार से आधुनिक गया के निकट-वर्ती जगल मे गये, जहाँ पाच साथियो के साथ छह साल तक कठोर तपस्या की। शरीर सूख कर काटा हो गया। एक दिन अत्यन्त दुर्बलता के कारण वे गिर पडे। तब उनके विचार ने पलटा खाया और वे इस निर्णय पर पहुँचे कि तपस्या व्यर्थ है और उन्होंने उसे त्याग दिया। इस पर पाचों साथी उन्हे छोडकर काशी चले गये। अन्त मे वे पीपल के पेड के नीचे इस प्रण से बैठे कि उठेंगे ही तब जब ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। इन्द्रियो ने ललचाया, पर अन्ततोगत्वा सत्य का प्रकाश नेत्रो के सामने चमकने लगा। वैशाख पूर्णिमा के दिन उन्होने अनेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के बाद बुद्धत्व प्राप्त कर लिया। ससार का समस्त रहस्योद्घाटन हो गया। ससार के दु ख का कारण तथा उसके निरोध का उपाय भी ज्ञात हो गया। गौतम ने समझ लिया कि न तो मन को ससार की विला-सिता मे फसने दे और न ही निरर्थक दु खदायक तपस्या के चक्कर मे पडे। इन दोनो के बीच के मार्ग से ही शांति और सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस बोध से वे स्वय तो 'बुद्ध' कहलाये और पीपल वृक्ष (अश्वत्थ) "बोधि-वृक्ष"।

उद्देश्य तथा प्रचारार्थ भ्रमण—इस समय देश मे कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। राजन तामस यज्ञो मे बलि-प्रथा से हिंसा को प्रोत्साहन मिल रहा था। इस हिंसा और रक्तपात से बुद्ध का हृदय करुणा-विगलित हो उठा। वे हिंसा वृत्ति के उन्मूलन और

जन-कल्याण के लिए सन्नद्ध हो उठे। अपने उपदेशों का प्रचार एव प्रसार करने के लिए, भ्रमण के लिए निकल पड़े। उनको स्वय तप और चिन्ता के मार्ग से चलना ही पड़ा था। अतएव उन्होने इन दोनो को ही प्रधान माना। शास्त्रोक्त विधि के नाम पर जो तामस-राजस कृत्य पूजनादि प्रचलित थे वे शास्त्रोक्त नही है। इसे प्रमाणित करने की अपेक्षा उन्होने अपने अनुभूत-सत्य को ही अपने ढग से प्रसारित करना उचित माना। उन्होंने समझ लिया कि पवित्र जीवन तथा प्राणिमात्र के लिए प्रेम और दया का भाव ही उत्तम मार्ग है।

सबसे पहिले वे काशी के समीप सारनाथ पहुँचकर अपने पाच ब्राह्मण साथियो से मिले और उन्हें अपना नया सिद्धान्त बतलाया। उन्होने काशी मे पाच महीनो के अन्दर साठ शिष्य बनाये और मनुष्य मात्र को नया मुक्ति मार्ग बताने के लिए उन्हें उन शिष्यो को भिन्न-भिन्न दिशाओ को भेज दिया।

वे स्वय गया गये और वहाँ चार शिष्य बनाये। उनमे से एक कश्यप था जो वैदिक-धर्म का बड़ा अनुयायी और दार्शनिक था। इसके फलस्वरूप महात्मा बुद्ध की ख्याति बढी। फलत गया मे ही तत्काल एक हजार शिष्य बन गये। उन्हें साथ ले वे राजगृह आये, वहाँ राजा बिम्बसार ने अपने सब सेवको के साथ उनसे दीक्षा ली।

वही पर सारिपुत्र और मौद्गलायन उनके शिष्य बने। उनकी शिष्य परम्पराओ मे सारिपुत्र और मौद्गलायन अधिक प्रसिद्ध है। उनकी बढती हुई ख्याति सुन कर महाराज शुद्धोधन ने उनको कपिलवस्तु मे आमन्त्रित किया। भिक्षा पात्र लिये राजकुमार को द्वार पर देखकर भला किसका हृदय न पिघलता। उनका उपदेश सुनकर राज-परिवार के समस्त सदस्य तथा शहर के नागरिक बौद्ध-धम के अनुयायी बन गये, जिनमे उनका पुत्र बालक राहुल भी था। वहाँ से चलकर उनका प्रचार आन्दोलन बढता ही गया। जब उन्हे बाद मे अपने पिता की अन्तिम बीमारी की सूचना मिली तो गौतम बुद्ध ने कपिलवस्तु पहुँचकर अपने पिता की सेवा सुश्रूपा उसी प्रकार की जैसे बाद मे शकराचार्य जी ने अपनी माता की सेवा उनके अन्तकाल के समय की थी। पिता की मृत्यु के पश्चात गौमती और पत्नी यशोधरा भी भिक्षुणी बन गयी। यद्यपि महात्मा बुद्ध स्त्रियो को दीक्षा नही देना चाहते थे तथापि माता और पत्नी के अनुरोध को न टाल सके। हा, इतना नियम अवश्य बना दिया कि भिक्षुणियो के विहार अलग बनें।

चार मुख्य शिष्य—ये थे 'आनन्द','अनिरुद्ध', 'उपालि' और 'देवव्रत'। जिनमे सर्वप्रथम कृपापात्र आनन्द ही था जिसने बुद्ध की मृत्यु के तुरन्त बाद पाच सौ भिक्षुओ की पहली सभा करके उनके सब प्रवचनों और सिद्धान्तो को एकत्र करके दोहराया था।

अनिरुद्ध बडे व्याख्याता हुए। कहते हैं, उन्हें दिव्य-चक्षु प्राप्त थे।

उपालि नापित जाति का था। अपनी मानसिक शक्तियो के कारण बुद्ध-सघ का बडा नेता बना। विनय-पिटक तथा आनन्द-सूत्र-पिटक का सग्रहकर्ता यही था।

चौथा शिष्य देवव्रत बुद्ध के स्वजनो में से था। किन्तु वह उनकी महत्ता से ईर्ष्या रखता था। उसने राजा अजातशत्रु के साथ षड्यन्त्र रचकर बुद्ध की हत्या भी करनी चाही थी, किन्तु निष्फल रहा। पीछे रोगग्रस्त होने पर पश्चात्ताप किया और अपने कृत्य पर लज्जित हुआ। क्षमा याचना के लिए वह महात्मा बुद्ध के पास जा ही रहा था कि माग मे ही उसने उनका स्मरण करते-करते प्राण दे दिये। ८० साल की आयु मे मृत्यु शय्या पर पडे हुए बुद्धदेव ने अपने शिष्यो को बुलाकर उपदेश दिया, इसके बाद क्रमश समाधि की अवस्था मे प्रवेश करते हुए निर्वाण को प्राप्त हुए।

बुद्ध की शिक्षा पद्धति—महात्मा बुद्ध ने कभी ऐसा भास तक नही होने दिया कि वे कोई नया मत चला रहे हैं। बुद्ध सदा यही कहते रहे कि यही धर्म है। काल के प्रभाव से धम मे जो अनावश्यक तत्त्व आ गये थे उन्हे हटाकर धम के सत्य स्वरूप को पुन स्थापित करना चाहा। यथा सन्यास, वैराग्य, अहिंसा, कम को प्रधानता देना, करुणा, स्वग की अपेक्षा मोक्ष-जीवन का ध्येय बनाना आदि तथ्य हमारे धार्मिक ग्रन्थो मे पहले से ही मिलते थे। वे स्वय तो बौद्ध नही, हिन्दू जन्मे थे, सो हिन्दुत्व को ही सशोधित किया। हिन्दू परम्परा के अनुसार देह का त्याग करने पर चिता मे जलाये गये। उनकी भस्मी आठ भागो मे वितरित कर दी गयी, जिसमे मुख्य प्राप्तकर्ता मगध के राजा अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवी और कपिलवस्तु के शाक्य थे। आठो जगह अस्थियो पर स्तूप बनाये गये, नवा स्तूप उस पात्र पर बनी जिसमे अस्थिया रखी गयी थीं।

बुद्ध का दार्शनिक सिद्धान्त—बुद्ध ने चार आदि सत्य बताए—१ दुख, २ दुख का हेतु ३ दुःख का निरोध सम्भव है, और ४ दुःख के निरोध का उपाय।

इस ससार को उन्होने "दुःखालय" की सज्ञा दी। जन्म मरण, आधि-व्याधि, वृद्धावस्था तथा मृत्यु महान् दुख हैं।

ससार के सब पदार्थ क्षणभगुर हैं और दुःख इन्ही का फल है। अभिलाषाओ की पूर्ति पहले तो पूर्णतया होती ही नही। यदि कठिनाइयों को झेलने के बाद उनकी पूर्ति हो भी जाए तो एक की पूर्ति दूसरी कामना को खडा करके दुख का कारण बनती है। इस प्रकार कामनायें सुख का कारण न बन दुख ही का कारण बनती हैं। दुःख के जानने मात्र से दुख की निवृत्ति तो होती नहीं, अतएव दुख का कारण ढूढना होगा। उन्होने दुःख के कारण को इस तरह बतलाया।

कारण—दुःख का मूल कारण कामना ही है। तृष्णा आजीवन बनी ही रहती

है, उत्तरोत्तर बढती ही है कम नही होती, यही सब पापो की जड है। इसकी तृप्ति कभी नही होती। यह तृष्णा ऐन्द्रिक विषयो के सयोग होने पर ही उत्पन्न होती है।

निरोध तथा उपाय—पर ऐसी बात नही कि तृष्णा का कारण मिटाया ही न जा सके। सब कुछ सम्भव है, उपाय ढूढना होगा।

तृष्णा-नाश का नाम निर्वाण है। दुःख-नाश का उपाय ही अष्टाग मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी को मध्य-मार्ग भी कहते हैं।

(१) **सम्मा-दिट्ठी**—अर्थात् सम्यक् दृष्टि। दुःख समुदय का और दुःख निरोध का ज्ञान ही सच्चा दृष्टिकोण है। जब तक ससार को दुःख रूप न मानेंगे तब तक इस ससार को त्यागने का लक्ष्य होगा ही नही।

(२) **सम्मा-सकल्प**—अर्थात् सम्यक् सकल्प। ऊपर बतायी गयी सच्ची दृष्टि से ही यह सत्य सकल्प आता है कि तृष्णा त्याग के बिना दुःख से छुटकारा नही। अत अपनी तृष्णा का क्षय करते हुए अद्वेष, अहिंसा और मैत्री का सकल्प लें।

(३) **सम्मा वाचा**—सम्यक् वाक्य—वार्ता का तप करना होगा। जिह्वा को दूसरो की निन्दा, चुगली, झूठी गवाही, अपमान, कटुता, गपशप आदि व्यर्थ की सारहीन बातो से हटाना होगा।

(४) **सम्मा-कम्मान्त**—अर्थात् सम्यक् कर्मान्त। आत्मा को न मानते हुए भी बुद्ध ने वैदिक धर्म की भाति ही आवागमन माना है। मनुष्य के सस्कार ही कर्मानुसार बुरा या भला नया रूप लेते हैं। जैसा बोयेंगे, वैसा ही काटेंगे, यह अकाट्य नियम है। स्वय बुद्ध के जातक कथाओ के अनुसार कई जन्म हुए थे।

कर्मों मे पचशील मुख्य है—

शील कहते हैं सर्वथा पाप-निवृत्ति को। यह पाच नियम सब बौद्ध गृहस्थो तथा भिक्षुओ के लिये अनिवार्य है।

(क) कोई किसी को मारे नही,
(ख) कोई वस्तु चोरी न करे,
(ग) कोई झूठ न बोले,
(घ) नशीली चीजो का पूर्णतया त्याग करे,
(ङ) व्यभिचार न करे।

इनके अतिरिक्त केवल भिक्षुओ के लिये कुछ नियम और हैं—

१ रात्रि मे देर से भोजन न करे।

२ फूलमालादि न पहने, न किसी प्रकार का सुगन्धित द्रव्य फुलेलादि लगाये।

३ सदा भूमिशयन ही करे। पलगो और नरम गद्दो का सर्वथा त्याग करे।

४ सोने चादी आदि को व्यवहार मे न लावे।

५ सम्मा जीव अर्थात् सम्यक् जीविका—मनुष्यो की आजीविका का साधन भी शुद्ध ही होना चाहिए, जिसमें कि बौद्धमत के नियम का उल्लघन न होता हो। मांस शराब आदि न बेचें। हिंसा, चोरी भी न करनी पड़े क्योंकि जैसा धन आवेगा, उसके खरीदे अन्न से वैसा ही मन बनेगा।।

६ सम्मा-वायाम अर्थात् सम्यक व्यायाम—यहाँ व्यायाम का आशय कसरत या योग साधनो से न हो कर शुभोद्योग से ही है। आचार विचार द्वारा—

(अ) पुराने अवगुणो का नाश,
(ब) नये अवगुणों से बचे रहने का प्रयत्न,
(स) अच्छे गुणो की प्राप्ति का प्रयत्न,
(द) और आगे उनकी वृद्धि का प्रयत्न।

बराबर उद्योग अथवा उद्यम करते रहना अपेक्षित है।

(७) सम्मा सील अर्थात् सम्यक् स्मृति—उपर्युक्त नियमों से मन शुद्ध होगा, बुद्धि निर्मल होगी और ठीक निर्णय करेगी। तभी मनुष्य के मानसिक, वाचिक, कायिक, सभी कार्य शुद्ध होंगे।

८ सम्मा-समाधि अर्थात् सम्यक समाधि—शीलादि नीचे की सब सीढ़ियो के शुद्ध रहने से ही कर्तव्य-पथ मे यह अंतिम समाधि सम्यक रहेगी और निर्वाण पद के लक्ष्य को प्राप्त करायेगी। उसको मृत्यु से पहिले ही समूचा ससार मित्र के रूप मे दिखाई देगा। मैत्री और करुणा की गगा-यमुना उससे स्वत निकलती रहेगी जो दूसरो को भी सुख शान्ति प्रदान करेगी।

आत्मा और पुनर्जन्म—बौद्ध धर्म के अनुसार कोई आत्म-तत्त्व नहीं है, इस धर्म को छोडकर भारत के बाकी सभी धर्म आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं। आत्मा को न मानने पर पुनर्जन्म की अवस्था नही हो सकती। बौद्ध-दर्शन मे आत्मा को दीपशिखा से उपमा दी जाती है। यही शिखा एक ईन्धन-सघात से दूसरे ईन्धन-सघात मे सक्रान्त हो जाती है। उसी प्रकार एक जीवन के मृत्यु क्षण और दूसरे जीवन के जन्म क्षण मे दो क्षणो से अधिक अन्तर नही।

निर्वाण—इस दर्शन मे वस्तुओं को अनित्य और दुखमय माना गया है। बौद्धमत सबको अनात्म मानता है। इसका सिद्धान्त है कि वासना के क्षय हो जाने से नाम रूप इन्द्र धनुष के चित्र विचित्र रग की भांति विलीन हो जाते हैं। निर्वाण निर्वापना का ही नाम है। निर्वाण दीपक के बुझने को कहते है। निर्वाण के समान जगत् म कोई और चीज है ही नही, जिसकी उपमा दी जा सके। वास्तव मे निर्वाण का अर्थ है, उन गुणो और सम्बन्धो का नाश हो जाना, जो मनुष्य को भेद-भाव से

अनुप्राणित कर स्वार्थ की ओर उन्मुख करते हैं। निर्वाण की अवस्था मे मनुष्य की सारी कामनाएँ और इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं।

त्रिपिटक—बुद्ध के उपदेशो के सकलन का नाम त्रिपिटक है—जिसका अर्थ है 'तीन पिटारिया' एक-एक पिटारी मे कई ग्रथो का समावेश है।

(१) 'सुत्त पिटक' मे धर्म ग्रथ है - जिसमे बौद्ध सघ मे दीक्षित भिक्षुओ के नियमो का वर्णन है। यह पिटारी पाच निकायो मे विभक्त है।

(२) विनय पिटक—स्वत मे परिपूर्ण ग्रथ है, जिसमे बौद्ध सघ के प्रवन्ध एव भिक्षु-भिक्षुणियो के दैनिक कार्यकलाप से सम्वन्धित नियम हैं। इसे तीन भागो मे विभक्त किया गया है।

(३) अभिधम्म पिटक—इसमे बौद्ध धर्म का दार्शनिक चिन्तन निहित है। इसमे सात वडे-वडे ग्रथ हैं।

धम्मपद—बौद्ध साहित्य मे "धम्मपद" एक छोटा किन्तु मूल्यवान् रत्न है। इसमे २६ अध्याय हैं और कुल ४१३ श्लोक हैं। इसमे एक ही मार्ग की शिक्षा दी गयी है।

विदेशों मे प्रचार—यज्ञो से ऊबी जनसाधारण की इच्छा यह थी कि कोई व्यावहारिक धर्म मिल जाये। वही बुद्ध ने दे दिया। कुरीतियो को दूर करके धर्म की स्थापना हुई। कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म उनके उपदेश की आधार-शिला बने रहे। आम लोगो को जो उपनिषदो की गूढ तथा रहस्यमयी भाषा को नही समझते थे, यह धर्म सरल और सुगम लगा। जनता ने उमडकर इसे अपनाया। सवसे पहले तो छोटी जातियो ने, जो ब्राह्मणो के नीचे दबी थी, बाद मे क्षत्रियो और ब्राह्मणो ने भी इसे गले लगाया। इधर राजाओ ने भी आश्रय प्रदान किया। वे राजकुमार तथा राजकुमारियो को देश विदेश तथागत का सदेश पहुँचाने के लिये भेजने लगे। सिंहल (लका), यवद्वीप (जावा), स्वर्णद्वीप (सुमात्रा), चीन, जापान तक भारतीय भिक्षु गये। ब्रह्म देश, श्याम-देश तो रास्ते मे ही पडते थे। इन सव देशों ने बौद्ध धम की छत्र छाया मे शान्ति प्राप्त की।

बौद्ध मत की भारतीय सस्कृति को देन—बुद्ध धर्म के कारण भारत मे तथा भारत से बाहर भी भारतीय धर्म, साहित्य एव सस्कृति का व्यापक प्रचार हुआ। मूर्ति, चित्र तथा स्थापत्य कलाओ और ग्रथो के रूप मे भारतीय सस्कृति सम्बन्धी बहुत बडी सामग्री अब भी भारत मे तथा बृहत्तर भारत के इन देशो मे भी पायी जाती है।

भारतीय सस्कृति पर बौद्ध मत का प्रभाव—वैदिक युग मे कला की उन्नति कैसे होती? कला तो धर्म की चेरी रही। यज्ञ-मण्डप अस्थाई थे, यज्ञ के पश्चात् रहते ही न थे। किन्तु बौद्धो के स्तूप तथा विहार स्थायी थे। अत उनके आश्रय से

सभी कलाएँ बहुत उन्नत हुई। अजन्ता की चित्रकला का उद्देश्य बौद्धविहारो को अलकृत करना था। बौद्धो द्वारा बनवाये गये सांची भरहुत, अमरावती के स्तूप तथा अशोक के शिला-स्तभ भारतीय कला को चार चाँद लगा रहे हैं।

सघ व्यवस्था तथा बौद्ध धर्म का आदर्श—अतीत काल मे गुरुओ के पास जिज्ञासु आत्म तृप्ति के लिये जाते थे, किन्तु अपनी सघ व्यवस्था सफल बनाकर प्रचार करने की परिपाटी न थी। सघटित रूप से शिक्षा-प्रचार भी बौद्धो से आरम्भ हुआ। नालन्दा पहला शिक्षा-केन्द्र बना।

लोक साहित्य के विकास मे पाली का सम्पूण साहित्य सहायक रहा। यह बौद्ध धम के अभ्युदय का फल था। लोक सेवा का उच्च आदश बोधिसत्व के रूप मे रखा गया। यह बोधिसत्व अपनी मुक्ति को त्याग कर प्राणि मात्र के दुख दूर करने मे सदैव तत्पर रहने लगा।

बौद्ध सम्प्रदाय —जब तक बुद्ध जीवित रहे उनके मत का रूप ठीक उनके उपदेशानुसार रहा, परन्तु उनके महानिर्वाण के बाद बौद्ध-धम के भीतर से नयी नयी शाखाएँ फूटने लगीं। यह मत दो निकायो मे तुरन्त ही विभक्त हो गया था।

(१) स्थविर वादियो ने बुद्ध के मौलिक उपदेशों मे विश्वास रखा और उन्हें मनुष्य ही माने रखा।

(२) महासघिको ने अपना सघ अलग खडा कर दिया।

इस प्रकार इन निकायो की सख्या बढती बढती अशोक के समय तक १८ हो गयी, जिनमे कई एक का विश्वास यह हो गया कि बुद्ध दिव्य शक्तियो से युक्त अलौकिक अदृश्य देवता हैं, जो अजर और अमर हैं। इसी विचारधारा के फलस्वरूप भिक्षुओ के नियमो मे भारी शिथिलता आ गयी। जब बुद्ध लोकोत्तर बना दिये गये तो अनुकरणीय कहाँ रहे ? क्योंकि लौकिक मनुष्य अलौकिक देवता का अनुकरण कर ही नही सकता।

बौद्ध-धम मे प्रारम्भ से ही दो माग थे—अहतयान अथवा श्रावकयान जिनका लक्ष्य केवल अपनी मुक्ति था और जो दूसरो को भी मुक्ति दिलाने के लिये स्वय अधिक कष्ट सहने को तैयार थे उनका माग प्रत्येक बुद्धयान कहलाता था। कुछ समय पश्चात् अहतयान स्वार्थी होने के कारण हीनयान कहा जाने लगा और बुद्ध-यान नि स्वाथ साधनो का यान महायान नाम से पुकारा जाने लगा। तत्पश्चात् चौथी शताब्दी तक बौद्धो के चार सम्प्रदाय और बन गये। वैभाषिक, सौत्रातिक, योगाचार, माध्यमिक। इनमे से प्रथम दो हीनयान के अनुयायी माने गए। शेष दो ने जो केवल बुद्धयान को मानते थे, अपने आपको महायान का अनुयायी कहा। महायान द्वारा बुद्ध को अलौकिकता प्रदान करने से जनता खिची चली आई। वैराग्य की अधिकता का योग की ओर प्रवाहित होना स्वाभविक था ही। गृहस्थी तो पहले से ही उत्सुक

बैठे थे। इस प्रकार अनुयायी बहुत बढे पर इस उन्नति मे ही अवनति का बीज छिपा था। महायानियो मे पहले गुह्य समाज बना और फिर वज्रयान फूट पडा, जो महायान का सबसे बडा कलक बना, क्योंकि इसमे पाचो मकारो की शिक्षा जिसने बुद्धत्व के आदर्श को ढक दिया, अतिरिक्त तान्त्रिक क्रिया कलाप की बहुलता है—यह तिब्बत, चीन आदि मे विशेष रूप से फला फूला। इस मत के आचार्य नागर्जुन एक प्रकाण्ड तान्त्रिक सिद्ध पुरुष थे।

महायान—महायान का अर्थ है 'बडा जहाज' जिनमे 'हीनयान' की तरह केवल सन्यासी भिक्षु नहीं, अपितु उनके अतिरिक्त सब गृहस्थी भी चढकर भवसागर से पार हो सकते थे। बोधिसत्व की कल्पना महायान की सबसे बडी विशेषता है। जैसा कि जातक कथाओ से प्रकट है कि उनके कई जन्म हुए। बोधिसत्व का शाब्दिक अर्थ है "बोध अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति" जिसका उद्देश्य ससार से केवल मनुष्यो को ही नही अपितु समस्त प्राणियो के समग्र दुःख को नाश कर उन्हें निर्वाण प्राप्ति करा देना रहता है। ससार का एक-एक प्राणी जब तक मुक्त नहीं हो जाता तब तक स्वय निर्वाण-सुख भोगने को स्वार्थ सिद्धि मात्र मानकर परोपकार की दृष्टि से हेय ही समझता है।

बोधिसत्व के दो प्रधान गुण होते हैं, मैत्री और करुणा।

मैत्री और करुणा

मैत्री—प्राणिमात्र के प्रति स्नेह तथा सुहृद् भावना का नाम 'मैत्री' है। समस्त जीवो से निःस्वार्थ प्रेम करना ही धर्म है। यह धारणा बनती गई कि सच्चे प्रेम में केवल देना ही देना होता है, अपने लिये कुछ भी चाहने का तो नाम ही नही होता। स्वमगल की तृष्णा का नाश हो जाने से प्रत्युपकार चाहने की कामना ही नही रहती। जीवन अपने लिये न रहकर केवल दूसरों के कल्याण के लिये सुरक्षित रखना होता है। यह लोभ-मोह-जनित राग न होकर अलोभ-युक्त व ज्ञानमूलक स्नेह होता है। द्वेष का सर्वथा नाश ही इसका प्रमुख लक्षण है।

करुणा—पर दुःख मे दुःखी होना 'करुणा' कहलाता है। दूसरो के कष्ट को सहन न कर सकने से जीव मात्र के प्रति अहैतुकी दया, करुणाशील मनुष्य को सब के कष्ट निवारण के शुभ कार्य में प्रयत्नशील करती है। अपनी मुक्ति की मगल कामना तक का त्याग करके इसे गौण रखकर दूसरों की निर्वाण प्राप्ति कराने में तत्पर रहना ही इन द्रवित हृदय वालो के जीवन का मुख्य उद्देश्य बन जाता है और हिंसा की तो जड तक कट जाती है। इसी भावना से प्रेरित होकर राज्यकुल के कुमार कुमारियो ने भिक्षु भिक्षुणियो के रूप मे विदेशो में मार्गों की कठिनायो को सहर्ष झेलकर बौद्ध धर्म के प्रचार से लोक-कल्याण किया था।

हीनयान मे स्वमुक्ति की ही चिन्ता थी, अन्य प्राणियो की मुक्ति की नही। पर महायान की आधार-शिलायें मैत्री और करुणा हैं। महायान के वौद्धिक सत्व की लक्ष्य-प्राप्ति के लिये इन दोनों सोपानो का वडा महत्व है।

इस प्रकार महायान धर्म ने निरीश्वरवादी शुष्क निवृति प्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे ईश्वरवादी तथा प्रकृति प्रधान मनोरम रूप मे उपस्थित किया।

अन्तर

महायान	हीनयान
१ स्वय वुद्ध को ईश्वर माना।	वुद्ध स्वय ईश्वर के वारे मे मौन रहे।
२ तारा सहित अविलोकितेश्वर सव देवताओ की सेना खडी कर दी।	देवी देवताओ की पूजा को मिटाया।
३ सस्कृत भाषा को अपनाया।	लोक भाषा मे उपदेश दिया।
४ गृहस्थादि सवके लिये मोक्ष द्वार खोल दिया।	मोक्ष के अधिकारी केवल भिक्षु माने।
५ समष्टि की मुक्ति पर जोर दिया।	व्यक्ति की मुक्ति पर वल दिया।
६ वोधिसत्व को महानता दी जो अपने निर्वाण को तव तक अस्वीकार करे जव तक सव प्राणियों को मोक्ष न मिले।	केवल मनुष्यो के लिये निर्वाण को ध्येय माना।
७ नि स्वार्थ करुणा को मोक्षादि पर प्रधानता दी।	मोक्ष स्वार्थ ससार से भागने मे माना।
८ प्रीति की सार्थकता तव है जव वह दूसरो के लिये की जाये।	स्वय का प्रेम ही ध्येय।
९ तिव्वत, जापान, चीन, कोरिया, नेपाल मे पनपा।	लका, ब्रह्मा, श्याम, हिंदेशिया मे फैला।
१० प्रार्थना "मैं वोधिसत्व रह कर सव प्राणि मात्र के मोक्ष के लिये कष्ट सहता रहूगा।"	"मैं वुद्ध वनूगा।"
११ करुणा को महत्त्व दिया गया।	ध्यान तथा ज्ञान पर वल दिया गया।
१२ उदार प्रवृत्ति को अपनाया।	सकुचित दृष्टिकोण रहा।
१[illegible] निर्वाण के द्वार सव के लिये खोल दिये।	केवल भिक्षुओ के लिये सीमित रहा।

भारत में बौद्धमत के लुप्त होने के कारण—बौद्ध धर्म का भारत से बहिष्कार नही हुआ। किन्तु महान् वैदिक धर्म से निकलकर अपनी सुगंधि सुदूर देशो मे फैलाकर पुन उसी धर्म मे विलीन हो गया। मूल बौद्ध-धर्म की मुख्य बातें तो वैदिक धर्म मे खप गईं और नाम मात्र का बौद्ध सम्प्रदाय भारत से एकदम लुप्त हो गया। तथापि बुद्ध अवतार मान लिये गये और उस स्थान से कभी भी च्युत नही किये गये जो उन्होंने भारतीयो के हृदय मे पाया था। फिर भी लुप्त होने के निम्नलिखित कारण भी थे।

१ बौद्ध धर्म का आपसी मतभेद बढता ही चला गया, एक ने दूसरे मे श्रद्धा-भग करनी चाही, जनता के मन से दोनो गिर गये।

२ राज्याश्रय मिट गया। नियम है कि जो धर्म राज्याश्रय से बढता है, गिरता भी है, जब राज्याश्रय न रहे। गुप्त सम्राटो ने वैदिक धम को अपनाकर बौद्ध मत की उपेक्षा की।

३ नियमो की कठोरता ने भोग की ओर दिशा दे दी। कुरीतिया आनी ही थी।

४ जनता को कुरीतियो से घृणा होनी ही थी। लोग इतने भिक्षुओ के बोझ को व्यर्थ मानने लगे। दूसरे आत्मा के मरने की और पुनर्जन्म के रह जाने की बात कुछ जम न सकी। फिर निर्वाण का अर्थ क्या रहा? इसका समाधान बौद्ध दर्शन दे न सके जिससे उसका अनात्मा-विषय का प्रतिपादन जनता को ग्राह्य न हुआ।

५ जगदगुरु शकराचार्य और श्री कुमारिल का भी बौद्धो के परास्त करने मे हाथ रहा।

६ जो बौद्ध अपने वास्तविक रूप मे बच गये थे वे मुसलमानो के आगमन और नालन्दा विश्वविद्यालय के विध्वस के बाद लुप्तप्राय हो गये। जब विहार ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये तो फिर बौद्ध धर्म का सघ कैसे टिक पाता?

प्रथम महासभा बौद्ध सघ—महाराजा अजातशत्रु को महात्मा बुद्ध स्वय दीक्षा दे गये थे, उनकी अध्यक्षता मे बुद्ध के प्रतिष्ठित शिष्य महाकश्यप ने राजगृह मे एक सभा का आयोजन गौतम बुद्ध के महानिर्वाण के बाद ही किया, जिसमे पाच सौ भिक्षुओ ने भाग लिया। मुख्य उद्देश्य यह था कि बुद्ध के दिये हुए उपदेशो का सग्रह कर लिया जावे। अत उपालि ने आचरण सम्बन्धी और आनन्द ने धर्म सम्बन्धी उपदेशो का सकलन प्रस्तुत किया, जिन्हें प्रमाणित कर दिया गया। यह सभा छह-सात मास चली थी। इस समय तक सघ की एकता बराबर बनी रही।

दूसरी महासभा—ऐसा प्रचार भिन्न प्रदेशो और जातियो मे चलता रहा जिसका प्रभाव मूल धर्म पर भी पडा। मतभेद होना स्वाभाविक था। कोई ऐसी केन्द्रीय सभा नही थी, जो सबको एक सूत्र मे जोडे रखती। इससे बौद्ध धर्म मे विघटन

के फलस्वरूप विविध सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हुआ। सौ साल बाद बुद्ध धर्म दो सम्प्रदायो मे पूर्णत विभक्त हो चुका था। जिनके नाम थे स्थविरवादी और महासघिक। स्थविरवादियो का गढ वैशाली था और महासघिको का केन्द्र अवन्ती, कौशाम्बी आदि थे। किन्तु, मतभेद सभा द्वारा मिटने की वजाय और बढ गये। यह सभा वैशाली मे बुलाई गयी थी। स्थविरवादियो के बारह और छोटे वर्ग बन गये। जिनमे एक सर्वास्तिवादी था और महासघिको के सात वग जिन्होने अपने धम ग्रथ प्राकृत मे लिखे। स्थविरवादियो ने पाली को अपना रखा था। बुद्ध तो ईश्वर के सम्बन्ध मे मौन रहे थे, पर इन महासघिको ने, जिनको बाद मे महायानवादियो की सज्ञा दी गयी, स्वय बुद्ध को ही ईश्वर बना दिया।

तीसरी महासभा—यह सभा महाराजा अशोक ने पाटलिपुत्र मे बुलायी थी। इसके अध्यक्ष मौद्गल-पुत्र तिष्य थे, जिन्होने अशोक को दीक्षा दे रखी थी। इनको उपगुप्त के नाम से भी याद किया जाता है। उसने एक हजार भिक्षु ऐसे चुने जिनसे आशा की गयी थी कि पारस्परिक मतभेदो को दूर कर सिद्धान्तो का निणय करेंगे। सभा ६ माम तक चली। अन्त मे अध्यक्ष द्वारा रचित 'कथावस्तु' ग्रथ सबने शिरोधाय किया। उसी के प्रचाराथ विदेशो मे भिक्षु भेजे जाने लगे। वहा विदेशियो ने इस प्रचार का स्वागत किया। किन्तु अशोक के बाद भारत में प्रगति रुक सी गयी जिसका एक कारण राज्याश्रय के न रहने का भी हो सकता है।

चौथी महासभा—तत्पश्चात् कनिष्क ने चौथी सभा कश्मीर मे प्रथम शताब्दी ई० पू० मे बुलायी। इसके अध्यक्ष वसुमित्र थे।

इसी सभा मे महायान के स्थित्व को स्वीकार किया गया। इसकी उन्नति का श्रेय नागार्जुन, असग तथा वसुबधु जैसे उच्च कोटि के विद्वानो को है।

देवी देवताओ को पूजा होने लगी। अश्वत्थ-वृक्ष और स्तूप के प्रतीक की जगह मूर्ति पूजा प्रारम्भ हो गई। मुक्ति के लिये, मन्त्रोच्चारण की प्रथा चल पडी। अनेक बोधिसत्वों मे विश्वास बढने लगा। हिन्दू धम के प्रभाव से महायान के धम ग्रथो मे सस्कृत का प्रयोग होने लगा। बुद्ध, अवतार माने जाने लगे।

इस प्रकार लोक भावना के आगे मूल बौद्ध-धम को झुकना पडा और बौद्ध धम वैदिक धर्म मे विलीन हो गया। परन्तु चीन, जापान, तिब्बत, बृहत्तर भारत मे इसकी प्रगति नही रुकी।

बौद्ध दर्शन—दर्शन की दृष्टि से बौद्ध धम के चार विभाग हैं।

१ माध्यमिक दर्शन—विश्व के सभी पदार्थ क्षणिक हैं। परमाणुओ की अविरल धारा ही आकृति बनाती हैं। परमाणु भी क्षणिक हैं। क्षणिक होने के साथ सब दुख रूप हैं।

केवल बौद्धिक ज्ञान सत्य है। बाकी सब पदार्थ अथवा बाह्य जगत शून्य है। इस शून्य मे लीनता ही मुक्ति है।

२ *योगाचार*—जिन शिष्यो को केवल आचार से सन्तोष न हुआ, उन्होंने योग की साधनाएँ कीं। बुद्धि का ग्राह्य कोई पदार्थ नही, बाह्य रूप मे स्वय बुद्धि ही मूर्त हुई है। वस्तुत तीनो (१) ग्रहण करने वाला, (२) ग्रहण की क्रिया, (३) ग्रहण होने वाला पदार्थ अभिन्न हैं। पदार्थ के निराकार ध्यान से मुक्ति नही होती। बाहर के पदार्थ शून्य हैं। इसका बाह्य जगत् मे निवृत्त होकर अन्त करण मे इसकी उपलब्धि, मुक्ति है। ज्ञान की सत्ता मानने से विज्ञानवादी कहलाये।

३ सौत्रांतिक — मध्यम दर्शन ने भाव-स्तर से जगत् को अभिव्यक्ति दी। योगाचार ने भाव स्तर के साथ भाव जगत् का भी साक्षात्कार किया। तर्क तथा योग के द्वारा इससे ऊपर जाने की सभावना नहीं तब इसमे शाक्त दर्शन का प्रभाव आया। वह भुक्ति, मुक्ति दोनो का साधक बनने लगा। वज्रयान का तान्त्रिक मार्ग इसी दर्शन को मानता है। इसकी मान्यता है कि भाव-जगत् पदार्थ का बुद्धि-स्थित रूप और बाह्य-स्थित दृश्य रूप दोनो ही सत्य है। राग द्वेषादि व सस्कार समुदाय दुख के साधन हैं। सब क्षणिक हैं—यह भावना ही दुख से त्राण का मार्ग है।

४ वैभाषिक—बाह्य पदार्थ और आन्तर पदार्थ दोनो की सत्ता से इसे सर्वास्तिवाद भी कहते हैं। भोगो को ही सत्य मानने से यह स्वाभाविक है सौत्रांतिको का वज्रयान भुक्ति-मुक्ति के अनाचार का अड्डा बनता रहा। जडवाद का यह दर्शन स्वीकार करता है कि आत्मा कोई नहीं, जगत् दो प्रकार का है—मूर्त (बाह्य) तथा चित्त (आन्तर)। दोनो की सत्ता स्वतन्त्र अर्थात परस्पर निरपेक्ष है।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म मे समानताए

१ दोनो के सस्थापक राजवश कुमार थे।
२ दोनो का दृष्टिकोण लौकिक है।
३ दोनो यह मानते हैं कि मानव जीवन मे केवल दुख ही दुख है। और दुःख का अन्त ससार से परे है।
४ दोनो ने चातुराश्रम व्यवस्था को न मानकर केवल भिक्षु के जीवन को अपनाया।

५ दोनो पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं।
६ दोनो ने जीवन की उच्चतर नैतिकता पर बल दिया।
७ दोनो मे जाति विचार का विरोध किया गया।
८ दोनो ने सघ स्थापित करके प्रचार किया।
९ दोनों मे शाखा विभाजन होता गया।

अन्तर

जैनमत	बौद्धमत
१ अहिंसा पर बल दिया गया।	बौद्ध धर्म मे मध्य मार्ग पर बल दिया गया।
२ प्रदेशो की प्रचलित भाषाओं को अपनाया।	बौद्ध-मत ने पहले पाली को (धार्मिक ग्रथ लिखने मे) फिर सस्कृत को अपनाया।
३ प्रत्येक वस्तु मे जीव माना।	इस विषय मे बुद्ध चुप रहे।
४ भारत तक सीमित रहा।	विदेशो मे फैला जहा इसका अस्तित्व अब तक है।

अशोक महान् (२७३-२३६ ई० पू०)

चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक महान् मौर्य वश के सबसे बडे एव प्रसिद्ध सम्राट थे। भारत के इतिहास मे विशालतम साम्राज्य इनका ही रहा। विश्व इतिहास मे इनका बहुत ऊचा स्थान है। दिग्विजयी राजा अनेक हो गये, पर धर्म विजय का श्रेय केवल इनको है। विजय का मद, आक्रमणकारियो को सदैव अधा बनाता रहा, पर कलिंग की विजय ने, इनके नेत्र खोले दिये। इन्होने अपनी प्रजा को पुत्रतुल्य समझकर, आदर्श नागरिक बनाने का भार वहन किया, पर साथ ही अपनी असीम करुणा से विश्व मानव को भी वचित न रखा। महात्मा बुद्ध के सदेश का दूर-दूर प्रचार करने हेतु अपने पुत्र पुत्री को विदेशो मे भेजा। इनके परिश्रम द्वारा ही बौद्ध-मत सार्वभौम धर्म बना। समस्त ससार मे वह पहला राजा था, जिसने पशुओ के लिये भी अस्पताल बनवाये।

प्रजा पालन—अशोक को इस बात का विशेष ध्यान रहता कि सबके साथ न्याय हो। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय अपने कष्ट के निवारण हेतु, अशोक महान् से मिल सकता था। वह स्वय तो आदर्श पर चलता ही था, साथ ही साथ प्रजा के आचार को उत्तम बनाने के उद्देश्य मे अधिकारी नियुक्त कर रखे थे जो देश के कोने-कोने मे पहुँचकर, प्रजा को कर्तव्य का ज्ञान कराते और राजाज्ञा पालन ठीक-

ठीक हो, इस बात का भी ध्यान रखते थे। ऐसे अधिकारियो को धर्म महामात्य कहा जाता था। इनको आदेश मिला था कि वे प्रजा की शिकायतो को सुनने के लिये सदैव तत्पर रहे। निर्धनो, अनाथो तथा विधवाओ की उदर-पूर्ति का सारा बोझ राजकीय कोष पर रहता था। यात्रियो के लिये छायादार सडकें, धर्मशालायें और सरायें बनवाई गयी। स्थान-स्थान पर पेय जल का प्रबन्ध भी किया गया।

अशोक का धर्म—उसके धर्म की निम्नलिखित चार आधारशिलायें थी—

१ बडो के प्रति आदर की भावना और छोटो पर दया, माता-पिता तथा गुरुजनो का यथोचित हार्दिक सत्कार करना अत्यावश्यक है, सेवको के प्रति पूर्ण सहानुभूति से व्यवहार करना मनुष्य की शोभा है।

२ अहिंसा परम धर्म माना गया। किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुचाया जाय। तोते, कबूतर, कछुवे, गिलहरी, चिमगादड, छिपकली राजाज्ञा द्वारा अघ्न्य माने गये। युद्ध बन्द हो गये थे। आक्रमणकारी सेनाओ के स्थान पर शान्तिदूत तथा सद् भावना-मण्डल इतर देशो को भेजे जाने लगे। राज्य मे अनुशासन बनाये रखने के लिये मृत्यु दण्ड ज्यो का त्यो रखा गया। भेरी-घोप का स्थान धर्म घोषणा ने ले लिया।

३ सत्य बोलने व सद्व्यवहार करने पर सदैव बल दिया जाता था।

४ सब धर्मों के प्रति उदारता—दूसरे सम्प्रदायो का आदर करने तथा दान देने के महत्व को बल दिया गया।

बौद्ध-मत का प्रचार—कलिंग विजय के पश्चात् अशोक ने बौद्ध-मत की दीक्षा ली। तत्पश्चात् इसके प्रचार के लिये कटिबद्ध हो गये। इस कार्य के लिये निम्नलिखित साधनो को अपनाया।

(क) बौद्ध-मत राजधर्म—अशोक स्वय भिक्षु बना और बौद्ध-मत को राजमत घोषित किया।

(ख) राजाज्ञाओ को शिलाओ पर खुदवाया। बौद्धमत के नियमो को अशोक ने पर्वतो की चटटानो पर खुदवाया। यही नही, स्तम्भो पर भी खुदवाकर बडी-बडी सडको पर गडवाया कि पथिक भी पढकर लाभ उठा सकें।

(ग) धर्म—महामात्यो की नियुक्ति। जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(घ) विहार निर्माण—कई जगह विहार बनाये जो बौद्धमत के स्थायी प्रचार मे सहायक हुए।

(छ) बौद्धमत की तीसरी महासभा—बौद्ध मत के आपसी मतभेदो को दूर करने के लिये अशोक ने बौद्ध विद्वानो की सभा पाटलिपुत्र मे बुलाई।

(च) प्रदेशो और विदेशो मे प्रचार—कश्मीर, महाराष्ट्र, मैसूर, हिमालय में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यूनान, ब्रह्मा, लका, मिस्र, श्याम, मैसिडोनिया मे अशोक ने बौद्धमत के प्रचारक भेजे। एशिया, योरुप, अफ्रीका तीनो महाद्वीपो में बौद्धमत खूब फैल गया। इसका श्रेय अशोक को है, जिसने इसे सार्वभौम धर्म बनाया।

इस पक्के नियामक, अथक, सत्यप्रिय शासक को परलोक की इतनी चिन्ता न थी, जितनी इहलोक मे मनुष्य को मनुष्यता सिखाने की थी।

कनिष्क

कुशन—ईसा के जन्म से दूसरी शताब्दी पूव, पश्चिमी चीन मे एक यूची जाति बसती थी, जिसे चीनियो ने वहा से भगा दिया और वे योद्धा लोग काबुल के माग से भारत मे आ बसे। इनकी एक सुप्रसिद्ध शाखा का नाम कुशन था। इन्होने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसे शक जाति के लोगो को खदेड दिया। कुशन जाति का तीसरा और प्रसिद्ध सम्राट कनिष्क था। फर्ग्युसन, रैपसनादि इतिहास-कारों के मतानुसार शालिवाहन शक ७८ ई० मे इसी ने चलाया था।

कनिष्क का शासन काल—कनिष्क का अधिकाश जीवन युद्ध मे ही बीता। इसका राज्य उत्तर मे झील, अराल, दक्षिण मे सौराष्ट्र, पूव मे काशी और पश्चिम मे ईरान तक फैला था। इसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। कनिष्क मे चन्द्रगुप्त मौय की शूरता थी और अशोक की तरह धर्म-प्रचार का उत्साह।

कनिष्क का मत—तक्षशिला से निकले सिक्कों के अनुसार वह बौद्ध धर्म का सरक्षक था। अशोक की भाति बौद्धमत का दृढ अनुयायी था और वैसी ही लगन से इस धम के प्रचार कार्य मे जुटा रहा।

चौथी सभा—इसके परिश्रम से इस अन्तिम सभा का अधिवेशन श्रीनगर मे वसुमित्र की अध्यक्षता मे हुआ था। इसी मे महायान को स्वीकृति मिली थी। इसने कई विहार भी बनवाये। पेशावर मे एक विशाल काष्ठ-स्तम्भ बनवाकर उसमे बुद्ध की अस्थियां सुरक्षित रखी। इसने दूर देशो मे धर्म प्रचारक भी भेजे।

साहित्य तथा कला-प्रेमी—यह कई विद्वानो का आश्रयदाता था। आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् चरक तथा बौद्धमत के विद्वान् नागार्जुन, अश्वघोष और वसुमित्र भी इसी के राज-दरबार को सुशोभित करते थे।

बौद्ध होते हुए भी, देवी-देवताओ की आकृतियो का उसके सिक्को पर खुदा होना, इसकी उदारता तथा श्रद्धा का प्रमाण है।

गाधार कला का जन्म तथा विकास इसी के द्वारा हुआ। बुद्ध की मूर्ति बनाने का श्रेय इसी कला को है।

इसकी सिर-विहीन मूर्ति मथुरा के पास प्राप्त हुई है।

अश्वघोष

महान् कवि—हीनयान के वैभाषिक सम्प्रदाय के अश्वघोष, उच्च कोटि के दार्शनिक तथा विद्वान् थे, इनकी कवितायें भले ही आज न पढी जाती हो, पर यह अकाट्य सत्य है कि महाकवि कालिदास के शब्द-चयन और कथावस्तु को इन्होने ही प्रभावित किया था।

मध्य एशिया मे इनके द्वारा लिखित तीन बौद्ध धर्म के नाटक मिले है। 'सारिपुत्र प्रकरण' सस्कृत का प्राचीन नाटक है। इसमे नौ अक है। इसमे पात्र, 'बुद्धि', 'कीर्ति', और 'धृति' हैं। विदूषक और दुष्ट के पात्र भी सुन्दर हैं। स्वरचित बुद्धचरित्र मे, जिसके ७८ अध्याय हैं, इन्होने यह सिद्ध किया है कि गृहस्थ मे भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है तथा इसकी पुष्टि मे इन्होने राजा जनक का उदाहरण दिया है।

कनिष्क के इनको पाटलिपुत्र से लाकर अपनी राजधानी पेशावर मे बसाया था और बौद्ध धर्म की चौथी महासभा का उपाध्यक्ष भी बनाया था। इनकी शिक्षा हिन्दू धम के अनुसार हुई थी, तत्पश्चात् यह बौद्ध धर्म से प्रभावित हो गये। चीन से 'कुमारजीव', जो कश्मीर मे सस्कृत की शिक्षा प्राप्त करने आये थे, ने चीन वापस जाकर इनकी और नागार्जुन की सस्कृत रचनाओ का चीनी भाषा मे अनुवाद करके, बौद्ध-मत का प्रचार किया था।

नागार्जुन

महायान के यह दार्शनिक आचार्य पहली शताब्दी मे विदर्भ देश मे रहते थे। वे ब्राह्मण से बौद्ध हुए। आपकी लिखी हुई 'मूल-माध्यमिक कारिका' ने विद्वानो को चक्कर मे डाल दिया।

आपने शून्यता का अर्थ बताया कि ससार और शून्यता मे कोई अन्तर है ही नही। शून्यता से ही ससार की सारी चीजें निकली है। अत हर चीज शून्य है। जो कुछ हम देख रहे हैं वह सब शून्य ही तो है। यह बुद्धि की समझ से बाहर है। यह अनुभव की चीज है। वैसे ससार मे किसी चीज की सत्ता नही, न ही कोई चीज उत्पन्न होती है।

यज्ञों और कर्मकाण्डों की अवहेलना का पाठ बुद्ध ने उपनिषदों से पढ़ा था। किन्तु नागार्जुन को बौद्धमत के मध्यम मार्ग को स्थापित करने का श्रेय प्राप्त हुआ।

आर्यदेव—लंका के राजघराने से आकर नागार्जुन के शिष्य बने। यह नागार्जुन के बाद नालन्दा में माध्यमिकों के आचार्य बने थे।

असङ्ग तथा वसुबन्धु—दोनों भाई योगाचार पद्धति के मुख्य आचार्य थे। वसुबन्धु ने अपनी विद्वत्ता से विक्रमादित्य पर ऐसा प्रभाव डाला कि उन्होंने युवराज बालादित्य का शिक्षक बना दिया।

पांचवी सदी में गांधार से कश्मीर गये। उन्होंने अभिधर्म कोष लिखा जो हीनयान तथा महायान दोनों में आदर की दृष्टि से पढ़ा गया। चीनी भाषा में इस ग्रंथ का अनुवाद भी हुआ। नालन्दा में ह्य ूनसांग ने भी उसका अध्ययन किया। इनके शिष्य गुणप्रभ मथुरा के ब्राह्मण थे। महाराजा हर्ष ने इनसे दीक्षा ली थी।

अध्याय ६

भारतीय कला तथा भारतीय धर्म का पुनरुत्थान

आदिकाल से मनुष्य अपनी भावनाओ को व्यक्त करने के लिए भाषा का उपयोग करता आया है, किन्तु जब भाषा के द्वारा अनुभूति की तीव्रता की अभिव्यक्ति पूर्णतया नही हो सकती तो उसकी अभिव्यंजना कला को जन्म देती है। शब्द तो विचारो के वाहक होते हैं और कला भावना की वाहिका होती है। यदि ज्ञान मे मस्तिष्क की प्रधानता रहती है, तो कला मे हृदय की।

इस प्रकार कला-निर्माण की प्रेरणा आत्मतोष के लिए तो अनुभूतियो को अभिव्यक्त करने के लिए होती है। फ्रायड के अनुसार 'कला द्वारा मानव की दबी हुई वासनाओं का उन्नयन होता है।' पश्चिम की मान्यता ऐसी रही कि 'कला, कला के लिए' ही है, किन्तु भारतीयो ने कला का जीवन से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। भारत मे कला जन-जीवन के अनुभवो का एक चित्र है जीवन के लिए है।

विद्वानो ने बहुत परिश्रम करके भारतीय मूर्ति कला का इतिहास तैयार किया है। विभिन्न समय की मूर्तियो की रूपरेखा के अध्ययन से सिद्ध हो गया है कि एक समय की मूर्ति का आकार-प्रकार दूसरे समय की मूर्ति के आकार-प्रकार से भिन्न है।

मौर्यकालीन कला

ससार के सर्वप्रथम धर्म-निरपेक्ष, लोककल्याणकारी, मौर्य साम्राज्य मे, जो ३२२ से १८५ ई० पूर्व तक रहा, कला की उन्नति हो चुकी थी।

राजमहल—मैगस्थनीज पाटलिपुत्र नगर की सुन्दरता का वर्णन करते हुए चन्द्रगुप्त के लकडी के बने महलो की सराहना करते नहीं थकता। फाह्यान तो इनको मनुष्यकृत न मानकर देवताओ द्वारा निर्मित कहता है।

मठों, स्तूपो, विहारों तथा स्तम्भों का निर्माण—अशोक ने भिक्षुओ के रहने के

लिए अनेक मठ विहार बनवाए। उसने हजारो स्तूप भी बनवाए, जिनमे साची और भरहुत के स्तूप यक्ष यक्षणियो के अकन मे शृगारिकता के लिए बहुत प्रसिद्ध है।

शिलालेख तथा स्तम्भ– ये शिलालेख बडी-बडी चट्टानो पर खुदे हैं। इनके अतिरिक्त स्तम्भो पर भी बुद्ध धम की शिक्षाए अकित की गयी हैं। उस समय की कारीगरी को देख आश्चयचकित रह जाना पडता है। स्तम्भ का दण्डाकार प्रधान भाग तथा स्तम्भ शीष एक ही पत्थर से तराशना कोई सरल कार्य नही।

सारनाथ के अशोक स्तम्भ का सिहशीर्ष—सारनाथ के अशोक स्तम्भ का शीष सवश्रेष्ठ है। विशाल चार सिहो के ऊपर स्थापित धम चक्र, बुद्ध के प्रथम प्रवचन का प्रतीक है। यह अब भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय मुहर अथवा चिह्न के रूप मे भी स्वीकार कर लिया गया है।

एक दूसरे से पीठ सटाए हुए चार शानदार सिह, सिहनाद के प्रतीक तो हैं ही—इसके अतिरिक्त वे बुद्ध की आध्यात्मिक शक्ति तथा अशोक के चतुर्दिक व्यापी पराक्रम के भी प्रतीक हैं। ह्वेनसाग ने इस स्तम्भ का वणन यो किया है—'यह प्रस्तर स्तम्भ लगभग सत्तर फीट ऊचा है। यह पत्थर चमकदार है। यह प्रकाश के समान चमकता और झिलमिलाता है। इसी स्थान पर बुद्ध ने "धम्म चक्क पवत्तन" आरम्भ किया था। इसकी चमकदार पालिश आजकल के इजीनियरो की समझ से बाहर की चीज बनी हुई है। इतिहासकार विसेंट स्मिथ लिखते हैं—"ससार के किसी भी देश की प्राचीन पशु मूर्तियो में इस सुन्दर कृति से उत्कृष्ट या इसके टक्कर की चीज पाना असम्भव है।" और इसी तथ्य को सर जान माशल यो प्रकट करते हैं—"प्राचीन जगत् मे इस प्रकार की कोई वस्तु नही जो इससे बढकर हो।"

गुफा मन्दिर

पुरातन काल मे अरण्यवासियो द्वारा ठोस चट्टानो को काट कर बनाये गये गुफा मन्दिर, मौय युग की कला का परिचय दे रहे हैं। ये गुफा मन्दिर सम्राट् अशोक ने भिक्षुओ के लिए बनवाए थे।

बराबर पहाडी की गुफाए—ये सात आठ प्राचीन गुफाए गया, पटना रेलवे लाइन पर बेला स्टेशन से आठ मील पूव स्थित हैं—ये बडे-बडे कमरो के रूप मे बनी हैं। इनकी दीवारो पर वज्रलेप नामक सुन्दर पालिश की हुई है जैसा कि अशोक के स्तम्भो पर पाई जाती है। मनुष्य अब भी कहीं-कहीं तो अपना चेहरा तक इस मे देख सकता है इन गुफाओ पर अशोक ने यह लिखवाया कि इनका निर्माण आजीविक ब्राह्मण साधुओ के निमित्त किया गया है। इन गुफाओ के नाम सुदामा,

लोमश ऋषि, विश्व झोपडी, रामाश्रम, गोपी आदि हैं। इनके कारण यहां की नागार्जुन पहाडी सतघरवा नाम से पुकारी जाती है। निश्चय ही ये गुफाए ईसा से बहुत पहले की बनी हुई हैं।

स्वपरा खोडिया गुफाए—काठियावाड जूनागढ राज्य मे "स्वपरा खोडिया" नामक गुफाए भी बहुत ही प्राचीन हैं। इन्हे मठो के रूप मे काम मे लाया जाता था। 'ऊपर कोट' मे दो खण्ड की एक गुफा हैं जिसमे नीचे का दरवाजा १२ फीट ऊचा है।

बाबाधारा गुफाए—गिरनार पर्वत पर जाने के लिए वागेश्वरी द्वार पर बाबाधारा नामक गुफाए है। ये गुफाए भी अशोक के समय की बनी हैं। भग्नावशेषो से मौर्य युग की चित्रकला और निर्माण कला का भी सुन्दर उत्कर्ष देखने को मिलता है।

गांधार शैली—अशोक की भाति कनिष्क भी एक महान् निर्माता था। इसके विशाल साम्राज्य मे यवन, पह्लव, शक तथा अन्य जातिया निवास करती थी, जिसके फलस्वरूप यह कुषाण राज्य कई संस्कृतियो का सगम स्थल बना। अत कला पर भी विचारो के पारस्परिक आदान-प्रदान का प्रभाव पडा। इस प्रकार भारतीय तथा यवन-कला के सम्मिश्रण से एक नई शैली का श्रीगणेश हुआ, जो गाधार कला कहलाई, गधार के नाम से विख्यात प्रदेश मे पनपने के कारण भी इसका नाम गाधार शैली रखा गया था। गाधार का मुख्य केन्द्र पेशावर था। सम्राट् कनिष्क द्वारा राज्याश्रय प्राप्त होने से इस कला की शीघ्र ही उन्नति होने लगी। आरम्भ मे बुद्ध केवल पथ-प्रदर्शक मात्र थे, अत उनके चक्र, चरण-चिह्न, बोधि-वृक्ष आदि प्रतीको की पूजा चली आ रही थी, किन्तु अब महायान धर्म ने बुद्ध को देवतुल्य माना और उनकी मूर्ति पूजा पर बल देकर इस नयी शैली को बढावा दिया। अब जो बुद्ध की मूर्तिया बनायी गयी वे यूनानियो के ही देवताओ की मूर्तियो जैसी लगती थीं। सभी मूर्तियो की गढन संश्लिष्ट है। कोमलता का स्थान अकडन ने ले रखा है। इन मूर्तियो के भारी वस्त्र, बडे जूते तथा सजावट की अधिकता ईरानी शक प्रभाव का परिचय दे रहे है। इस शैली की मूर्तिया अति सुन्दर व परिमार्जित हैं, परन्तु इनमे आन्तरिक सौन्दर्य का अभाव है। स्पष्ट देखने मे आता है कि भारतीय कला यूनानी वेष मे आ रही थी। इस शैली का प्रसार प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से पूर्व की ओर बढता-बढता मथुरा होता, अमरावती तक जा पहुचा। यह शैली ५०० ई० तक खूब फली फूली।

विचित्रता इतनी रही कि भारतीय कला के विकास मे गाधार ग्रीक का प्रभाव सीधे यूनानी और पार्थियाई शासको द्वारा न आकर उनके अनुयायी शको और कुषाणो के समय मे हुआ। इस शैली का मौर्यकाल से कोई सम्बन्ध न था। अब मौर्यकालीन प्रयुक्त काष्ठ की जगह भूरे रग के तथा काले सलेटी पत्थर ने ले ली थी। इस शैली का एकमात्र विषय बुद्ध के जीवन की व्याख्या ही रहा।

इस युग की कला के नमूने गाधार के अतिरिक्त भरहुत बोधगया, साची और मथुरा आदि मे भी पाये जाते हैं। भरहुत स्तूप के चारो ओर की पत्थर की बाड पर दैनिक जीवन के सुन्दर दृश्य अकित हैं। भरहुत मूर्तियाँ काफी अनगढ हैं। पर साची स्तूप की आकृतिया अधिक सुन्दर परिष्कृत और सुडौल हैं। इनका प्राकृतिक सीधापन सराहनीय है।

मथुरा शैली—मनुष्य जो कुछ भी करता है, उस पर उसके विचारो का प्रभाव अवश्य झलकता है। अत भारतीय कला पर भी भारतीय दशन की छाप पडनी थी। अध्यात्म-प्रधान भारत मे आदिकाल से शरीर को कम और आत्मा को अधिक महत्व दिया जाता रहा। गीता के दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ और चौदहवें अध्याय के गुणातीत मनुष्य के आदश को सदैव सामने रखा गया, तभी तो भारतीय कला में आत्मा के गुणो की जितनी अभिव्यजना हुई है, उतनी शरीर के गुणो की नही। शारीरिक अवयवो के साथ न्याय तो किया जाता है पर इनको प्राथमिकता गाधार शैली जैसी नहीं दी जाती। इस प्रकार मथुरा शैली में परम्परा से आ रही, भारतीय शैली पूणतया स्वदेशी ही रही। जहाँ इसकी समकालीन गाधार शैली की मूर्तिया (यूनानी देवता) अपोलो जैसी थी, जिनका सौन्दय निस्तेज रहा, वहाँ मथुरा शैली की बुद्ध की मूर्तियो मे सौन्दर्य और स्निग्धता, कोमलता और सतुलन का सुन्दर समन्वय है। बुद्ध की ऐसी प्रेरणादायक मूर्तियो से ही मथुरा कला के स्वण युग का आरम्भ हुआ। इस की लाल पत्थर की मूर्तियो की धमनिष्ठा के सामने गाधार कला की मूर्तियो के रोमक तत्व फीके रह गये। देह का चित्रण सरल और आत्मिक भावों का चित्रण कठिन रहता है। आत्मिक भावों के चित्रण मे भारतीय कलाकार विश्व भर के कलाकारो मे अन्यतम हैं। वह काय का प्रतिदान नही चाहता था। ऐसे निष्ठावान् और साधक कला शिल्पियो द्वारा बनायी गयी मूर्तिया, क्यो न कला में उत्कृष्ट हो। गाधार कलाकार यथाथता पर ध्यान रखने से केवल बाह्य सौन्दय की अभिव्यक्ति कर सका, किन्तु आन्तरिक सौन्दय की अभिव्यक्ति करके मथुरा-कला शिल्पियो ने एक आदश की स्थापना की तथा धार्मिक परम्पराओ को बढावा दिया। वह पहले धमवेत्ता और दार्शनिक थे और बाद मे कलाकार। लोकैषणा से दूर आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति ही उनका परम ध्येय था। इस कला द्वारा भारतीय उपासको ने अपने इष्ट के मुख की आभा तथा उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति के सुन्दर दर्शन किये। मथुरा मे इस युग की कुषाण राजाओं की मूर्तिया खण्डित दशा मे मिली हैं, जिनमे कनिष्क के लम्बे कोट और पायजामे मे विशाल आकार की मूर्तिया महत्वपूण है। इस प्रकार मथुरा कला का विकास गुप्त काल के आरम्भ तक बराबर होता ही रहा।

अमरावती शैली—दक्षिण भारत मे कृष्णा नदी के किनारे अमरावती का सगमरमर का स्तूप सबसे सुन्दर बना था। इसके चारो ओर सीढिया थी और सबसे

ऊपर पाच स्तम्भ थे। इसमे सगमरमर के पत्थर पर आकृतिया खुदी हुई थी। इसकी यह कला अपनी उच्च भावना और विचारधारा के लिए कला क्षेत्र मे विशेष स्थान रखती है। इस शैली की कलाभक्ति भाव से पूर्ण है। बुद्ध की मनुष्य के पूरे कद की खडी मूर्तियो से गम्भीरता और वैराग्य की भावना टपक रही है।

गुप्तकाल

गुप्तकाल के शासको ने भारत को लगभग ५०० साल के विदेशी राज्य से मुक्त कराया। इन सम्राटो का शासनकाल भारतीय इतिहास मे स्वर्णयुग था। भारतीय सस्कृति तथा कला अपनी चरम सीमा पर पहुच चुकी थी। इसका प्रमाण वैसे तो उस समय के अभिलेख, सिक्के, भग्नावशेष और साहित्यिक कृतिया दे ही रही हैं, चीनी यात्री फाह्यान ने भी गुप्तकालीन सस्कृति का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

भारतीय धर्म का पुनरुत्थान—अशोक के समय से ही, बौद्ध धर्म की अहिंसा के कारण देश-रक्षा मे शिथिलता आ जाने से, असन्तोष की भावना बढ रही थी, जिसके प्रभाव से ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने १८४ ई०पू० मे मौर्यों का वध कर ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान किया था। इस पुनर्जागरण काल के लगभग सभी राजाओ ने हिन्दू धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया था। गुप्तवश के सभी राजे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। इनके राज्य-काल मे हिन्दू देवताओ के मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण आरम्भ हुआ। अहिंसावादी होते हुए भी इन राजाओ ने अश्वमेध यज्ञादि करके वैदिक परम्परा को अपनाया। इनके विशेष प्रयत्न से भारतीय धर्म फिर से उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा किन्तु जैन बौद्धादि धर्मो के प्रति भी इनका सहिष्णुता पूर्ण व्यवहार रहा।

तीनो मुख्य धर्मो के एक साथ रहते हुए भी साम्प्रदायिक द्वेष का सर्वथा अभाव रहा। इस पौराणिक हिन्दू धर्म मे समन्वय की दृष्टि से उपनिषदो के अनन्त ब्रह्म के तीन रूप अपनाये गये। ब्रह्मा (सृष्टि रचाने वाले) विष्णु (पालनकर्ता) और शिव (सहारकर्ता)। साथ ही सूर्य की उपासना का भी आरम्भ हो गया। मुलतान मे सूर्य कुंड मन्दिर की स्थापना इसी काल की मानी जाती है। इसी काल मे राम और कृष्ण अवतार के रूप मे पूजे जाने लगे और दुर्गा शिव की शक्ति मानी जाने लगी। गणेश और कार्तिकेय की पूजा भी शुरू हो गई। देवताओ की षोडशोपचार पूजा, कीर्तन, व्रत-उपवास, सध्या, उपासनादि जो हम आज के सनातन धर्म मे देखते हैं, उसी समय से चली आ रही है। भक्ति का प्रचार तभी से शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायो के विकास के रूप मे जोर पकडने लगा। तब से हिन्दुत्व के रक्षक वेद और उपनिषद् कम, रामायण और महाभारत अधिक रहे हैं।

सस्कृत साहित्य की समृद्धि—सस्कृत धीरे-धीरे प्राकृत भाषा का स्थान लेती चली जा रही थी, गुप्त शासको द्वारा उसने राजभाषा का पद प्राप्त कर लिया। फलस्वरूप इसके साहित्य की असाधारण उन्नति हुई। कालिदास, भारवि, विशाखदत्त, भास तथा शूद्रक आदि अमर कवियो ने इसे समृद्ध किया।

महाकवि कालिदास—महाकवि कालिदास सस्कृत के अद्वितीय कवि तथा नाटककार थे। वे भारतीय साहित्य मे ही नही प्रत्युत विश्व साहित्य मे विशिष्ट स्थान रखते हैं। अत 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' की जमन कवि गेटे ने मुक्त कठ से प्रशसा की थी। मानव प्रकृति की गहराइयो तक इनकी पहुँच थी। इनके शब्द चयन, शैली और उपमायें अपूव और अन्यतम हैं। इनकी कविता मे लालित्य, रस, माधुर्य, और अनकार की प्रधानता रही। उज्जैन के एक शैव घराने के इनका जन्म हुआ था। ब्राह्मण होते हुए भी, पहिले यह निरक्षर भट्टाचाय थे। काली देवी के आशीर्वाद से सरस्वती इनकी जिह्वा पर नाचने लगी ऐसी किंवदन्ती है। अपनी विद्वत्ता के वल वूते पर यह सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार मे जा पहुँचे। वहाँ इनकी गणना उस समय के नवरत्नो मे होने लगी। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। यह नाटककार गीतकार और कवि सब कुछ थे। इनको वेद, दर्शन विशेषतया साख्य योग का पूरा-पूरा ज्ञान था। यह नाट्यशास्त्र, ज्योतिपशास्त्र, धमशास्त्र तथा काम सूत्रादि सभी शास्त्रो के मर्मज्ञ थे। राजदरवारी होने के नाते व्यवहार मे कुशल थे। परन्तु सदा सतुष्ट और नम्र रहे। ये वडे भ्रमण प्रिय थे और इन्होने भारत भर की यात्रा से मातृभूमि के भूगोल का पूण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यही कारण है कि इन्होंने प्रकृति का इतना सूक्ष्म और स्पन्दनशील वणन किया है।

रचनायें—'अभिज्ञान शाकुन्तलम' की कथावस्तु, कालिदास ने महाभारत से ली पर उसको हृदयग्राही रूप देने का श्रेय इनको ही है। पहले दो नाटक 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोवशी' लिख चुके थे। इनके 'रघुवश' और 'कुमारसभव' दोनो महाकाव्य हैं तथा 'मेघदूत', सस्कृत के गीतिकाव्य का उज्ज्वल नक्षत्र है। इनके दूसरे गीतिकाव्य "ऋतुसहार" के सम्बन्ध मे ऐसी धारणा हो चली है कि इसे इन्होने सबसे पहले लिखा होगा।

इस काल मे सस्कृत मे और भी अनेक विख्यात रचनायें हुई। इनमे विशाखदत्त का "मुद्राराक्षस" भारवि का "किरातार्जुनीयम्" शूद्रक का "मृच्छकटिक" तथा सुबन्धु की "वासवदत्ता" मुख्य हैं। "पचतन्त्र" भी इसी काल की देन है। इसकी रोचक कथाओ का अनुवाद ससार भर की भाषाओ मे हो चुका है।

विज्ञान मे उन्नति—आर्यभट्ट गणितज्ञ की "आयभट्टीयम्" ग्रथ की अमूल्य रचना भी विश्व-भर को इसी काल की देन है। इसी ग्रथ मे अकगणित, बीजगणित, तथा

रेखागणित के सिद्धान्त दिये गये हैं जिनमे दशमलव का सिद्धान्त बडे महत्व का है। π (पाई) का ठीक-ठीक मानदण्ड ३ १४१६ भी इसी मे निर्धारित करने का श्रेय भी इसी आर्यभट्ट को है। इसी काल मे आचार्य वराहमिहिर द्वारा ज्योतिष के कई शास्त्र लिखे गये।

अमरसिंह ने 'अमरकोष' की रचना की। यद्यपि रसायनशास्त्र का कोई भी ग्रथ इस काल का नही मिला। तथापि दिल्ली के कुतुबमीनार के पास महरौली मे, गुप्त-काल की १६ इच व्यास की लोहे की, २४ फीट ऊची, २०० मन वजनी लाट मौजूद है। इसने सबको आश्चर्य मे डाल रखा है, कि यह कैसे व किस मसाले से बनायी गयी होगी। इतनी सदियो की धूप तथा वर्षा इस पर कोई असर न कर सकी, क्योकि इसमे कही भी जग नही लगा।

नालदा मे बुद्ध की आठ फीट ऊची मूर्ति भी इस युग की धातु कला की उन्नति का प्रमाण है। इस काल मे सिक्को पर नाम व लेख छापने की कला ने भी बहुत उन्नति की।

भारतीय कला की मौलिकता—भारतीय कला का आरम्भ हडप्पा और मोहनजोदडो की सभ्यता के काल से ही हो चुका था। समयानुसार मौर्य काल मे भी इसका विकास हुआ। विदेशी प्रभाव ने गाधार कला को जन्म दिया। पर समकालीन मथुरा कला द्वारा स्वदेशी तत्त्वो की रक्षा होती रही। गुप्तकाल की राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक सम्पन्नता ने कला को पनपने का सुन्दर अवसर प्रदान किया। गुप्तकाल मे भारतीय कारीगरो की सदियो की निरन्तर साधना सफल हुई। कला मे परिपक्वता, स्वाभाविकता तथा अपूर्व सुन्दरता आई। अब यह कला पूर्णतया भारतीय थी और सभी विदेशी प्रभावो से मुक्त होकर मौलिकता प्राप्त कर चुकी थी। शारी-रिक सौंदर्य से भी अधिक इस कला की मूर्तियो मे ओज, लालित्य, सजीवता एव आन्तरिक भावो की सहज अभिव्यक्ति है जिनसे पूर्णता को प्राप्त करके भारतीय कला, ससार मे सर्वश्रेष्ठ कहलाने लगी। इस कला को अधिक मौलिक बनाने तथा चरमोत्कर्ष तक लाने का श्रेय उस काल की भिन्न धर्मों मे समन्वय की प्रवृत्ति तथा नवीन साहित्यिक एव शास्त्रीय अभिरुचियो और परम्पराओ को है। गुप्तकाल मे मानव शरीर की चेतना तथा मानव आत्मा की गरिमा का विलक्षण समन्वय है। कालिदासादि रचित गुप्तकालीन साहित्य के समान गुप्तकला ने भी मानव के शारीरिक नही, वरन् आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रतिमान स्थापित कर दिये। कुषाण-काल के नारी सौंदर्य के उत्तेजक प्रदर्शन का स्थान गुप्तकालीन कला मे परिष्कृत सतुलन ने ले लिया। अत इस समय की मूर्तिया आकर्षक होते हुए भी निर्मल और सयत है। इनको भारतीय इतिहास मे उच्च स्थान प्राप्त है। इस युग की कला-प्रियता विभिन्न स्रोतो के रूप मे फूट पडी।

उदयगिरि की गुफाएँ

गुप्त काल की वास्तु कला—गुप्त राजाओ के समय मे बनी हुई पाचवी शताब्दी ई० की बीस गुफाएँ भिलसा स्टेशन से ४ मील की दूरी पर स्थित हैं। ये सब गुफाएँ प्राय ब्राह्मण धर्म की हैं। उदयगिरि का पत्थर बलुआ है। इस कारण छोटी-छोटी कोठरियो मे मूर्तिया खुदी हैं। पाच नम्बर गुफा मे वाराह भगवान् की एक विशाल मूर्ति है। गुफा नम्बर १३ मे एक बडी मूर्ति शेषशायी विष्णु की है जो गुप्त-काल की शिल्प कला का सुन्दर नमूना है।

अजता की गुफाओ की चित्रकला—अजता की पहाडी जलगाव स्टेशन के पास है। इसकी घाटी मे २९ गुफाएँ हैं। इनका निर्माण काल ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा के बाद की सातवी शताब्दी तक माना जाता है। इनमे ६, १०, १९ तथा २६ नम्बर की गुफाएँ चैत्य हैं और शेष विहार हैं। इन विहारो मे बौद्ध भिक्षु रहते थे और चैत्यो मे पूजा करने के लिये इकट्ठे होते थे। इन गुफाओ की दीवारो पर मिट्टी, गोबर, बजरी, भूसा मिलाकर लेप किया जाता था। उसके ऊपर जातक कथाओ के सुन्दर चित्र, देशी रगो में बनाये जाते थे। ये रगीन आकर्षक भित्तिचित्र ससार मे अद्वितीय हैं। स्त्रियो के आभूषण तथा उनके तरह तरह के केश-कलाप, हस्त तथा नेत्र मुद्राए दर्शनीय हैं। आश्चर्य तो यही है कि इनको देखते हुए भी चित्र मे किंचित् विकार नही आता। बैलो, हाथियो एव कमलो का चित्रण बडा मोहक है।

अजन्ता के चित्रो मे भारतीय जीवन के सभी पहलुओ का सुन्दर समावेश है। इनमे भारतीय चित्रकला उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गई है। इनमे करुणा, मित्रता, प्रेम, क्रोध, हर्ष, शोक, निराशा और उत्साह आदि सभी प्रकार के भाव दिखाये गये हैं। इन चित्रो की विचित्रता से दर्शक स्वय चित्ररूप बन जाता है।

अजन्ता की कला से मध्य एशिया की कला प्रभावित हुई थी। आज भी इस कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। १, २, ६, १०, १२, १६, १७, १९, २६ नवर की गुफायें, विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इनकी चित्रकारी, मूर्तिकारी तथा शिल्पकला विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य हैं। ग्वालियर राज्य के बाघ स्थान पर भी अजन्ता जैसे चित्र मिले हैं।

एलोरा के गुफा मन्दिर—औरगाबाद से १६ मील दूर एक सुन्दर सडक पर एलोरा के गुफा-मन्दिर एक ढालू पहाडी पर बने हैं। पहिले यहा बारह गुफाएँ बौद्ध सम्प्रदाय की, इनके बाद सत्रह ब्राह्मण धर्म की और अन्त मे पाच गुफाएँ जैन धर्म की है।

रेखागणित के सिद्धान्त दिये गये हैं जिनमे दशमलव का सिद्धान्त बडे महत्व का है। π (पाई) का ठीक-ठीक मानदण्ड ३ १४१६ भी इसी मे निर्धारित करने का श्रेय भी इसी आयभट्ट को है। इसी काल मे आचार्य वराहमिहिर द्वारा ज्योतिष के कई शास्त्र लिखे गये।

अमरसिंह ने 'अमरकोष' की रचना की। यद्यपि रसायनशास्त्र का कोई भी ग्रथ इस काल का नही मिला। तथापि दिल्ली के कुतुबमीनार के पास महरौली मे, गुप्त काल की १६ इच व्यास की लोहे की, २४ फीट ऊची, २०० मन वजनी लाट मौजूद है। इसने सबको आश्चर्य मे डाल रखा है, कि यह कैसे व किस मसाले से बनायी गयी होगी। इतनी सदियो की धूप तथा वर्षा इस पर कोई असर न कर सकी, क्योकि इसमे कही भी जग नही लगा।

नालदा मे बुद्ध की आठ फीट ऊची मूर्ति भी इस युग की धातु कला की उन्नति का प्रमाण है। इस काल मे सिक्को पर नाम व लेख छापने की कला ने भी बहुत उन्नति की।

भारतीय कला की मौलिकता—भारतीय कला का आरम्भ हडप्पा और मोहनजोदडो की सभ्यता के काल से ही हो चुका था। समयानुसार मौर्य काल मे भी इसका विकास हुआ। विदेशी प्रभाव ने गाधार कला को जन्म दिया। पर समकालीन मथुरा कला द्वारा स्वदेशी तत्त्वो की रक्षा होती रही। गुप्तकाल की राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक सम्पन्नता ने कला को पनपने का सुन्दर अवसर प्रदान किया। गुप्तकाल मे भारतीय कारीगरो की सदियो की निरन्तर साधना सफल हुई। कला मे परिपक्वता, स्वाभाविकता तथा अपूर्व सुन्दरता आई। अब यह कला पूर्णतया भारतीय थी और सभी विदेशी प्रभावो से मुक्त होकर मौलिकता प्राप्त कर चुकी थी। शारीरिक सौंदर्य से भी अधिक इस कला की मूर्तियो मे ओज, लालित्य, सजीवता एव आन्तरिक भावो की सहज अभिव्यक्ति है जिनसे पूर्णता को प्राप्त करके भारतीय कला, ससार मे सर्वश्रेष्ठ कहलाने लगी। इस कला को अधिक मौलिक बनाने तथा चरमोत्कर्ष तक लाने का श्रेय उस काल की भिन्न धर्मों मे समन्वय की प्रवृत्ति तथा नवीन साहित्यिक एव शास्त्रीय अभिरुचियो और परम्पराओ को है। गुप्तकाल मे मानव शरीर की चेतना तथा मानव आत्मा की गरिमा का विलक्षण समन्वय है। कालिदासादि रचित गुप्तकालीन साहित्य के समान गुप्तकला ने भी मानव के शारीरिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रतिमान स्थापित कर दिये। कुषाण-काल के नारी सौंदर्य के उत्तेजक प्रदर्शन का स्थान गुप्तकालीन कला मे परिष्कृत सतुलन ने ले लिया। अत इस समय की मूर्तिया आकर्षक होते हुए भी निर्मल और सयत है। इनको भारतीय इतिहास मे उच्च स्थान प्राप्त है। इस युग की कला-प्रियता विभिन्न स्रोतो के रूप मे फूट पडी।

उदयगिरि की गुफाएं

गुप्त काल की वास्तु कला—गुप्त राजाओ के समय मे बनी हुई पाचवी शताब्दी ई० की बीस गुफाएं भिलसा स्टेशन से ४ मील की दूरी पर स्थित हैं। ये सब गुफाएं प्राय ब्राह्मण धम की हैं। उदयगिरि का पत्थर बलुआ है। इस कारण छोटी-छोटी कोठरियो मे मूर्तिया खुदी हैं। पाच नम्बर गुफा मे वाराह भगवान् की एक विशाल मूर्ति है। गुफा नम्बर १३ मे एक बडी मूर्ति शेषशायी विष्णु की है जो गुप्त-काल की शिल्प कला का सुन्दर नमूना है।

अजता की गुफाओं की चित्रकला—अजता की पहाडी जलगाव स्टेशन के पास है। इसकी घाटी मे २९ गुफाएँ ह। इनका निर्माण काल ईसा से पूव द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा के बाद की सातवी शताब्दी तक माना जाता है। इनमे ६, १०, १६ तथा २६ नम्बर की गुफाएँ चैत्य हैं और शेष विहार हैं। इन विहारो मे बौद्ध भिक्षु रहते थे और चैत्यो मे पूजा करने के लिये इकट्ठे होते थे। इन गुफाओ की दीवारो पर मिट्टी, गोबर, बजरी, भूसा मिलाकर लेप किया जाता था। उसके ऊपर जातक कथाओ के सुन्दर चित्र, देशी रगो मे बनाये जाते थे। ये रगीन आकर्षक भित्तिचित्र ससार मे अद्वितीय हैं। स्त्रियो के आभूषण तथा उनके तरह-तरह के केश कलाप, हस्त तथा नेत्र मुद्राए दशनीय हैं। आश्चय तो यही है कि इनको देखते हुए भी चित्र मे किंचित् विकार नही आता। बैलो, हाथियो एव कमलो का चित्रण बडा मोहक है।

अजन्ता के चित्रो मे भारतीय जीवन के सभी पहलुओ का सुन्दर समावेश है। इनमे भारतीय चित्रकला उत्कप की चरम सीमा पर पहुँच गई है। इनमे करुणा, मित्रता, प्रेम, क्रोध, हप, शोक, निराशा और उत्साह आदि सभी प्रकार के भाव दिखाये गये हैं। इन चित्रो की विविधता से दशक स्वय चित्ररूप बन जाता है।

अजन्ता की कला से मध्य एशिया की कला प्रभावित हुई थी। आज भी इस कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। १, २, ६,१०, १२, १६, १७ १६, २६ नबर की गुफायें, विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इनकी चित्रकारी, मूर्तिकारी तथा शिल्पकला विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य हैं। ग्वालियर राज्य के बाघ स्थान पर भी अजन्ता जैसे चित्र मिले हैं।

एलोरा के गुफा मन्दिर—औरंगाबाद से १६ मील दूर एक सुन्दर सडक पर एलोरा के गुफा-मन्दिर एक ढालू पहाडी पर बने हैं। पहिले यहा बारह गुफाएँ बौद्ध सम्प्रदाय की, इनके बाद सत्रह ब्राह्मण धर्म की और अन्त मे पाच गुफाएँ जैन धम की है।

बौद्ध गुफाओ मे एक तीन खण्ड का विशाल महल वना है जिसमें महायान सम्प्रदाय की अनेकानेक मूर्तिया पुरुषाकार बनी हैं। पूजा के स्थान पर प्रत्येक गुफा मे एक विशाल बुद्ध मूर्ति वनी है।

हिन्दू गुफाओ मे प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर है जो भारत के सम्पूर्ण गुफा मन्दिरो मे सर्वश्रेष्ठ है। इस मन्दिर मे अधिकतर भगवान् शकर की अनेक लीलाएँ, दीवार पर कटाव द्वारा उभार कर वनी मूर्तियो में अकित है। रावण ने कैलाश को उठा रखा है। पार्वती भयग्रस्त है, उनकी सखिया भाग रही हैं, पर शिव अचल है, वह अपने चरणो से कैलाश को दवाकर रावण का प्रयास विफल कर रहे हैं। एक समूचे पहाड को छेनियो से तराश कर चार खड का मन्दिर बना देना वडा विलक्षण कार्य है, जिसके चारों तरफ दालान मे पौराणिक कथाओ के चित्र वने है। रामेश्वर तथा 'सीता की नहानी' इत्यादि प्रसिद्ध गुफाएँ हैं। 'सीता की नहानी' को देखते ही बम्बई की एलीफेंटा गुफाओ का स्मरण हो आता है। जैन गुफाओ मे छोटा कैलाश, इन्द्र सभा तथा जगन्नाथ सभी विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

एलीफेंटा की गुफाएं (धारापुरी की गुफाएँ)—ये गुफाएँ वम्बई के समीप, समुद्र मे स्थित, एलीफेंटा (धारापुरी) द्वीप मे हैं। यहा पहिले एक पत्थर का हाथी था, जिसे देखकर पुर्तगालियो ने इस द्वीप को 'ऐलीफेंटा' का नाम दिया। (अब वह हाथी विक्टोरिया गार्डन मे रख दिया गया है)। यहा कुल पाच गुफाएँ हैं जिनमे एक सबसे बडी है। इसमे सुन्दर मूर्तिकारी तथा शिल्पकारी दिखती है। प्राय प्रत्येक गुफा मे शिवलिंग स्थापित है। पुर्तगालियों ने तोप चलाकर बहुत-सी मूर्तिया नष्ट कर दी थी। इन गुफाओ मे शकर भगवान् की लीला के चित्र बने हैं, यथा महायोगी, नटेश्वर, पार्वती परिणय, गगावतरण, अर्द्धनारीश्वर, पार्वतीमान, कैलाश के नीचे रावण तथा महेश मूर्ति शिव, जिसे त्रिमूर्ति कहते हैं। पौराणिक हिन्दू धर्म की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण इस शिव-महेश्वर की मूर्ति मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश की अविभाज्य त्रिमूर्ति की पूजा की जाती है।

मन्दिर निर्माण—गुप्तकाल मे वडे-वडे नगरो मे अनेक भव्य मन्दिरो का निर्माण हुआ। यह प्राय ईंटो और पत्थरो से वनाये गये। बौद्ध गया तथा नालन्दा का बौद्ध मन्दिर, जवलपुर का विष्णु मन्दिर तथा नागौद का शिव मन्दिर, मुख्य है। सबसे प्रसिद्ध झासी जिले के देवगढ का दशावतार का पत्थर का मन्दिर है, जिसकी दीवारो पर रामायण और महाभारत की कथायें उत्कीर्ण हैं। यहा के एक विष्णु मन्दिर मे शेष-शय्या पर लेटे विष्णु भगवान् की मूर्ति है, जिसमे लक्ष्मी उनके चरणों मे वैठी है।

कानपुर के पास विठूर का मन्दिर भी पुरातन काल से अपनी मूर्तियों की अद्‌भुत कला के लिये प्रसिद्ध है, यह ईंटो का बना हुआ है।

मूर्तिकला— गुप्तकाल मे इस कला के तीन केन्द्र थे। मथुरा मे बुद्ध की खड़ी मूर्ति, सारनाथ की पद्मासन लगाये बुद्ध की तथा पाटलिपुत्र की ताम्र की अनुपम बुद्ध-मूर्ति, इन्ही केन्द्रो का प्रतिनिधित्व करती है।

इस काल की मूर्तिया शारीरिक सौन्दय तथा आध्यात्मिक भावना का सुन्दर समन्वय है। इस युग मे बुद्ध की मूर्तियो के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वो की तथा हिंदू देवी देवताओ की मूर्तिया भी बनाई गई। काशी के समीप एक टीले मे गोवधनधारी कृष्ण की मूर्ति मिली है। यह अब सारनाथ के सग्रहालय मे रखी हुई है। कौशाबी की सूय मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। मोर की सवारी पर कार्तिकेय (भगवान् शिव के छोटे पुत्र) की मूर्ति काशी के कला भवन मे रखी है। भगवान् शिव की तो अनेक मूर्तिया मिली हैं। इस युग की जैन मूर्तिया भी बहुत मिली हैं। मथुरा केन्द्र वाली मूर्ति मे महावीर ध्यानमग्न हैं।

मृण्मूर्तिकला— इन सबके अतिरिक्त मिट्टी की भी बौद्ध और हिन्दू देवी-देवताओ की अनेक मूर्तिया सारनाथ, मथुरा, राजघाटादि स्थानो पर मिली हैं—जो सुन्दरता मे पत्थर की मूर्तियो के समान ही हैं। इस कला मे भी खूब उन्नति हो चुकी थी। साधारण लोग इन मिट्टी की मूर्तियो द्वारा ही अपनी भावनाओ की पूर्ति कर लेते थे।

भारतीय कला का प्रसार— भारत मे कला, धम की सहगामिनी रही है, तभी तो जब भारतीय धम प्रचाराथ लका, ब्रह्मा तथा पूवद्वीप समूह मे गये तो उन देशो की कला भी अनुप्राणित हुई। उनके मन्दिर, विहार और मूर्तियो आदि सभी पर भारतीयता की छाप पडी।

सगीत कला

सगीत कला का स्थान—सगीत कला ललित कलाओ मे से एक होने पर भी अपनी विशेषताओ के कारण सर्वोपरि मानी जाती है। भले ही साहित्य कला नृत्य, मूर्ति तथा चित्र कलाओ से भावो को शब्दो द्वारा स्पष्ट प्रकट कर सकने के कारण श्रेष्ठ हो। इसके रसास्वादन के लिये किसी भाषा विशेष का यथोचित ज्ञान अत्यावश्यक है ही, क्योंकि विना उस के किसी भी साहित्य रचना से लाभान्वित नही हुआ जा सकता। इस त्रुटि की पूर्ति केवल मात्र सगीत कला होती है। इस कथन मे लेश मात्र भी अतिशयोक्ति नही। यद्यपि सगीत का विशेषज्ञ उसे शास्त्रोक्त या वैज्ञानिक ढग से व्यक्त कर सकता है तथापि यही व्यक्ति श्रोता के रूप मे उसका विशेष रसास्वादन भी कर सकता है, किन्तु सगीत शास्त्र का विधिवत् ज्ञान न रहने पर भी कोई व्यक्ति गायक अथवा श्रोता के रूप मे उसका यथोचित रसास्वादन कर सकता है। यह विशेषता केवल मात्र सगीत कला मे ही है। इससे मूक पशु महकते पुष्प, लहराती खेतिया तक प्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित होती हैं।

भारतीय सगीत—अनादि काल से भारत मे सगीत की परम्परा चली आ रही है। इहलौकिक सगीत की परम्परा भारत का सामवेद इससे जोड देता है।

सामवेद के आधार पर स्वरो की गणना सात तक बढा ली गई। इन्ही के आधार पर 'जाति-गायन' प्रचलित हुए। तत्पश्चात् समयानुसार राग का आविष्कार हुआ और उसके अन्तर्गत छह राग और छत्तीस रागिनिया प्रचार मे आई। कालान्तर मे इन्हे निराधार समझते हुए दक्षिण के पडित व्यङ्कटमखी ने सात स्वरो से ७२ मेल निर्मित किये, जिसके फलस्वरूप छह राग छत्तीस रागनिया लुप्तप्राय हो गये। अब तो यह राग सख्या मे अनेक हो गये जिनमे भिन्न-भिन्न प्रकार के गीत गाये जाने लगे हैं। शब्दो के अर्थ के भाव की निष्पत्ति करने मे सगीत सहायक होता है किन्तु स्वर मात्रा का अपना अनूठा प्रभाव रहता है जिसकी समुचित साधना द्वारा चमत्कार सम्भव है, जिसकी पुष्टि विश्वविख्यात तानसेन आदि गायको से हो जाती है। स्वर के वैज्ञानिक प्रयोग आज भी सफल हो रहे हैं। इस उन्नति का श्रेय श्री विष्णु दिगम्बर तथा भातखण्डे जैसे अथक परिश्रमी गायनाचार्यो को है।

राग भले ही मनुष्य मात्र की प्रकृति का महत्त्वपूर्ण भाग हो किन्तु राग मे आनन्द की चरम सीमा तक रस पान करने का सौभाग्य भारत को ही अपने स्वर्ण-युग मे मिल रहा है।

नृत्य कला

चित्रकला ने यदि किसी आकृति, सुन्दर दृश्य या वस्तु को कपडे, लकडी अथवा पत्थर पर उतारा, तो मूर्तिकला ने उस मे गोलाई, मोटाई, लम्बाई, चौडाई, आदि भर कर इन्हे यथार्थता के समीप ला कर खडा कर दिया, किन्तु गतिहीनता, का स्थान जो बराबर बनी रही, उस स्फूर्ति को दिलाने का श्रेय नृत्य कला को ही प्राप्त हुआ।

भरत नाट्यम्—भरत नाट्यम् के मुख्य अग नृत्य मे केवल टागो की हलचलें नही होती। न ही केवल अगुलियो अथवा नेत्रो द्वारा ही भाव इगित करने पर सतोष किया जाता है। इस विकसित विद्या मे तो मानव शरीर के भिन्न-भिन्न अगो द्वारा अनेक प्रकार की गम्भीर भावनाओ को सुन्दरतया अभिव्यक्त किया जाता है। शारीरिक अवयवो मे मानसिक रहस्यो को उपयुक्त हाव-भाव द्वारा प्रकट करके रस-निष्पत्ति कराने की होड सी लग जाती है।

केवल सिर की १३ स्थितिया
नेत्रो की ३६ स्थितिया
ग्रीवा की ९ स्थितिया
हाथो की ३७ स्थितिया
और सम्पूर्ण शरीर की १० स्थितिया।

रहती है जो मन को लुभा लेती हैं। इन सब की सहायता से कहानियो की कहानिया अकेले नृत्य द्वारा दर्शाई जाती हैं। अकेले हस्त मुद्राओ द्वारा पशु-पक्षियो की आकृ-तियो तथा भावो का पूण वोध मनोहर चाल-ढाल से कराया जाता है। चिरकाल से भारत में यह विद्या अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी है।

इस भाव प्रधान पद्धति मे लावण्य का बाहुल्य है।

कथकलि—उद्गम स्थान। मालावार—केरल प्रदेश।

यह पारम्परिक पद्धति अपने मे पूण है। इसकी विशेपता यह है कि इसमे नृत्य का प्रदशन मात्र न रह कर लम्बी लम्बी कहानियो को मुद्राओ द्वारा नृत्य-नाटक रूप मे स्पष्टतया दर्शाया जाता है।

मणिपुरी—उद्गम स्थान—मणिपुर।

इस पद्धति मे भावो की मृदुलता पर वल दिया जाता है। इसकी वेप भूपा की चकाचौंध अति मोहक रहती है।

कत्थक—उद्गम स्थान—उत्तर भारत।

यद्यपि इस पद्धति में भी भरत नाट्य आदि नृत्यो की भरमार रहती है और वैसे ही भावो का प्रदशन किया जाता है किन्तु इस की विशेपता इस पद्धति की लय-प्रधानता मे निहित है। उस की चमत्कारिता ही इस की विधि है।

उपयु क्त सक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ललित कलाओं का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं रहा जिसमे भारत जगत भर से वाजी न ले गया हो।

श्री उदयशकर भट्ट की नवीन आधुनिक पद्धति मे इन चारो पद्धतियो का मनोहर मिश्रण है जिस की पूव के तथा पश्चिम के कला-प्रेमी मुक्त कठ से सराहना करते थकते नही।

अध्याय १०

विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार

प्रचीन काल से भारत के विदेशो के साथ सास्कृतिक, व्यापारिक एव राज-नीतिक सम्बन्ध चले आ रहे है, जिनकी चर्चा यथास्थान "सस्कृति" तथा सिन्धु घाटी की सम्यता एव सस्कृति के अध्यायो मे की जा चुकी है। सिकन्दर के आक्रमण से पश्चिम के साथ पारम्परिक सम्बन्ध और बढे। अशोक और कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये यहा से अनेक प्रचारक को पूर्वी व पश्चिमी देशो मे भेजा। अपने सद्-व्यवहार से उन्होंने उन देशो के निवासियो के हृदय पर शासन किया जिसके फलस्व-रूप उनमे हमारे सास्कृतिक सम्बन्ध दृढ होते गये। कुछ देशो ने तो भारत को जगद्-गुरु का मान दिया और अनेक ने अपना नेता माना।

मौर्योत्तर काल मे भारत मे पुनरुत्थान की कामना जागृत हुई। जातिया जब जगती है तो उनका भौगोलिक विस्तार भी होता है। फलस्वरूप वृहत्तर भारत की नींव पडी और मलाया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो तथा चीन मे भारतीय सम्यता का प्रचार हुआ। भारतवासियो ने वहाँ अपने उपनिवेश बनाए।

भारत के कश्यप मतग ने चीन मे सबसे पहले बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस दिशा मे कुमारजीव के सराहनीय कार्य की चर्चा यथास्थान की जा चुकी है।

चीन—'बुद्धयश' तथा गुणवर्मनादि भी कश्मीर से वहा जा पहुँचे जिसके फल-स्वरूप चीनियो मे, मूल-स्थान पहुँचकर आध्यात्मिक निधि को ले जाने की इच्छा इतनी बढी कि वे यात्रा की कठिनाइयो को झेल कर, प्राणो को सकट मे डालकर यहाँ आए। फाह्यान ह्वेनसाग और इत्सिग आदि का भारत मे तब जो स्वागत हुआ उससे पारस्प-रिक प्रेम इतना बढा कि बाद मे जब भारतीय चीन पहुचे, तो उन्होंने वहाँ अपनी पृथक् बस्तिया बना ली। बौद्ध धम के साथ साथ भारतीय सम्यता का प्रचार मगोलिया, साईबेरिया, कोरिया और जापान मे फैला। भारतीय कला के प्रभाव की गाथा चीन के पगोडा अब भी गा रहे हैं।

मध्य एशिया—खुतन मे अशोक ने प्रचारक भेजे थे, तब से यह प्रचार का बडा केन्द्र बन गया था। इसी केन्द्र से बौद्ध धर्म चीन पहुचा। वहाँ की खुदाइयो से भारतीय सिक्के और देवताओ की मूर्तियो के भग्नावशेष भी मिले हैं। सर आरेलस्टीन की १९०८ की रिपोर्ट के अनुसार मध्य एशिया मे भारतीयो की बस्तिया थी, जिनका उस देश के निवासियो के धर्म तथा भाषा पर बहुत प्रभाव पडा दिखाई देता है।

तिब्बत—तिब्बत से कई जिज्ञासु नालन्दा तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयो मे आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। यही कारण है कि आक्रमणकारियो द्वारा इन विश्वविद्यालयो की अमूल्य निधि के नष्ट किये जाने पर भी आज तिब्बती साहित्य बौद्ध दर्शन पर इतना प्रकाश डाल रहा है कि सब लाभान्वित हो रहे हैं। यहाँ के राजा 'सांगचन गम्पो' ने विशेष प्रयत्नों से भारतीय लिपि के आधार पर तिब्बत की वर्णमाला की आवश्यकता पूर्ण की।

तिब्बत राज्य के निमन्त्रण पर नालन्दा के ७५ वर्षीय आचार्य शान्तरक्षित जी ने ७४७ ई० मे वहाँ पहुँच कर "समये" नामक पहला विहार बनवाया, जिसमे सर्वप्रथम कुछ तिब्बतियो को भिक्षुओ के रूप मे रखा। उसी आठवी शताब्दी मे कश्मीर के पद्मसभव के प्रयत्नो से यहाँ महायान की तान्त्रिक शाखा का प्रचार हुआ, जिसके फलस्वरूप लामावाद की नीव पडी। तिब्बत से बर्बरतापूर्ण असभ्यता को मिटाने तथा इसे सास्कृतिक उन्नति के पथ पर लाने का श्रेय भारत को ही है। यह शुभ कार्य वहाँ भारतीय बौद्ध ग्रथो के अनुवाद करने से सम्पन्न हो सका।

भारतीय उपनिवेश—श्रीलका (सीलोन)—बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ यहाँ सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र 'महेन्द्र' तथा बेटी 'सघमित्रा' को भेजा था। इन्होने गया से बोधिवृक्ष की एक शाखा ले जाकर लका मे लगाई थी। वैसे वहाँ ईसा से ५०० साल पहले से भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो जाने का पता चलता है। वहा बौद्धधर्म का स्वागत तो हुआ ही, साथ ही भारतीय संस्कृति तथा पाली लिपि का भी गहरा प्रभाव पडा। भारत से वापसी पर फाह्यान भी श्रीलका से होता हुआ गया था। उसने इसकी अनुराधा नगरी के वैभव की सराहना की। आज भी श्रद्धापूर्वक बौद्ध स्थानो के दर्शन करने के लिये वहाँ से अनेक यात्री भारत आया करते हैं।

बर्मा—'ब्रह्मदेश' के नाम में भी भारतीय प्रभाव झलक रहा है। अशोक ने यहाँ भी भिक्षु बौद्ध धर्म प्रचारार्थ भेजे थे। फिर पाँचवीं शती मे लका से एक भिक्षु बुद्ध घोष ने आकर यहा हीनयान का प्रचार किया था। यहाँ संस्कृत लिपि मे अनेक अभिलेख मिले हैं। इसके अराकान भाग मे जो हिन्दू राज्य स्थापित हुआ था, उसकी राजधानी वैशाली थी। सन् १९३७ तक भारत और बर्मा एक ही ब्रिटिश गवर्नर जनरल के अधीन थे। इनके पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता का प्रमाण, भारत की

स्वतन्त्रता के बाद दिल्ली मे होने वाले एशियाई सम्मेलन मे पधारने वाले वर्मी प्रतिनिधि मडल के नेता श्री जस्टिस क्यावमिट के कथन से हो रहा है —"मैं तो विदेश नही, अपने ही घर आया हूँ। हम सस्कृति के केन्द्र से सम्बद्ध है। हम विचार मे भारत के समीप है, भूगोल मे समीप हैं, समाज और सस्कृति मे समीप हैं।"

स्याम (थाईलेंड)—स्याम तीसरी शताब्दी मे भारत का उपनिवेश बना। और १२वी शताब्दी तक भारत के अधीन रहा। वाद मे यह देश थाई-जाति के अधिकार मे आ गया। स्याम की सभ्यता भारतीय सस्कृति से बहुत प्रभावित हुई। इसकी लिपि पर पाली का प्रभाव प्रत्यक्ष दीखता है। स्यामियो मे कई रीति-रिवाज अब भी भारतीयो जैसे हैं। दशहरा भी धूम-धाम से मनाया जाता है। बौद्ध देश हुए भी यह राम का देश है। थाई जीवन मे राम और रामायण की लोकप्रियता की जडें बहुत ही गहरी हैं। भारतीय अब भी वहाँ बसे हुए हैं वे भारत मे आते जाते हैं। आजकल भी अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या को वहाँ कई विद्यालयो में छुट्टी रहती है। वसो पर यात्रियो को जो टिकट मिलते है, उन पर राम की मनोहर छवि रहती है।

थाई रामायण का नाम "रामकियेन" है, जिसका अर्थ होता है "रामकीर्ति"। आज के नरेश 'भूमिवल अतुल तेज' भी अपने नाम के साथ परम्परानुसार 'राम' लगाते हैं। प्रत्येक थाईवासी की यही धारणा है कि रामायण उनकी है। थाईलैण्ड मे अयोध्या और लोपपुरी (लवपुरी) नगरिया भी है। वैंकाक एक प्रसिद्ध मन्दिर की दीवारो पर "राम" के जीवन की विभिन्न झाकिया चित्रित हैं।

हिन्द चीन—(क) वियतनाम—भारतीयो ने दो राज्य स्थापित किये थे—चम्पा और कम्वोज (कम्वोडिया)। चम्पा मे अनाम शामिल था। अमरावती उसकी राजधानी रही। इसके पहले भारतीय राजा का नाम 'श्रीमार' था। इस देश का लगभग १३०० वर्ष तक भारत से सम्बन्ध रहा। यहाँ आदिवासी पूर्णतया भारतीय वन गये थे। शिव, शक्ति, गणेश और स्कन्द इनके देवता रहे हैं। साथ ही साथ विष्णु, कृष्ण और वुद्ध की पूजा भी चलती रही।

(ख) कम्बोडिया—पहले तीसरी से ७वी शताब्दी तक यहाँ फूनान का हिन्दु राज्य रहा, तत्पश्चात् कुम्वज राज की नीव पडी। यहा के निवासियो के विश्वास के अनुसार इस प्रदेश का नाम, भारत के एक ब्राह्मण कौंडिण्य के नाम पर पडा जिसने यहाँ की एक नाग-कन्या के साथ विवाह किया और अपना राज्य स्थापित किया। इसके वाद यहा 'जयवर्मन,' 'यशोवर्मन' तथा 'सूर्यवर्मन' आदि राजा, विजेता पण्डित और प्रसिद्ध शासक हुए। यहा के अन्तिम शासक ने फ्रासीसियो के समक्ष आत्म-समर्पण किया था। इसके प्रसिद्ध अगकोर मन्दिरो की दीवारो के पत्थरो पर रामायण के दृश्य उत्कीर्ण हैं। इसी प्रकार लाओस के कुछ मन्दिरो पर भी राम-कथा के दृश्य खुदे हुए हैं।

मलय—यहाँ पर कलिंग के महाराजा शैलेन्द्र ने राज्य स्थापित किया था जो सुमात्रा, जावा, वाली और बोर्नियो तक फैला था और ग्यारहवी शताब्दी तक चला। उसके सरक्षण मे यहाँ महायान का बहुत प्रचार हुआ। यह मुस्लिम देश अब भी राम भक्ति मे किसी से पीछे नही। मलय रामायण का नाम है—हिकायत सिरीरामा। आजकल भी सास्कृतिक सम्मेलनो मे रामायण की घटनाओ का अभिनय किया जाता है। यहाँ की अभिनय कला बहुत विकसित है। यहाँ के नौसेना के एडमिरल को 'लक्ष्मण' कहते हैं। इस देश मे बहुत से भग्नावशेषो से पता चलता है कि प्राचीन काल मे यहा भारतीय धर्म तथा सस्कृति का प्रचार रहा है।

इण्डोनेशिया—इण्डोनेशिया यूनानी शब्द है—जिसका अर्थ है 'भारत द्वीप'। इसके अन्तर्गत कितने ही द्वीप हैं जिनमे जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि प्रधान हैं। प्राचीन काल मे ये द्वीप भारत के अग माने जाते थे। आजकल भले ही यह मुस्लिम देश है, किन्तु भारतीय सस्कृति वहाँ छाई हुई है। इसके भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० सुकर्णो का नाम भारत के वीर कर्ण पर है। डा० सुकर्णो के शब्दो मे देखिये "भारत देश और भारत की जनता प्राचीन काल से ही हमारे साथ रक्त और सस्कृति दोनो ही सूत्रो से बधी हुई है। इण्डिया नाम को एक क्षण के लिये भी भूलना हमारे लिये असम्भव है क्योंकि यही इन्डो शब्द हमारे देश के नाम का प्रथमार्द्ध है।

जावा (यवद्वीप)—सम्भवत दूसरी शताब्दी मे कलिंग निवासी यहाँ आकर बसे और हिन्दू राज्य की स्थापना की। यहाँ के लोग तो ऐसा कहते हैं कि भारत से पराशर तथा व्यास ने यहाँ बस्तियाँ बसाई थी। शैलेन्द्र वश के सरक्षण मे बरोबुदुर जैसे मन्दिर यहा बने जिसे बुद्ध की ४३२ मूर्तिया हैं जो जावा कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इन पर गुप्त कला का प्रभाव झलकता है बोरोबुदुर का बौद्ध-स्तूप ससार भर मे सबसे सुन्दर माना जाता है। इसकी कला मे सतुलन और स्पष्टता के साथ-साथ सौन्दर्य और भक्ति भावना भी है। जावा के 'जोग-जकार्ता' मे जिस का सस्कृत मे शुद्ध रूप 'योग्य-कर्ता' है। राम-सम्बन्धी नृत्य-नाटक ससार भर मे प्रसिद्ध है। इस नगर के समीप 'परम बनन' के मन्दिर के प्रस्तर भित्तियों पर सम्पूर्ण रामायण उत्कीर्ण है। यहाँ के लोग राम को अपना महापुरुष या राष्ट्रीय पुरुष मानते हैं। यहाँ यत्र-तत्र रामलीला होती है। वह इस लीला को ही देश की कला मानते हैं, उनको अपनी इस सास्कृतिक धरोहर पर बडा मान है।

सुमात्रा—इण्डोनेशिया के द्वीपो मे सुमात्रा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना चौथी शताब्दी मे हो गई थी। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार इसकी राजधानी श्री विजय धर्म ज्ञान तथा सस्कृति का केन्द्र थी, जिसे आजकल पलेमबग कहते हैं। यहीं उसने सात साल रहकर सस्कृत के शास्त्रो के स्वाध्याय के साथ-साथ पाली का भी अध्ययन किया।

बाली द्वीप—इण्डोनेशिया के अन्य द्वीपों से ही कहीं अधिक भारतीय धर्म यहा अब भी जीवितावस्था मे है। चीनी कहते हैं कि यहा के कौण्डिण्य वंशी भारतीय राजा ने अपना दूत चीन के सम्राट् के पास भेजा था। यहा चौथी शताब्दी मे हिन्दू राज्य स्थापित हुआ था और दशवी मे जावा ने इस पर अपना अधिकार जमाया। बाद में १८३९ में यह द्वीप हालैण्ड के सरक्षण मे आ गया। १९११ मे इस हिन्दू राज्य का अन्त हुआ। रामायण का प्रचार बाली में विशेष रूप से हुआ। यह राम कथा से पूर्ण-तया आप्लावित है।

बोर्नियो (वारुणी)—बोर्नियो अपने द्वीप-समूह का सबसे बडा द्वीप है। इस द्वीप मे हिन्दू राज्य की स्थापना पहली शताब्दी मे हो गयी थी। यहा से अगस्त्य शिव, गणेश, ब्रह्मा, स्कन्द आदि की बहुत सी मूर्तियाँ हिन्दू मन्दिरो मे मिली हैं। इसके अति-रिक्त ४०० ईस्वी के चार शिलालेख भी मिले ह जिनमे 'मूलवमन' की कीर्ति का यशगान है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईसवी सन् के आरम्भ मे यहाँ हिन्दू राज्य स्थापित हो चुका था। यह सब भारतीय सस्कृति के जीते जागते प्रमाण हैं।

उपनिवेशो पर भारतीय प्रभाव—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक भारतीय धर्म प्रचार की सद्‌भावना तथा व्यापार की तीव्र इच्छा से ही प्रेरित होकर प्रथम शताब्दी ई० से दक्षिण पूर्वी एशियाई देशो के अल्प-सभ्य निवासियो मे जा उसे और कभी कभी वहा राज्य भी स्थापित किया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियो, आचारो, विचारो तथा व्यवहारो का अद्‌भुत सम्मेलन कई शताब्दियो तक चला जिस की मुख्य विशेषता यह रही कि इस सस्कृति के प्रसार मे कहीं भी आर्थिक शोषण, बल प्रयोग या हिंसा को लेशमात्र स्थान न मिला। अपितु यही उद्देश्य रहा कि पिछडी जातियो को धर्म और सस्कृति के उच्चतम स्तर तक दया, प्रेम तथा सहानुभूति के द्वारा लाया जाये।

भारत की ऐसी सास्कृतिक विजय से अधिक शान्तिपूर्ण हितकर विजय का दूसरा उदाहरण विश्व-इतिहास मे कही भी नहीं मिलता। उस समय ससार बर्बरता पूर्ण कृत्यो मे डूबा हुआ था। भला भारत सर्वरूपेण समृद्धि सम्पन्न होते हुए किसी भी प्रकार के अभाव का भास कैसे करता? भारतीय उपनिवेशवाद का आधार-स्तम्भ था **'वसुधैव कुटुम्बकम'** की शुद्ध निर्मल भावना। तभी तो भविष्य मे राज्यो की उथल-पुथल के होते हुए भी बोरोबुदुर और अगकोरवट की अलौकिक कला भारत का यश-गान करती रहेगी।

११वीं शताब्दी के बाद बृहत्तर भारत का मूल स्रोत भारत जब स्वय परतत्र होने के बाद सूख गया तो हमारे सम्बन्ध दक्षिण पूर्व से समाप्त हो गये और स्थानीय सस्कृति के तत्त्व इन उपनिवेशो मे उभरने लगे। भारत मे इस्लाम अपनी विजय प्राप्त करके इन द्वीपो पर भी छा गया।

अध्याय ११

राजपूत-युग

विदेशी तत्त्वो का भारतीय समाज मे मिश्रण

भारतीय इतिहास के मध्यकाल का प्रारम्भ—ससार मे बहुधा देखा जाता है, कि जो ऊचा चढ़ता है, वह गिरता भी है। गुप्तवश के स्वण युग के बाद, भारत को भी प्रवनति का मुंह देखना पडा। भारतीय इतिहास के मध्यकाल के (६५० से १५५०ई० तक) पूव से ही जो अराजकता फैली, उसे महाराजा 'हषवर्धन' भी रोकने मे असमथ रहे। अब भारत छोटे छोटे असख्य रजवाडो मे बट चुका था। देश रक्षा का उत्तरदायित्व सभालने को कोई केन्द्रीय सघ था ही नही। हूणों के बाद लगभग ५०० वर्षों तक सीमा पर से कोई आक्रमण न होने के कारण कमशीलता का स्थान अहम्मन्यता ने ले लिया था। समाज में गतिहीनता के आ जाने से विकास अवरुद्ध हो गया था। ६४७ मे 'हष' की मृत्यु हो जाने के उपरान्त ११९२ ई० तक का समय, जिनमे-राजपूतो का ही प्रभुत्व था, राजपूत-युग कहलाता है, जबकि पृथ्वीराज चौहान के साथ विश्वासघात करके मुहम्मद गौरी ने दिल्ली में अपना राज्य स्थापित किया।

राजपूत जातियों की उत्पत्ति विदेशी आक्रमणकारियों की सतान—विदेशी इतिहासकार कनल टाड अपने प्रसिद्ध "राजस्थान" ग्रथ मे राजपूतो को हूण, शक, कुशान, पार्थियो आदि विदेशी आक्रमणकारी योद्धा जातियो की सतान बतलाते हैं। इसमे सदेह नही कि भारतीय सस्कृति को आत्मसात् करने की प्रबल शक्ति ने, जो भी मुसलमानो से पहिले यहा आया, उसे अपना कर यथास्थान बसा लिया। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि इन जातियो के राज्य नष्ट हो जाने पर भी, कोई इनमें से भारत छोडकर लौटा नही। भारतीयो को आक्रमणों का विरोध तो करना ही था, किन्तु उन्होने सस्कृति का विरोध नही किया। यूनानियो को खदेडा, किन्तु सन्धि होने पर कला का आदान प्रदान भी हुआ। यहा भारतीयो की सहिष्णुतापूर्ण मूल-धारणा यही रही कि विश्व के सब मनुष्य एक ही परमात्मा की सतान हैं, और इसीलिए

सबको पूरा-पूरा अधिकार है कि वे अपने विचारो के अनुसार भगवान् की पूजा करें, और स्व-इच्छानुसार सासारिक जीवन वितायें। भारत का सम्पूर्ण इतिहास इस प्रवृत्ति का प्रमाण दे रहा है। वाहर से आने वालो को भारतीयो ने कभी विदेशी समझा ही नही। भारत मे यूनानी, कुशान, पार्थियनी, शक, हूण, पारसी, मगोल आदि जातियो का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ। यह सव दूसरी शती० ई० तक भारतीय वन चुके थे। तीसरी शताब्दी मे तो भारतीय सस्कृति की प्रवल पाचन-शक्ति ने आध्र के इक्ष्वाकु राजाओ द्वारा शक कन्याओ के पाणिग्रहण के उदाहरण प्रस्तुत कर दिये। शको के साथ-साथ हूणो के यहा वस जाने पर उन्हे क्षत्रिय वना लिया गया। इन सवका भारत मे भारतीय वनकर ही वस जाना स्वाभाविक था। इन्होंने स्वत भारत के हिन्दू तथा वौद्ध आदि धर्म अपना कर वैवाहिक सम्वन्ध भी स्थापित कर लिये थे। इन्ही की वीर सतानो को राजपूतो की सज्ञा दी गई। इस विचार का समर्थन 'ब्रूक्स' तथा 'स्मिथ' भी करते हैं। इसके मतानुसार इन्ही मे छोटी जातियो के लोग अहीर, जाट और गूजर कहलाये।

अग्निकुल राजपूत—पृथ्वीराज चौहान के मन्त्री, सेनापति, राजकवि तथा मित्र 'चन्द्रवरदाई' अपने महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' मे राजपूतो को अग्निकुल राजपूत मानते हैं। दूसरी शताब्दी ई० पूर्व के वैक्ट्रियाओ, शको और कुषाणो से लेकर पाचवी शताब्दी ई० मे हूण आक्रमणकारियो से युद्ध करते-करते, क्षत्रिय वग का लगभग लोप हो चुका था। इस विनाश की पुष्टि परशुराम की कथाओ से भी होती है। इनके अनुसार जव देश में कोई शासक ही न रहा, तो आवू पर्वत पर एक विशाल अग्निकुड रचकर महान् यज्ञ किया गया, जो ४० दिन तक चला। ब्राह्मणो की प्रार्थनाओ के फलस्वरूप उस यज्ञ-कुड मे से चार महान् योद्धाओ का जन्म हुआ, जिन्होने राजपूतो की चार महान् जातियो मालवा के पामार अथवा पवार, कन्नौज के प्रतिहार अथवा परिहार, अजमेर दिल्ली के चौहान और गुजरात के चालुक्यो की नीव रखी, इन्होंने ही क्षत्रियो का स्थान ले लिया। श्री राधाकमल मुकर्जी के अनुसार यह कथा कोई कल्पना मात्र न थी।

सूर्यवशी और चन्द्रवशी– पजाव के भूतपूर्व प्रोफेसर श्री वेदव्यास जी एडवोकेट, दिल्ली, विनायक वैद्य और पडित गौरीशकर ओझा, राजपूतो को विदेशी नही मानते। राजपूत स्वय भी अपने आपको वैदिक काल के सूर्यवशी तथा चन्द्रवशी क्षत्रियो की सन्तान मानते है और अपना सम्वन्ध भगवान् राम और कृष्ण से सिद्ध करते हैं। भारतीय इतिहासकार इसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके शरीर की वनावट, रग, कद, अग्नि पूजा की प्रथा आदि सभी वातें प्राचीन काल के आर्यों से मिलती है।

राजपूती स्वभाव—सभी विद्वान्, राजपूतो के चरित्र के वर्णन मे एकमत हैं। राजपूत दृढप्रतिज्ञ, साहसी, युद्धप्रिय, स्वामि-भक्त तथा ईमानदार होते थे। वे

तलवार के धनी थे। युद्ध उनका स्वाभाविक काय था। पीठ दिखाना वे जानते ही न थे। आत्मसम्मान की रक्षा के लिये वे सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। छल, कपट वे कभी न करते। अपनी जान पर भले ही आ बने, पर शत्रु के साथ भी वचन निभाते थे, एव उदारता का व्यवहार करते थे। शरणार्थी को कभी निराश नही करते थे, चाहे कितनी भी हानि क्यो न उठानी पडे।

राजपूत स्त्रियों का स्थान—समय पडने पर राजपूत कोमलागिनिया वीरागना वन जाती थी। विपत्ति के समय वे साहस और धीरता का पूरा परिचय देती थीं। वे स्वयवर के अधिकार का प्रयोग करती थीं। उनका चरित्र ऊचा और आचरण पवित्र होता था। सतीत्व की रक्षा करने के लिये एव अपमान से बचने के लिये जौहर प्रथा को श्रेष्ठ समझती थी। रक्षा वन्धन का सूत्र अटूट मैत्री एव प्रेम का प्रतीक था।

पतन— मातृभूमि के रक्षार्थ मर मिटने वाले वीर राजपूत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श छोडकर देश को भी केवल अपने राज्य तक सीमित समझते थे। जातीयता की सकुचित भावना देश-रक्षा मे बाधक वनी। किसी स्थायी सगठन या सघ का निर्माण न हो पाया। मिथ्याभिमान, परस्पर गृह कलह एव वैर-भाव तथा राज्य-विस्तार की लालसा के कारण राजपूत राजा सदा लडते झगडते रहे। वे अपने समय के विभिन्न राजवशो के बीच परम्परागत शत्रुता रखने मे ही अपना गौरव समझते थे। पतन की पराकाष्ठा यहा तक थी कि वे लोग विदेशी आक्रमणकारियो के हाथो सगे-सम्बन्धी राजा के पिट जाने मे आनन्द लेते थे। वे यह भूल जाते कि अगली वार शत्रु की तलवार उनकी ही गर्दन पर होगी। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता तथा रणनीति के अभाव के कारण एक-एक करके प्राय सभी राजपूत रियासतें अफगानों, पठानो और फिर मुगलों के अधीन होती चली गई।

धार्मिक स्थिति—इस काल की धार्मिक परिस्थिति को प्रमुखत दो रूपो मे विभक्त किया जा सकता है—बौद्ध-धर्म की विकृत स्थिति और वैष्णव-धर्म की परम्परागत स्थिति। आदि गुरु श्री शकराचार्य के विद्वतापूर्ण शास्त्रार्थो ने जनसाधारण को बौद्ध धर्म से श्रद्धा हटाकर प्राचीन वैदिक धर्म मे जमा दी।

उन के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप, भक्ति आन्दोलन जोर पकडता गया। राजपूतो मे जात-पात की प्रथा मे कठोरता बढती गई। पुराण रामायण और महाभारत इनके धर्म ग्रथ थे। व्रत, उत्सव, तीर्थ यात्रा को महत्ता दी जाने लगी। इनके प्रिय देवता भगवान शिव रहे जिसका परिचय शिव नटराज के ताडव नृत्य की मुद्रा मे सुन्दरतम मूर्तिया दे रही हैं। शक्ति-पूजा भी बढती ही चली गई।

राजपूत के काल मे कला—राजपूत काल मे कला के सभी क्षेत्रो मे आशातीत उन्नति हुई। विशेपतया वास्तुकला मे भव्य मन्दिरो का निर्माण हुआ। मौलिकता पर कम और विशालता पर अधिक वल दिया गया। खजुराहों का कडरिया महादेव का मन्दिर, भुवनेश्वर का लिगराज मन्दिर और कोणार्क के सूर्य-नारायण के मन्दिरो का भारतीय वास्तुकला मे ऊचा स्थान रहा है।

खजुराहो का मन्दिर—छतरपुर से २७ मील और पन्ना से खजुराहो २५ मील दूर है। इस गाव मे कुल मिलाकर तीस मन्दिर हैं जिनमे आठ मन्दिर जैनियों के हैं। सवसे सुप्रसिद्ध मन्दिर 'कडरिया महादेव' का है। यह मन्दिर १०६ फुट लम्बा ६० फुट चौडा और ११६ फुट ऊचा है। इस मन्दिर का कोई भी भाग ऐसा नहीं, जिसमे पत्थर को काटकर मूतिया न वनाई गई हो। इस मन्दिर मे कनिंघम ने ८७२ मूर्तियां ऐसी गिनी थी जिनकी ऊँचाई दो और तीन फुट के अन्दर थी। छोटी मूर्तियां तो सहस्रो की सख्या मे है।

भुवनेश्वर का मन्दिर—दक्षिण मे मदुरई तथा उत्तर मे काशी के अतिरिक्त कोई और स्थान कदाचित् भारत मे ऐसा नही जिसमे इतने अधिक देव-मन्दिर एक साथ विद्यमान हो जितने भुवनेश्वर मे है। इन मन्दिरो मे मुख्य मन्दिर श्री लिगराज का है, जिसे राजा 'ललाटेन्दु केशरी' ने ६१७ से ६५७ ई० में वनवाया था। यह १८० फीट ऊचा है। मन्दिर की वनावट ऐसी है कि उसका कोई भी वाहरी भाग पशु-पक्षी तथा नर-नारियो की वडी तथा वारीक मूतियो से खाली नही है। "गौरी" की प्रतिमा सुन्दर काले पत्थर की वनी है, जो अत्यत आकर्पक है।

कोणार्क का मन्दिर—कोणार्क का श्री सूर्यनारायण का मन्दिर जगन्नाथपुरी से २१ मील की दूरी पर समुद्र तट पर वना है। कला की दृष्टि से इस मन्दिर की मूतिया एशिया में सवसे सुन्दर मानी जाती हैं। सरकार ने कई लाख रुपये लगाकर इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया है।

राजपूतो के चित्तौड, रणथम्भोर, जोधपुर, ग्वालियर के शानदार किले भी कला के सुन्दर उदाहरण है जिनकी सराहना कला-प्रिय वावर ने मुक्त-कठ से की है। इनके अतिरिक्त उनकी नागरिक वास्तु कला का सुन्दर परिचय उदयपुर, जयपुर, जोधपुर और ग्वालियर के राजमहल दे रहे हैं। पहाडियो और झीलो के उपयोग में सौन्दर्य और सुरक्षा दोनों का ध्यान रखा गया है।

मूर्तिकला—मन्दिरो की शोभा मे सुन्दर मूर्तियो ने चार चाद लगा दिये हैं। इन मूर्तियो की विशेपता अद्भुत शुद्धता कोमलता और मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता रही है। इनकी समृद्धि मे तत्कालीन तीव्र भक्ति भावना काम कर रही है। धर्म मे अपूर्व

निष्ठा और सौन्दय-भावना-जन्य अलकार सयुक्त इस कला की आकपक कृतिया ससार मे अप्रतिभ हैं। श्री राधाकमल मुकर्जी के अनुसार ससार भर की कला के इतिहास मे कहीं पर भी असासारिकता तथा इन्द्रिय-सुख का ऐसा सयोग प्राप्त नही जैसा मध्यकालीन कला के तराशे हुए युगलो मे है।

साहित्यिक रचनायें—भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' और 'मालती-माधव' दण्डी का 'दशकुमार चरित, कल्हण की 'राजतरगिणी', चन्द्रवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', वाण के 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी', भर्तृहरि के 'नीति, शृगार वैराग्य शतक और जयदेव का 'गीतगोवि द' आदि इसी युग की देन हैं। राजाओ में मुंज, भोज और पृथ्वीराज आदि साहित्य के सरक्षण के लिये प्रसिद्ध हैं। 'हितोपदेश' की रचना भी इसी काल मे हुई। इस युग मे उच्च कोटि की अनेकानेक काव्य रचनाऐं हुई।

——

अध्याय १२

इस्लाम

हजरत मुहम्मद से पूर्व अरब की दशा और प्राकृतिक प्रभाव—हजरत ईसा के उपरान्त लगभग ६०० वर्ष के अन्तगत अरब की हालत खराब हो गई थी, तथा निकटवर्ती रोमन राज्य तथा ईरान का भी पतन हो चुका था, इसका मुख्य कारण विलासिता का प्रभाव था। अरब के छोटे छोटे राज्य आपस मे लडते रहते थे। अरबी लोग जुआ खेलते और मदिरा पान मे रत रहते। सब प्रकार से उनका नैतिक तथा धार्मिक पतन हो गया था। काबा शरीफ मे भिन्न-भिन्न कबीलो के अपने अपने ३६० खुदाओ के बुत थे जिनकी वे पूजा करते थे। स्त्रियो की दशा शोचनीय थी। उनको पुरुष अपनी सम्पत्ति समझते थे। बहुधा बालिकाओ का जन्म होते ही अन्त कर दिया जाता था।

अरब की मरुभूमि मे वर्षा नाम को भी नही होती। सदा पानी की तलाश रहती। न चाहते हुए भी पानी की कमी पारस्परिक झगडे का कारण बन जाती। पानी मे बचत की दृष्टि से इनको टूटीदार लोटे बनाने पडे और जल के अभाव में रेत से शुद्धि करना पर्याप्त समझने लगे। भेड, ऊँट, आदि पशु पालन से जब जीवन यापन न कर पाते तो लूटमार के धर्वो पर उतर आते।

प्राकृतिक सौन्दर्य का वहा सदैव अभाव रहने के कारण, प्रकृति पूजा या सगीत, चित्रकला आदि ललित कलाओ को कोई स्थान न मिला। इस्लाम मे इनको घृणित एव धम विरुद्ध माना गया। बादलो के न रहने से आकाश सदा निर्मल रहता और चन्द्र-दर्शन मे कभी भी अडचन न पडती, अत इस्लाम मे सभी काम चाद को देख कर होने लगे।

हजरत मुहम्मद की सक्षिप्त जीवनी—'हम्द' का अर्थ होता है 'प्रशसा', और 'मुहम्मद' का अर्थ है जिसकी बहुत ही 'प्रशसा' हो। मुहम्मद साहब का जन्म ५७० ई० मे हुआ। इनके मा-बाप मक्का शरीफ के कुरैशी कबीले के थे, जिनको काबा शरीफ के सगे-असवद (काले पत्थर) की पूजा से पर्याप्त आय होती थी। इनके मा बाप

वाल्यकाल मे ही परलोक सिधार गए और इनकी देख-रेख इनके चाचा ने वहन किया। वचपन से ही यह विचारशील तथा एकान्त-प्रिय थे। समझाने-बुझाने पर इन्होने, उदरपूर्ति हेतु श्रीमती खदीजा नाम की धनवन्ती विधवा के यहा नौकरी कर ली, जिसने इनकी सेवा पर प्रसन्न होकर वाद मे इनसे ही शादी कर ली, हालाकि वह पन्द्रह साल इनसे बडी थी। इनका सामान्य गृहस्थ जीवन चालीस साल की आयु तक सुन्दर वीता। अपने सद्व्यवहार से यह सर्वप्रिय हो गये थे, लोगो के श्रद्धा के पात्र वन चुके थे। इनको भी कुरीतियो को दूर करने की चिन्ता रहने लगी।

कहा जाता है कि एक दिन जव ये एक पर्वत की कदरा मे विचारो मे मग्न वैठे थे, इनको ईश्वरीय प्रेरणा हुई 'तुम मेरा पैगाम लोगो तक पहुँचाओ और उनको सदुपदेश दो।'

प्रभु आज्ञा का पालन करते हुए आपने खुदा के एक ही होने का तथा मूर्ति-पूजा के वन्द कराने का प्रचार शुरू कर दिया, जिससे आय वन्द हो जाने से अपनी विरादरी तथा अन्य कवीलो ने विरोध करना ही था। साथ ही उन्होने इस प्रचार मे अपने खुदाओ का अनादर माना था। अतएव उनके अत्याचारो से जव हजरत की जान पर आ वनी तो ६२२ ई० मे हजरत साहव को छिपे छिपे मदीना जाकर शरण लेनी पडी। इसी यात्रा को 'हिजरत' की सज्ञा दी गई। तभी से हिजरी सन् चालू है। मदीना मे इनका वहुत स्वागत हुआ। वे लोग इनके अनुयायी वन गए और मदीना वालो ने मक्का वालो पर आक्रमण कर दिया। अव हजरत मुहम्मद विजयी होकर लौटे और अपने सद्व्यवहार द्वारा मक्का वालो के हृदय परिवर्तन मे भी सफलता प्राप्त की तवसे प्रचार मे प्रगति हो चली।

इस्लाम का अर्थ—इस्लाम का अर्थ है 'खुदा के सामने अपने आपको पूर्णतया अर्पण करना' और 'मनुष्य के साथ शाति और प्रेम का व्यवहार करना'। इस प्रकार उस समय की माग इस्लाम धर्म के जन्म से ही पूरी हुई।

खुदा—सर मुहम्मद इकवाल के शब्दो मे "इस्लाम की शिक्षा मे दर्शन कम और नैतिकता अधिक है।" यह वहुत कुछ यहूदी मत पर आधारित है। खुदा-अल्लाह एक है। उसके समान कोई भी नही हो सकता। वह सारे विश्व का स्वामी, शक्ति-सम्पन्न एव प्रतापी है, स्वेच्छाचारी है, जिसके सामने तक कुछ महत्त्व नही रखता। वह परम दयालु है, न्यायकारी है, निराकार है, सातवें आसमान मे उसका सिंहासन लगा है, वैसे अति समीप है, वह प्रसन्न और अप्रसन्न भी होता है। इस्लाम ने उनमे प्रेम कम, भय अधिक दिखाया है।

पैगम्बर, सुन्नत, हदीस—हजरत मुहम्मद उसके सदेशवाहक हैं। अल्लाह और उनके रसूल (दूत) मुहम्मद साहिव पर हर मुस्लिम को ईमान लाना अनिवार्य

है। जो शुभकार्य मुहम्मद साहब ने किया उनका वर्णन सुन्नत ग्रथ में आता है। जो-जो उपदेश उन्होने दिए, वे सब इस पवित्र पुस्तक में सकलित हैं।

सृष्टि रचना—'कुन के कहने से किया आलम बया' खुदा ने कहा कि ससार बन जाये, और रचा-रचाया जगत् सामने आ गया, जो रचयिता की तरह सत्य तथा शुभ है।

मनुष्य—मनुष्य बस खुदा की कृपा पर निर्भर है। बदा खुदा का खौफ माने। वह खुदा की तरफ आख भी नही उठा सकता। एक ही खुदा की सतान होने के कारण सब बराबर हैं। न कोई बडा है न कोई छोटा। तभी तो एक ही दस्तरखान पर सब मिल कर भोजन करने मे और जुमा (शुक्रवार) को मस्जिद मे एक ही पक्ति मे नमाज अदा करने मे सवाब (पुण्य) मानते हैं। मनुष्य का यह जन्म पहिला तथा अन्तिम माना जाता है। मुरदा दफन करने के बाद रूह (आत्मा) कयामत (प्रलय) की प्रतीक्षा करती रहती है। जब पुण्य-पाप का न्याय हो जाता है, तब वह (रूह) सदा के लिये स्वर्ग मे या नरक मे चली जाती है। स्वर्ग मे इन्द्रिय-सुख के सभी साधन चश्मे, फव्वारे, बगीचे, फल तथा हूरें भी मिलती हैं।

कुरान—कुरान का अर्थ है—ऐसा सकलन जो ऊँचे स्वर मे पढा जाये, इस्लाम का यह ईश्वरीय ग्रथ है जिसके अध्यायो मे वे सभी सदेश सकलित हैं, जो खुदा ने मुहम्मद साहिब के मुख से, उनकी ध्यानमग्नावस्था में भगवत्प्रेरणा से १३ साल तक मक्का मे, और १० साल तक फिर मदीना मे निकलवाये। इसकी आयतें सुविधापूर्वक याद हो जाती है, जिनकी तलावत (पाठ) मे आनन्द आता है। भाषा अरबी है। मुस्लिम भाई, बालको की शिक्षा का श्रीगणेश बहुधा इसी से करते आये हैं। कुरान ने हर मुस्लिम के लिए निम्नलिखित पाच कार्य अनिवार्य बताए हैं। अपने हस्ताक्षर भी न कर सकने वाले हजरत मुहम्मद के द्वारा कुरान शरीफ का आकलन इस्लाम मे खुदाई करामात (ईश्वरी चमत्कार) माना जाता है।

१ **कलमा**—पढना, इसका जाप करना जो इस्लाम का मूल मन्त्र है।

"ला इलाह इल्लिाह मुहम्मद रसूल अल्लाह" अर्थात् खुदा एक ही है, उसका कोई समान ही नही। मुहम्मद उसका रसूल (सदेशवाहक) है।

२ **नमाज**—२४ घटो में पांच बार मक्का की ओर मुख करके प्रार्थना करना।

३ **रोजा**—सूर्य के उदय से अस्त होने तक, रमजान मास मे निर्जल, निराहार रहना।

४ **जकात**—आय का ढाई प्रतिशत दान करना।

५ हज—जीवन मे एक वार मक्का मदीना के तीर्थों की यात्रा अवश्य करना।

उपदेश—जीव हत्या मत करो। पशु वलि से जन्नत (स्वर्ग) नही मिलेगा। अत अहकार को मारो। यही सारी बुराइयों की जड है। मनुष्य मात्र की सेवा करो। सूद मत लो। शराव को हराम समझो। सच्चा मुसलमान दूसरे धम का आदर करता है। जिहाद, अन्य धर्मावलम्वियो को जवरदस्ती इस्लाम-धर्मो मे लाने के लिए नहीं वल्कि अपने धम पर पूरा उतरने के लिए, पूरी तरह शक्ति लगाने के लिए है।

हजरत के उपदेश ऊचे दर्जे के थे। पहले तीन खलीफो के त्यागमय जीवन से जनता पर सुन्दर प्रभाव पडा। अरवो का एकवार तो सुधार हो ही गया। इस्लाम धम में ईमान (विश्वास) राजनीति तथा सामाजिक जीवन का ऐसा गाढा सम्मिश्रण है कि किसी एक अग को दूसरे से पृथक् करना नितान्त असम्भव है।

स्त्रियों का स्थान—इस्लाम ने नारी को पुरुप से नीचे का दर्जा दिया और उसे पर्दे मे रखने को कहा। इतना जरूर किया कि पुरुप चार पत्नियो तक तभी रखे जव चारो के साथ वरावर व्यवहार कर सके। शादी, नर-नारी मे एक प्रकार का समझौता है, जिसे रद्द करने का दोनो को वरावर अधिकार है।

खलाफत शिया तथा सुन्नी सम्प्रदाय—इस्लाम की उत्पत्ति तो धार्मिक कारणो से हुई, किन्तु राज्य-शक्ति भी इसी मे केन्द्रित हो चली। अव सेना पर भी अधिकार हो जाने से धर्म-प्रचार में सहायता मिली और धम-प्रसार से सैनिक शक्ति को वल मिलता गया। फलस्वरूप मुस्लिम देशो मे धर्म-गुरु और राजा एक ही व्यक्ति होने लगा जिसे खलीफा की पदवी दी जाती जिसके लिए आगे चलकर पारस्परिक झगडे होने लगे। हजरत मुहम्मद साहव के पश्चात् उनके वश उत्तराधिकारी ही खलीफा वनने चाहिए, ऐसा विचार जिन लोगो का रहा, वे 'शिया' कहलाए और जो इनसे सहमत न थे वे 'सुन्नी'। पहले खलीफा हजरत अवुवक्र, दूसरे हजरत उम्र, और तीसरे हजरत उस्मान चुने गए थे। इन निर्वाचित खलीफाओं को शिया नही मानते थे। हजरत मुहम्मद साहिव के अपने चचेरे भाई हजरत अली चौथे खलीफा रहे। जव पाचवें खलीफा के पद के लिए हजरत अली के पुत्र हजरत इमामहुसैन की घोपणा हुई, तो यह सुलगती आग भडक उठी। उनका, यात्रा मे करवला के स्थान पर क्रूरता से वध कर दिया गया। इनकी स्मृति में शिया लोगो द्वारा मुहर्रम के दिनों मे शोक मनाया जाता है और ताजिये निकाले जाते हैं।

इस्लाम का प्रसार—इस्लाम ने अरवी देशो की आवश्यकता की पूर्ति की और शीघ्र ही वहा लोकप्रिय हो गया। साथ ही हजरत मुहम्मद साहव तथा उनके पहले तीन योग्य चरित्रवान् खलीफाओ के उपदेशो ने अरवों मे नयी जान डाल दी। वे

संगठित होकर इस्लाम के प्रचार मे लग गए जिसके फलस्वरूप अस्सी वर्ष के अन्दर ही, सिंध से स्पेन तक इस धर्म का झंडा फहराने लगा। मिस्र, इरान, तुर्की, सीरिया, साइप्रस, उत्तरी अफ्रीका आदि देशों का शासन भी खलीफाओ ने संभाल लिया। इसके पश्चात् पश्चिम मे स्पेन तथा पुर्तगाल पर और पूर्व मे अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान पर भी खलीफाओ का अधिकार हो गया।

भारत मे प्रवेश—६३६ ई० से भारत के पश्चिमी तट पर अरब से व्यापारी आकर बस रहे थे जिनके प्रभाव मे धर्म परिवर्तन होने लगा। आजकल के मोपला लोग उनकी ही संतान हैं। भारत के राजाओ ने उदारतापूर्वक मुसलमानो को सब प्रकार की सुविधायें दी।

७१२ ई० मे खलीफा द्वारा नियुक्त बसरा के हाकिम ने अपने भतीजे मुहम्मद बिन कासिम से भारत मे सिंध पर हमला करवाया। हिन्दू राजा दाहिर मारा गया और प्रजा का कत्लेआम तीन दिन तक चला। खलीफा ने कासिम को किसी कारणवश वापिस बुलवाकर उसका वध करवा दिया फलस्वरूप सिंध स्वतंत्र हो गया। फिर लगभग ३०० साल तक इधर किसी ने मुंह न किया।

सूफीवाद—आरम्भ मे तो इस्लाम की इतनी ही आज्ञा थी कि केवल खुदा और रसूल पर ईमान लाओ, बुद्धि और तर्क के चक्कर मे पडना व्यर्थ है, किन्तु जब मुस्लिम जनता जाग ही पडी, तो समय पाकर ऐसे विचारक भी उत्पन्न होने लगे, जिनकी प्यास इस्लाम मे दर्शन-तत्त्व के अभाव के कारण बुझ न सकी। स्वाभाविक था कि बन्दे और खुदा (जीव और ब्रह्म) के पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान की जिज्ञासा से दार्शनिक तत्त्व का विकास हो। ऐसे चिन्तक, मस्जिदो के सूफो अर्थात् बरामदो मे ही पडे रहने से और पवित्रता के लिए सूफी (ऊनी) टोपी और ऊनी लम्बा कुरता पहनने से सूफी कहलाने लगे।

उद्गम—बीज रूप मे कुरान शरीफ मे इतना जरूर आया है कि खुदा मनुष्य से प्यार करता है, और वे भी उससे प्रेम करते हैं। यह बात दूसरी है, कि जोर प्यार पर न देकर, खौफे खुदा (ईश्वरीय भय) पर दिया जाता रहा, क्योंकि उस समय उस क्रूरता तथा बर्बरता के समय मे, शक्ति और अनुशासन के लिए भय दिलाना ही उचित तथा आवश्यक था।

दूसरे, हजरत मुहम्मद साहब की अपनी जीवनी से इस तथ्य को भी बल मिला कि मनुष्य स्वयं कुछ नहीं करता। उनका अपना कोई ऐसा निश्चय नहीं था कि वे कोई नया धर्म खडा करें। खुदा ने ही उनको प्रेरणा दी। उन पर 'हाल' का आलम तारी होता अर्थात् वे भावावेश में आते जिसके फलस्वरूप उनको 'इलहाम' (ईश्वरीय संकल्प) प्राप्त हुए। यह दोनो ही सूफीमत के लक्षण हैं।

बाह्य प्रभाव— इधर भारत मे तो वैदिक काल से इस ज्ञान का प्रचार आरम्भ हो चुका था कि जीव ब्रह्म से पृथक हो जाने पर मिलने के लिए आतुर है और उसी मे पुन लीन होने को उत्सुक हैं। इसी तत्त्व चिन्तन का प्रचार ईरान, अरब, बलख, बगदाद आदि मे फैला, तभी तो 'मौलाना रूम,' 'शेखसादी,' 'उमर खय्याम', 'मन्सूर' और 'हाफिज आदि ने सूफीमत के ऐसे मौलिक विचारो पर बल दिया, जिससे इसमे निर्भीकता आती गई, यहा तक कि भारत से इराक मे लौटकर ६२२ ई० मे मसूर ने वेदान्त को अपनाते हुए 'अनलहक' (सोऽह) का 'नारा-ए तौहीद' बुलन्द किया और हसते हसते मौत को गले लगाया, इस विश्वास के साथ कि 'मरने से ही मिलता है पूर्ण परमानन्द' अन्यथा इस्लाम तो रूह और खुदा को एक नही मानता।

भारतीय प्रभाव—खुदा और मनुष्य के बीच हज़रत मुहम्मद ने अरब की शुष्क जलवायु से प्रभावित होकर जो कठोरता बरती थी, वह समय पाकर ढीली पड़ गई और भारत की हरयाली मे पहुच कर स्निग्धता, कोमलता तथा सरसता मे परिणत हो चली। ईश्वर से भय का स्थान प्रेम ने और वात्सल्य भाव का माधुर्य भाव ने ले लिया, इस प्रकार इस्लाम की भी वही दशा हुई, जो सब देशो और मत मतान्तरो मे परम्परा से होती चली आ रही थीं क्योंकि तत्त्व दर्शन तो हृदयवादी सत ही कर पाते हैं। विद्वान लोग तो अहकार वश अपने शब्द-जाल में ही रह जाते हैं, जैसा कि निर्भीक सत कबीर ने ललकार कर कह दिया—

तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता हूँ अखियन देखी॥

भारत मे पहुँच कर सूफियो ने भारत से दार्शनिक सिद्धान्त ग्रहण किए। सूफी मत को तभी तो 'भारतीय उपनिषदो के ज्ञान का विशुद्ध इस्लामी अनुवाद' कहा जाता है। यही वेदान्त जहाँ सूफी मत को कट्टर इस्लामवाद से अलग करता है वहा इसे भारत के सन्त मत के समीप लाता भी है।

प्रोफेसर हुमायू कबीर ने उचित ही लिखा है कि सूफी मत का आधार कुरान मे था किन्तु भारतीय विचारधारा का इस पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पडा। बाह्य प्रभावो मे सबसे बडा प्रभाव हिन्दू धर्म और बौद्ध दर्शन से ही आया है जिसकी पुष्टि स्वय अरब के डाक्टर ताहाहुसैन जी के शब्दो से भी होती है—"यह चीज (तसव्वुफ) पहिले भारत से ही अरब और ईरान पहुचा और जब ईरान से भारत गया तब वह अपने घर ही लौटा था।"

सूफीमत की मूल धारणाए

खुदा—ईश्वर निराकार भी है, साकार भी है। उसी मे सारा ससार स्थित है और सृष्टि के कण कण मे रमा हुआ है और जैसा कि किसी कवि ने कहा है—

जिधर देखता हू उधर तू ही तू है।
कि हर शै मे जलवा तेरा हूवहू है।।
कावा न सही वुत-खाना ही सही।
हम देख ही लेंगे कही न कहीं।।

जगत् ईश्वरमय है। सब चीजो का मूल स्रोत खुदा ही है अर्थात् हमारे हृदय मे सभी प्रकार के सकल्प वही उत्पन्न करता है। उसकी मरजी के विना पत्ता भी नही हिल सकता।

जो कुछ भी उससे निकला है, उसी मे जब तक लीन नही हो जाता तब तक तडपता ही रहता है।

सूफी खुदा की तस्सव्वुर या ईश्वर की कल्पना अपने सनम अथवा प्रियतमा के रूप मे करता है उसे सौन्दर्य की साक्षात् मूर्ति मानता है। जैसे जायसी ने 'पद्मावत मे पद्मिनी' को माना है।

लाहूत—ईश्वर अनन्त है, उसकी निस्सीमता के गुण को 'लाहूत' कहते हैं। खुदा लामहमूद है अर्थात् ईश्वर की कोई भी सीमा नही हो सकती। वह ला-इन्तहा है।

नासूत—वदा तो महमूद है अर्थात् मनुष्य के गुणो की एक सीमा रहती है, जिसे सूफी 'नासूत' की सज्ञा देते हैं, तभी तो उसकी बुद्धि के घेरे मे खुदा का आना नितान्त असम्भव है।

जो समझ मे आ गया वह खुदा क्यो कर हुआ।
अक्ल मे जो घिर गया लाइन्तहा क्यो कर रहा।।

मनुष्य का चरम लक्ष्य—पहिले मनुष्य की रूह थी वाद मे पार्थिव शरीर मे कैद हुई। अत शरीर के नाश होने पर या मरकर ही रूह स्वतत्र हो सकती है। तभी खुदा की हस्ती मे वापस मिल सकती है। ऐसी मौत को गले लगाने मे ही सतुष्टि है जैसे परवाने को ज्वाला पर जलने मे। यदि प्रियतमा मे साक्षात् अलौकिक सुन्दरता है, तो मनुष्य प्रेम का परवाना है। प्रेम-पथ मे तर्क वाधा डालता है। ऐसी मान्यता होती जाती है कि बुद्धि की अपेक्षा मनुष्य की हार्दिक भावना, प्रभु मिलन मे अधिक सहायक होती है।

वका—मिलने से पहिले की स्थिति वका कहलाती है। इसी का अन्त वस्ल मे होता है।

फना—इसी वस्ल की अवस्था को 'फना' कहा जाता है।

सार—सक्षेपत सूफी मत मे निजात (मुक्ति) प्रेम से प्राप्त होती है और प्रेम सौन्दय से उत्पन्न होता है। खुदा पूछता है कि क्या तुमने प्यार किया? यदि

उत्तर 'न' मे रहे तो अल्लाह फरमाते हैं 'जाओ वापिस, जाओ पहिले प्यार करना सीखो।" तभी तो पूर्वाभ्यास के तौर पर इश्क मजाजी को इश्क हकीकी की पहली सीढ़ी मानते हैं। प्रेम ही परमात्मा है।

मनुष्य को यदि प्रभु कृपा से प्रेम की प्राप्ति हो जाये तो उसके हृदय-पटट खुल जाते हैं, सब सशय दूर हो जाते हैं, पूर्ण प्रकाश हो जाता है और साक्षात्कार की प्राप्ति मे प्रगति होती है। एक कवि के शब्दो मे—

बका कैसी फना कैसी जो उसके आशना ठहरे।
कभी इस दर से जा निकले, कभी उस दर से जा गुजरे।

प्रेम तत्त्व यथार्थ प्रेम का स्वरूप—भगवत्प्रेमियो का एकमात्र लक्ष्य रहता है भगवत्प्रेम। प्रेम और परमात्मा मे कोई अन्तर नही। जैसे वाणी द्वारा परमात्मा का वणन असम्भव है वैसे ही प्रेम का भी शब्दों मे वणन नही हो सकता और जिसका वणन हो सके वह प्रेम नहीं। प्रेम तो केवल अनुभव की वस्तु है। प्रेमीजन मौला रहते हैं और दिलो में याद करते हैं। प्रेम का प्रकाश लोगो को तब दिखाई देता है, जब कोई भाग्यवान महापुरुप तन, मन की सुध भुलाकर उन्मत्त जैसी चेष्टा करने लगता है। तब शरीर के रोम-रोम से प्रेम-प्रकाश की किरणें अपने आप निकलने लगती हैं। ऐसा प्रेम का प्राकट्य साक्षात् भगवान् ही का प्रकाश है जो किसी विरले सन्त मे होता है।

'प्रेम' शब्द बडा मधुर है और प्रेम का वह स्वरूप मधुरतम है परतु त्यागमय होने से पहिले यह है बडा ही कटु तलवार की धार से भी तीक्ष्ण। (तभी सूफीमत मे माग दशन के लिये पीर (गुरु) की अत्यावश्यकता मानी गई है और यह भी कहा गया है कि बेपीरे या निगुरे की गति ही नही होती।)

जहर के प्याले मे अमृत का स्वाद चखना होता है। इसमे अपने आपको पूणतया खो देना होता है। इसी खोने मे ही पाना है। तभी इसकी कटुता और तीक्ष्णता सुधा-माधुरी मे परिणत होती है। इस प्रेम-पाठ का अधिकार केवल उसे ही है जो अपमान, अत्याचार, भर्त्सना सहन करने में भी सुखी रह सके। दीपक की तरह नित्य जलते रहना और उस जलन मे ही अनन्त शान्ति का अनुभव करना यही तो प्रेमोपासना है। वैसे तो प्रेम प्रत्येक जीव को भगवान् ने दे ही रखा है, पर वह विषयानुराग मे दृढ और मोटे आच्छादन से आवृत्त है। विपयासक्ति, ममता और अहकार के काले परदे से ढका है। इसी परदे को हटाना खुदी (अहकार) को मिटाना है। भगवान् के लिए प्राण तडपते रहे, उसको पाने की प्रबल उत्कठा बढती ही रहे, उसी पर निर्भरता की भावना मे वृद्धि होती रहे और तडपन ही जीवन का आधार बना रहे। ऐसी सच्ची निष्काम चाह ही वस्ल या प्रभु मिलन मे सफलता का कारण बनती है।

सासारिक भोगो से अरुचि होने लगती है। यह त्याग किया नही जाता, स्वत हो जाता है। भगवान् के मधुर नाम गाने मे आनन्द आने लगता है। तभी सौन्दर्य और प्रेम के वाद इस मत मे सगीत की प्रतिष्ठा है, क्योकि मन को ऊपर उठाने की इसमे शक्ति है।

चार मजिलें (स्थितियां)—इस प्रेम के अनूठे माग मे चार स्थितियां रहती हैं।

(क) शरीयत (The Law)
(ख) तरीकत (The Way)
(ग) हकीकत (The Truth)
(घ) मारिफत (Merging in the Absolute)

शरीयत—धार्मिक ग्रथो के विधिनिषेध के अनुसार जीवन व्यतीत करना शरीयत कहलाता है।

सूफी लोग शुद्ध विचार अथवा मन की शुद्धता पर वल देते हैं।

तरीकत—वाहरी क्रियाओ से ऊपर उठ कर अल्लाह के ध्यान मे रत रहने का नाम है। शरीयत के नियम निभाने से मुरीद (साधक) मुरशिद (गुरु) से दीक्षा लेने का अधिकारी वन जाता है।

एकान्त सेवन करते हुए मौन रखते हुए निर्जल व्रतादि के अभ्यास द्वारा मनो-जय को प्राप्त करने के प्रयत्न करने पडते हैं।

हकीकत—अनुभूति भरे ज्ञान का नाम है। हकीकत के सात सोपान हैं तौवा, जैहद, सव्र, शुक्र, रिजा, तवुक्कल और रजा।

मारिफत—अर्थात् परम सत्ता मे अवस्थित होने की सिद्धि प्राप्त करना मारि-फत है। साधन नही, साधक की परम अनुभूति है। अनुभूति-जन्य आनन्द मे मग्न रहते हुए वह सुख-दु ख के भास से ऊपर उठ जाते हैं। एकमात्र केवल भगवान् से मतलव है। उसके सिवा और कुछ भाता ही नहीं, यही उच्चतम अवस्था है। इसी को वस्ल कहते हैं। इस वज्द के आलम (प्रेममग्नावस्था) मे (साधक) मुरीद अपनी होश खो वैठना है। वह कोई क्रिया करता नही, वरन् उसके शरीर द्वारा यन्त्रवत् वे होती ही रहती है। प्रेम भी किया नहीं जाता, स्वत हो जाता है।

सम्प्रदाय—भारत मे सूफी मत का प्रचार आरम्भ करने का श्रेय प्रसिद्ध सन 'दाता गजवख्श' को तथा मुलतान के सरवर 'लाखी दाता' को है। सत दाता गजवख्श की कब्र पर (लाहौर मे) अव तक मेले लगते रहते हैं और सखी सरवर के अनुयायी प्रति वर्ष उनकी महिमा गान करते हुए पश्चिमी पजाव मे शोभा यात्राएँ निकालते हैं।

सूफियो के चार सम्प्रदाय—ग्यारहवी शती के अन्त मे यह धर्म गजनी होता

हुआ 'पीर हसन हुज-हुजिरी' द्वारा भारत मे पहुँचा और इसने हिन्दू मुस्लिम सस्कृतियो के बीच सेतु का काम किया।

१ चिश्ती—सबसे प्रसिद्ध पीर ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) मुहम्मद गोरी की सेना के साथ भारत मे आए। इन्होंने दिल्ली मे चिश्ती पथ की स्थापना की। अजमेर इनकी साधना-स्थली रही, वही इनका मजार है, जहाँ दूर दूर से मुस्लिम जनता पहुँच कर अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करती है।

अमीर खुसरो के गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया इसी चिश्ती परम्परा मे हुए। आपका मकबरा दिल्ली मे है।

कहते हैं कि फैजी और अबुलफजल के प्रभाव मे आकर सम्राट् अकबर 'अजमेर शरीफ' की जियारत को मीलो पैदल रेत मे चलकर पुत्र प्राप्ति की इच्छा से वहाँ पहुचे, जहाँ उन्हें गैबी (दैवी) आवाज सुनाई दी कि उनकी परम्परा के शेख सलीम चिश्ती की सेवा मे, 'सीकरी' पहुँच कर, प्राथना की जाए तो मुराद मिलेगी, और हुआ भी वैसे ही। 'शेख सलीम चिश्ती' की कृपा से अकबर के पुत्र हुआ, जिसका नाम सलीम रक्खा गया। इस सम्प्रदाय मे करामात (चमत्कार) का विशेष स्थान है।

इसी सम्प्रदाय के 'बाबा फरीदुद्दीन शक्कर गज' का जन्म बारहवी शती के अन्तिम दशक मे मुलतान मे हुआ। महमूद गजनवी आपके पिता का मामा था। शहाबुद्दीन गोरी के समय काबुल से आकर यह घराना पहले लाहौर मे बसा, वहाँ से कसूर होते मुलतान पहुँच गया। 'बाबा फरीद' ने बाल्यावस्था मे ही कुरान कठस्थ कर ली थी। उनकी प्रेरणादायक वाणियो को 'श्री गुरु ग्रथ साहब' मे स्थान मिला। अब तक पश्चिमी पजाब, (पाकिस्तान) के जिला मिंटगुमरी के 'पाकपटन' नगर मे उनकी मजार पर प्रति वर्ष मास भर मेला रहता है और मन्नतें मानी जाती हैं।

२ सोहरावर्दी—मुलतान से सोहरावर्दी पथ चलाने का श्रेय 'बहाउद्दीन जकरिया' (११६९-१२६६) को प्राप्त हुआ।

३ कादरी—पाकिस्तान की रियासत बहावलपुर मे पचनद के पास 'उच्च शरीफ से 'श्री मुहम्मद गौस गिलानी' (१४८२-१५१७) ने कादरी सम्प्रदाय की स्थापना की। 'दारा शिकोह' इसी मत मे दीक्षित थे।

४ नक्शबन्दी—यह मत 'तुर्किस्तान' मे 'ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबदी' ने चलाया। दिल्ली मे इनका प्रतिनिधित्व 'मुहम्मद बाकी बिल्लाह' करते थे। इनके अनुयायी भारत मे कम सख्या मे पाए जाते हैं।

सूफी साहित्य—मलिक मुहम्मद जायसी, बुल्लेशाह, पजाबी के विख्यात कवि वारिसशाह कुतुबन, मझन आदि कवियो का साहित्य सूफीवाद से ओत-प्रोत है। सूफी

सासारिक भोगो से अरुचि होने लगती है। यह त्याग किया नही जाता, स्वत हो जाता है। भगवान् के मधुर नाम गाने मे आनन्द आने लगता है। तभी सौन्दर्य और प्रेम के वाद इस मत में सगीत की प्रतिष्ठा है, क्योकि मन को ऊपर उठाने की इसमे शक्ति है।

चार मजिलें (स्थितियाँ)—इस प्रेम के अनूठे मार्ग मे चार स्थितियाँ रहती हैं।

(क) शरीयत (The Law)

(ख) तरीकत (The Way)

(ग) हकीकत (The Truth)

(घ) मारिफत (*Merging in the Absolute*)

शरीयत—धार्मिक ग्रथो के विविनिषेध के अनुसार जीवन व्यतीत करना शरीयत कहलाता है।

सूफी लोग शुद्ध विचार अथवा मन की शुद्धता पर वल देते हैं।

तरीकत—वाहरी क्रियाओ मे ऊपर उठ कर अल्लाह के ध्यान मे रत रहने का नाम है। शरीयत के नियम निभाने से मुरीद (साधक) मुरशिद (गुरु) से दीक्षा लेने का अधिकारी बन जाता है।

एकान्त सेवन करते हुए मौन रखते हुए निर्जल व्रतादि के अभ्यास द्वारा मनोजय को प्राप्त करने के प्रयत्न करने पडते हैं।

हकीकत—अनुभूति भरे ज्ञान का नाम है। हकीकत के सात सोपान हैं तौवा, जैहद, सब्र, शुक्र, रिजा, तवक्कल और रजा।

मारिफत—अर्थात् परम सत्ता मे अवस्थित होने की सिद्धि प्राप्त करना मारिफत है। साधन नही, साधक की परम अनुभूति है। अनुभूति-जन्य आनन्द मे मग्न रहते हुए वह सुख-दुख के भास से ऊपर उठ जाते हैं। एकमात्र केवल भगवान् से मतलव है। उसके सिवा और कुछ भाता ही नही, यही उच्चतम अवस्था है। इसी को वस्ल कहते हैं। इस वज्द के आलम (प्रेममग्नावस्था) मे(साधक) मुरीद अपनी होश खो बैठता है। वह कोई क्रिया करता नही, वरन् उसके शरीर द्वारा यन्त्रवत् वे होती ही रहती हैं। प्रेम भी किया नही जाता, स्वत हो जाता है।

सम्प्रदाय—भारत मे सूफी मत का प्रचार आरम्भ करने का श्रेय प्रसिद्ध सत 'दाता गजवख्श' को तथा मुलतान के सरवर 'लाखी दाता' को है। सत दाता गजवख्श की कब्र पर (लाहौर मे) अब तक मेले लगते रहते हैं और सखी सरवर के अनुयायी प्रति वर्ष उनकी महिमा गान करते हुए पश्चिमी पजाव मे शोभा यात्राएं निकालते हैं।

सूफियों के चार सम्प्रदाय—ग्यारहवीं शती के अन्त मे यह धर्म गजनी होता

हुआ 'पीर हसन-हुज-हुजिरी' द्वारा भारत मे पहुँचा और इसने हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियों के बीच सेतु का काम किया।

१ चिश्ती—सबसे प्रसिद्ध पीर ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) मुहम्मद गोरी की सेना के साथ भारत मे आए। इन्होंने दिल्ली मे चिश्ती पथ की स्थापना की। अजमेर इनकी साधना-स्थली रही, वही इनका मजार है, जहाँ दूर दूर से मुस्लिम जनता पहुँच कर अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करती है।

अमीर खुसरो के गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया इसी चिश्ती परम्परा मे हुए। आपका मकबरा दिल्ली मे है।

कहते हैं कि फैजी और अबुलफजल के प्रभाव मे आकर सम्राट् अकबर 'अजमेर शरीफ' की जियारत को मीलो पैदल रेत मे चलकर पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से वहाँ पहुचे, जहाँ उन्हें गैबी (दैवी) आवाज सुनाई दी कि उनकी परम्परा के शेख सलीम चिश्ती की सेवा मे, 'सीकरी' पहुँच कर, प्रार्थना की जाए तो मुराद मिलेगी, और हुआ भी वैसे ही। 'शेख सलीम चिश्ती' की कृपा से अकबर के पुत्र हुआ, जिसका नाम सलीम रक्खा गया। इस सम्प्रदाय मे करामात (चमत्कार) का विशेष स्थान है।

इसी सम्प्रदाय के 'बाबा फरीदुद्दीन शक्कर गज' का जन्म बारहवी शती के अन्तिम दशक मे मुलतान मे हुआ। महमूद गजनवी आपके पिता का मामा था। शहाबुद्दीन गोरी के समय काबुल से आकर यह घराना पहले लाहौर मे बसा, वहाँ से कसूर होते मुलतान पहुँच गया। 'बाबा फरीद' ने बाल्यावस्था मे ही कुरान कठस्थ कर ली थी। उनकी प्रेरणादायक वाणियो को 'श्री गुरु ग्रथ साहब' मे स्थान मिला। अब तक पश्चिमी पजाब, (पाकिस्तान) के जिला मिटगुमरी के 'पाकपटन' नगर में उनकी मजार पर प्रति वर्ष मास भर मेला रहता है और मन्नतें मानी जाती हैं।

२ सोहरावर्दी—मुलतान से सोहरावर्दी पथ चलाने का श्रेय 'बहाउद्दीन जकरिया' (११६९-१२६६) को प्राप्त हुआ।

३ कादरी—पाकिस्तान की रियासत बहावलपुर मे पचनद के पास 'उच्च शरीफ' से 'श्री मुहम्मद गौस गिलानी' (१४८२-१५१७) ने कादरी सम्प्रदाय की स्थापना की। 'दारा शिकोह' इसी मत मे दीक्षित थे।

४ नक्शबन्दी—यह मत 'तुर्किस्तान' मे 'ख्वाजा बहादुद्दीन नक्शबदी' ने चलाया। दिल्ली मे इनका प्रतिनिधित्व 'मुहम्मद बाकी बिल्लाह' करते थे। इनके अनुयायी भारत मे कम सख्या मे पाए जाते हैं।

सूफी साहित्य—मलिक मुहम्मद जायसी, बुल्लेशाह, पजाबी के विख्यात कवि वारिसशाह कुतुबन, मझन आदि कवियो का साहित्य सूफीवाद से ओत-प्रोत है। सूफी

कवियो ने प्राय प्रचलित लौकिक कहानियो के माध्यम से अलौकिक तत्त्व का निरूपण किया। इनके काव्य में दर्शन तत्त्व रहस्यवाद मे परिणत हो गया। इस प्रकार सूफी सतो का प्रभु-प्रेम को सर्वोपरि रखने का प्रयत्न सराहनीय रहा।

'राग' जिसकी इस्लाम मे मनाही थी सूफीवाद मे उसको महत्व दिया गया। सूफियो की कव्वालियो से शीघ्र ही प्रभु-प्रेम मे तन्मयता और तल्लीनता प्राप्त हो जाती है।

पठान बादशाहो के समय भारत की दशा

राजनीतिक दशा—मुस्लिम शासको ने पूर्ण निरकुशता को ही प्रमाणित किये रक्खा जिसका स्रोत उनकी सैनिक शक्ति रही। इतना अवश्य ध्यान रक्खा जाता कि उलमा (विद्वान्) लोग उनका साथ देते रहें। क्योकि वही तो अल्प मुस्लिम जनता मे यह भाव बनाये रखें कि अपने मुस्लिम राज्य की सहायता प्रथम धर्म है, तथा गैर मुस्लिमो का विनाश सवाब (पुण्य) का कार्य है।

जजिया सदैव भारतीयो को यह भास दिलाता रहता कि वे शासित हैं और उनकी सलामती शासको की दया पर है, किन्तु न सरकार का अत्याचार और न धर्म की आलोचना ही भारतीयो को विचलित कर पाई।

सांस्कृतिक दशा—सब कुछ होने पर विभिन्न धर्मावलम्बियो पर भी साथ-साथ रहने से पारस्परिक प्रभाव पड ही जाता है। जहाँ समय ने यह सिद्ध कर दिया कि धार्मिक नैतिक तथा सास्कृतिक शक्ति के सामने राजशक्ति हेय है, वहाँ हिन्दु मुस्लिम सस्कृतियो के मिलाप से जो कुछ फल रूप मे सामने आया, उसका भी विश्व-इतिहास मे भारी महत्त्व है। जैसा कि 'सर जान मार्शल' लिखते हैं "मानव जाति के इतिहास में ऐसा दृश्य कभी नही देखा गया, जब इतनी विशाल, इतनी सुविकसित और साथ ही मौलिक रूप मे इतनी विभिन्न सभ्यताओ का सम्मिलन एव सम्मिश्रण हुआ हो। इन सस्कृतियों और धर्मों के विस्तृत विभेद उनके सम्पर्क के इतिहास को विशेष शिक्षाप्रद बनाते हैं।"

पारस्परिक प्रभाव—दोनो सस्कृतियों मे मौलिक भेद रहने पर भी धार्मिक और सामाजिक, रीति-रिवाज, वास्तुकला चित्रकला, सगीत,भाषा, साहित्य, भोजन, वेश भूषा आदि सभी क्षेत्र एक दूसरे धर्म से प्रभावित हुए।

इस्लाम के सूफीवाद ने वेदान्त से बल पाया। 'वेदान्त' भले ही भारतीय दर्शन का शब्द हो परन्तु वह मात्र हिन्दुत्व का पर्यायवाची नही है। वेदान्त वस्तुत

सब धर्मों की नीव है। जिस पर भिन्न-भिन्न नमूने की इमारतें खडी की गई हैं। वह सच्चा मनुष्य बनना सिखाता है।

"है मुश्किल फरिश्ते से इन्सान बनना
मगर इसमे लगती है मेहनत ज्यादा।"

'दारा शिकोह' और 'अलबरूनी' आदि सस्कृत साहित्य सर मे गोते लगाने लगे तो उधर अनेक भारतीयो ने फारसी और अरबी को गले लगाया। जिसका प्रभाव हमें आज भी 'स्वामी-रामतीर्थ' के फारसी शेरो में दिखाई देता है।

मुस्लिम राज्य के आरम्भ मे, अमीर-खुसरो (पटियाला जन्म स्थान) ने अपने काव्य मे भारतीय राष्ट्रीयता की नींव रक्खी। उनके हिन्दी भाषा प्रेम से बाद मे प्रेरणा लेकर आने वाले कवि जायसी, कुतुबन, मझन और उस्मान आदि ने अपना सारा सातित्य हिन्दी (अवधी) में लिख डाला।

अबदुरहीम खानखाना—'रहीम' ने तो हिन्दू धम और भाषा को अपने प्राणो का आधार ही मान लिया। वे गाते हैं—

कमल दल नैननि की उनमानि।
बिसरत नाहि मदन मोहन की मद-मद मुसकानि॥
अनुदिन श्री वृदावन ब्रज मे आवन-जावन जानि।
छवि रहीम चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि॥

रसखान—सैयद इब्राहीम, जो कृष्ण के प्रति रसमयी भावना के कारण 'रसखान' कहलाए, तो पशु, पक्षी, पत्थर बन कर भी सदा कन्हैया के दास बन कर ही रहना चाहते हैं। उनकी एकमात्र अभिलाषा निम्नलिखित पक्तियो मे अभिव्यजित होती है—

"मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं मिलि गोकुल गाव के ग्वारिन।
जो पशु हो तो कहा बस मेरो चरौं नित नद के धेनु मभारन॥"

रसखान वास्तव मे रस की खान ही थे, जिन्होने हिन्दी साहित्य को श्रीकृष्ण प्रेम से ही परिप्लावित कर दिया।

नजीर—भगवान् कृष्ण की जय बोलने-बोलने नजीर थकते ही नही—

"तारीफ करू अब क्या-क्या उस मुरली धुन के बजैया की,
रस ध्यान सुनो, दडौत करो, जै बोलो कृष्ण कन्हैया की।"

ताज बेगम—बेगम ताज तो कृष्ण के मन मोहक रूप पर बिक गई—

"सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी
तुम दस्त हो बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं॥
देव-पूजा ठानी मौ निमाज हूं भुलानी,

तजे कलमा-कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं ।
नंद के कुमार कुर्बान तेरी सूरत पै ॥
हौं तो मुगलानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं ॥"

हजरत नफीस—तभी तो हजरत नफीस खलीली कृष्ण-प्रेम की प्रेरणा दे रहे हैं—

"कन्हैया की आँखें हिरन सी नशीली ।
कन्हैया की शोखी कली सी रसीली ॥
कन्हैया की छवि दिल उड़ा लेने वाली ।
कन्हैया की सूरत लुभा लेने वाली ॥"

इसलिए तो हिन्दी साहित्याकाश के शरदिन्दु श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ठीक ही कहा था —

"इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिन्दु वारिये ।"

भारत-विभाजन से पूर्व लाहौर के 'ख्वाजा दिलमुहम्मद' ने अपनी गीता ही लिख डाली ।

हिन्दु-धर्म ने कट्टर मुसलमान बादशाहों के राज्य में भी जन-साधारण पर ऐसा प्रभाव डाला था कि मुसलमान लेखक अपनी रचनाओं में "श्री गणेशाय नम " "श्री (राम) कृष्ण जी सहाय" "श्री सरस्वती जी" "श्री राधा जी" आदि मंगलाचरण लिखने को अपने धर्म के विरुद्ध नहीं मानते थे ।

मूर्ति-पूजा का सतत विरोध करते रहने पर भी इन्होंने भारत में आकर शीतला आदि देवियों की पूजा करनी आरम्भ कर दी । बंगाल का मुस्लिम काली का पुजारी रहा है । इसी प्रकार हिन्दुओं द्वारा भी वरुण देवता की पूजा के स्थान पर ख्वाजा खिजिर की इबादत होने लगी, पीरों की मजारों पर दिए जलाये जाने लगे, फूल चढ़ाये जाने लगे ।

सामाजिक जीवन में इस्लाम का प्रभाव—मुस्लिम स्त्री समाज में प्रचलित पर्दा-प्रथा का भारतीय समाज पर, विशेष कर उत्तरी भारत पर बहुत प्रभाव पड़ा । इससे यहाँ की स्त्रियों की अपेक्षित उन्नति न हो सकी । जब से टर्कों ने पश्चिमी वेश भूषा अपना ली है, तब से धीरे-धीरे यह प्रथा स्वत ही इस्लामी देशों से हट रही है । भारत का तो क्या कहना । बाल-विवाह की प्रथा जो राजभय के कारण चल पड़ी थी, धीरे-धीरे शिक्षा के प्रभाव से हट चली है ।

कला—भारत में इस्लाम के साथ इस्लामी कला अर्थात् गुम्बद और डाट आई यहाँ तक कि बाद में भी रियासत बहावलपुर के सभी स्टेशन गुम्बदनुमा बने । विवाहों में जो आजकल 'सेहरा' पढ़ा जाता है, यह इस्लाम की देन है । वेशभूषा में

सलवार, कुरता भी उनकी देन रही है। नान और तन्दूरी रोटी, मिठाइयो मे गुलाव जामन, बरफी, बालूशाही इनकी ही देन है।

प्रिंसिपल कँवरसेन के मतानुसार—दिल्ली के कुतुवमीनार को भले ही अलतमश ने पूरा किया हो , किन्तु प्रथम मजिल को पृथ्वीराज ने बनाया था, क्योकि जो घटिया इस पर खुदी हैं वैसी ठीक वृन्दावन के गोविन्द देव जी के मन्दिर की दीवारो मे पाई जाती हैं।

भारतीय ज्योतिष विज्ञान अनुसधान सस्थान (सहारनपुर) के सचालक श्री केदारनाथ प्रभाकर ललकार कर कहते हैं, यह मीनार ज्योतिष की वेधशाला है, जिसे आचाय वराहमिहिर ने नक्षत्रो के मदिरो के नाम से ध्रुव तारे के निर्देशन के लिये बनवायी थी। इसकी ७ मजिलें ७ ग्रहो के और २७ नक्षत्रो के अनुसार थी। इस कुतुव मीनार के निकट ही वराहमिहिर के रहने का स्थान मिहरा गावली (महरौली) इस बात को आज भी प्रमाणित कर रहा है।

भक्ति-आन्दोलन

भक्ति का उद्‌भव एवं विकास

परिभाषा—भक्ति शब्द की उत्पत्ति 'भज् सेवायाम्' धातु से हुई है। इसलिए इसका अर्थ हुआ, प्रभु की सेवा, किन्तु सभी प्रकार की सेवा भक्ति नही हो सकती। अत निष्काम भाव से प्रभु की जो सेवा की जाती है, उसे ही भक्ति सज्ञा दी जाती है।

वेदों मे भक्ति—भारतीय धर्म के समस्त बीज वेदो मे ही है, तदनुरूप भक्ति के मूल तत्त्व भी वहा उपस्थित हैं। डॉ० वेणीप्रसाद ने कहा है कि हिंदू-भक्ति सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद मे है। जिस पुरुष-सूक्त द्वारा ब्रह्म की निराकार रूप मे स्तुति की गई है, उसी मे अवतारवाद का आधार भी निहित है। वैष्णव भक्ति के उपास्य 'विष्णु' वेदो के अनुसार परम हितकारी व रक्षक हैं। शतपथ ब्राह्मण मे विष्णु को देवताओ मे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। उन्हे भरण पोषण करने वाला बतलाकर उपासको के हृदय मे श्रद्धा की भावना स्थापित की गई है। भक्ति मे सेवा के अतिरिक्त अर्चना आराधना, यजन, वन्दना, पूजा, उपासना, ध्यान, चिन्तन आदि-आदि विविध क्रियात्मक अनुष्ठानो का समावेश हैं

वेदो मे प्राय उक्त सभी शब्द यत्र-तत्र ज्यो के त्यो उपलब्ध होते हैं—

'वन्दामहे त्वम्' (ऋग्वेद ३ ८ ६)

अर्चा सखाय सकिने (ऋग्वेद १ ५४ २)

अराधि होता स्वर्निषत् (ऋग्वेद १ ७० ८)

'त्रयम्बक यजामहे' (ऋग्वेद ७ ५६ १२)

इस प्रकार भक्ति योग श्रुति-सिद्ध है और अत्यन्त सेवन करने पर मुक्ति का मार्ग बन जाता है। भक्ति पहले व्यक्ति के भीतर जन्म लेती है और मनुष्य-हृदय ईश्वर पर न्योछावर होना चाहता है। तभी भक्ति से हृदय मे परमात्मा का साक्षा-

त्कार होता है । वस्तुत भगवान् जैसे भक्ति द्वारा वश होते हैं वैसे और किसी भी साधन से नहीं होते।

हमारे ग्राचार्यों ने भक्ति की निम्नाकित परिभाषाएँ दी हैं—

(१) भक्ति के ग्रादि ग्राचाय श्री **नारद** भक्ति इश्वर के प्रति परम प्रेम-रूपा ग्रौर ग्रमृत स्वरूपा है। व्रजगोपियों का उदाहरण देते हुए श्री नारदजी समझाते हैं कि भक्ति मे केवल एकमात्र भगवान् की ही सेवा स्वभावत होती रहती है, क्योकि इसके विना रहा ही नही जाता, वे ज्ञान के सम्बन्ध मे कुछ नही कहते।

(२) **शाण्डिल्य**—भक्ति ईश्वर के प्रति परम ग्रनुराग-रूप है। यह ज्ञान को शुद्ध प्रेमाभक्ति की प्राप्ति का पूव ग्रग मानते हैं। शाण्डिल्य कम के सम्बन्ध मे मौन हैं।

(३) **पराशर**– पूजादि मे ग्रनुराग होने को भक्ति कहते हैं।

(४) **वल्लभाचाय**—भगवान् मे सतत तथा सुदृढ स्नेह ही भक्ति है।

(५) गीताकार भगवान् **श्री कृष्ण** ने

मन ग्रौर बुद्धि को प्रभु के ग्रपण कर देने का नाम भक्ति वताया ग्रौर गीता के ग्राठवें ग्रध्याय के १४वें श्लोक मे इस पर सुलभ की मुहर लगा दी। वह 'सुलभ' शब्द गीता के ७०० श्लोकों मे केवल एक ही वार ग्राया है। उपयुक्त कथनो का सुन्दर समन्वय ग्रालोचक श्री रामचन्द्र शुक्ल* के शब्दो में

"श्रद्धा ग्रौर प्रेम के योग का नाम भक्ति है"। ग्रत चित्तवृत्ति का निरन्तर ग्रविच्छिन्न रूप से ग्रपने इष्ट-स्वरूप श्री भगवान् मे लगे रहना ग्रथवा भगवान् मे परम-ग्रनुराग या निष्काम-ग्रनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है।

भक्ति के भेद—भक्ति दो प्रकार की होती है—सकाम तथा निष्काम। **सकाम** भक्ति वह है, जिसमे भक्त धन, पुत्र ग्रथवा रोग-निवारण की कामना से कुछ समय तक ईश्वर से प्रेम करता है ग्रौर शेष समय ग्रपने परिवार, स्त्री, पुत्र सम्पत्ति के मोह मे फँसा रहता है। **निष्काम** भक्ति मे ईश्वर से बिना किसी सासारिक हेतु के निरन्तर प्रेम रहता है। इसे ही ग्रव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। यही उत्तम भक्ति चित्त स्वरूपा है।

इस भक्ति के तीन भेद हैं – (१) साधन भक्ति (२) भाव भक्ति (३) प्रेम भक्ति।

(१) **साधन भक्ति**—इन्द्रियो के द्वारा श्रवण कीर्तनादि का नाम है। यह दो प्रकार की होती है—वैधी ग्रौर रागानुरागा। ग्रनुराग उत्पन्न होने से पहिले केवल शास्त्र की ग्राज्ञा मानकर जो जप ग्रादि के रूप मे वाह्य पूजा होती है, उसका नाम वैधी भक्ति है। प्रभु मे जो स्वाभाविकी, ग्रान्तरिक ग्रसीम प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है राग। ऐसी रागमयी भक्ति को रागानुरागा भक्ति कहते हैं।

* चिंतामणि श्रद्धा ग्रौर भक्ति प्रकरण

(२) **भाव भक्ति**—भाव, चित्त की उस सात्विक वृत्ति का नाम है, जिसका प्रकाश प्रेम सूर्य की किरणों के समान चित्त को स्निग्ध करता है। ऐसे भाव से पूर्ण साधन भक्ति की परिपक्वावस्था को भाव-भक्ति कहा जाता है।

(३) **प्रेम भक्ति**—भाव की परिपक्वावस्था का नाम प्रेम है। चित्त के सम्पूर्ण रूप से निर्मल और अपने अभीष्ट भगवान् मे अतिशय ममता होने पर ही प्रेम का उदय होता है। यह प्रेम न तो घटता है, न बदलता है, तब कही प्रेम भक्ति का उदय होता है। मनुष्य किसी का आश्रय पाकर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। यही भावना जब ईश्वरोन्मुख हो जाती है, वही भक्ति का रूप धारण कर लेती है।

भक्ति के नौ अंग—श्रीमद्भागवत मे वैधी भक्ति के ९ अंगो का वर्णन इस प्रकार है

श्रवण - भगवान् की लीला तथा कथा का श्रवण।
उदाहरण स्वरूप (परीक्षित)

कीर्तन— उनके नाम, लीला तथा कथा का वर्णन कीर्तन है (नारद)।

स्मरण—उनका स्मरण नाम जप आदि के रूप मे।
(ध्रुव तथा प्रह्लाद)

पाद-सेवन—उनके श्री चरणो की सेवा तथा गुरु, माता, देश एवं जाति की सेवा।
(भरत एवं केवट)

अर्चन— पुष्प-पत्र आदि चढ़ाना।
(मीरा एवं धन्ना)

वन्दन—ईश्वर की वन्दना करना तथा प्रत्येक व्यक्ति अथवा जीव को मानसिक नमस्कार करना।
(अक्रूर)

दास्य--केवल इष्ट को ही स्वामी मानकर सर्वभावेन उनकी सेवा करना।
(हनुमान्)

सख्य— निस्संकोचतापूर्ण मित्रता का भाव (अर्जुन एवं सुग्रीव)

आत्म निवेदन— आत्मसमर्पण—स्वयं को ही अर्पित कर देना।
(व्रज-गोपिया)

भक्ति साधना के नौ प्रकार—

सन्त तुलसीदास जी ने रामचरितमानस मे भक्ति के नौ साधन बताये हैं

१ साक्षात्कार-प्राप्त सतो की संगति।

२ ईश्वर की महिमा तथा स्तुति मे प्रेम।

३ ईश्वर के चरण-कमल की सेवा।
४ ईश्वरीय गुणगान।
५ दृढ विश्वास के साथ वेदानुकूल मन्त्र का जप।
६ दम शील तथा कर्मों से विरति।
७ भक्त का जगत् को ईश्वरमय देखना तथा सन्तो को ईश्वर से अधिक मानना।
८ यथालाभ सतोष।
९ सबसे छलहीन होकर सरलतापूर्वक व्यवहार करना, ईश्वर पर ही निर्भर रहना तथा हृदय मे हर्ष-विषाद न रखना।

जो भी नर या नारी इनमे से किसी एक का अभ्यास करता है, वह ईश्वर को अतिशय प्रिय है।

भक्त के प्रकार—भक्त चार प्रकार के हैं—(गीता ७-१६)
१ **आर्त** - द्रौपदी तथा गजेन्द्र जैसे पीडित भक्त।
२ **जिज्ञासु**—जैसे उद्धव।
३ **अर्थार्थी**—जो किसी कामना से भक्ति करता है। जैसे ध्रुव।
४ **ज्ञानी**—जैसे शुकदेव।

भक्ति के पांच रस—भक्ति के भाव भेद से ही ये पांच रस बताए हैं—यह आवश्यक नही कि इनका विकास क्रमश हो, किन्तु यह निश्चित है कि अगले भाव रस मे पिछले रस की निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाश आदि पाच भूतो के गुण अपने-अपने भूतो मे वर्तमान रहते है वैसे ही इस साधन प्रणाली मे भी रसों का रहना माना गया है। जैसे पृथ्वी मे पाचो गुणो का समावेश है, वैसे ही शान्त, दास्य आदि भावो का माधुर्य भाव मे पर्यवसान है।

शान्त रस—निष्ठामय (भीष्म जैसा सयमित तथा शात भाव) दास्य रस—निष्ठा और सेवामय (सेवक-स्वामी भाव जैसे हनुमान) सख्य-निष्ठा, सेवा और निस्सकोचतामय (अर्जुन जैसा मिश्रभाव)। वात्सल्य—निष्ठा, सेवा, निस्सकोचता और ममत्वमय, (कौशल्या, यशोदा जैसा वात्सल्य भाव) माधुर्य—निष्ठा, सेवा, निस्सकोचता ममता और आत्म-समर्पणमय। (प्रेमी प्रेमिका भाव जैसे गोपिया, तथा चैतन्य महाप्रभु)

समस्त जीव इन पांच भावो के अधीन है। जो भाग्यवान् पुरुष इन भावो को इन अनित्य और दु खपूर्ण ससार से हटा कर प्रभु मे लगा देता है, वही सच्चा साधक है। ऐसा करना वस्तुत परम पुरुषार्थ है।

भक्ति का क्रमिक विकास—वैदिक उपासना पद्धति मे प्रधानता तो यज्ञ और कर्मकाड की ही रही। भक्ति की उपयुक्त कोमल भावनाओ का विकास उसमे न था। पश्चात् उपनिषदो मे इसी उपासना ने स्थूल से सूक्ष्म मे वदलकर चिन्तन का रूप लिया और कर्मकाड ने ज्ञान का। अव तो श्रद्धा के लिए स्थान ही न रहा। इस कर्मकाड से जनसाधारण की आकाक्षाओ की पूर्ति भला कैसे होती ? अत समय पाकर कर्म और ज्ञान सावना के अतिरिक्त अव जो पौराणिक धर्म सामने आया उसके सूत्र-ग्रथो मे भक्ति को मुख्य तथा ज्ञान एव कर्म को गौण स्थान दिया गया। इस प्रकार भक्ति का अकुर विकसित हो उठा।

आगम—जहाँ वेद आन्तरिक प्रेरणा (Intution) पर आधारित हैं, वहा आगम सस्कृत मे प्रतीकात्मक वहिरग उपचारो की विधियाँ वतलाते हैं। ये ब्रह्म हिरणयगर्भ आदि के स्थान पर वासुदेव, प्रद्युम्न, सकर्पण तथा अनिरुद्ध के व्यूह पर वल देते हैं। जहाँ वेदो पर केवल द्विजो का ही अधिकार है, वहाँ इन पर मानव मात्र का अधिकार स्वीकृत है।

जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थो मे वैदिक धर्म की विधियो के मूल का सरक्षण और विस्तार करने की चेष्टा की गई है, उसी प्रकार आगमो मे वैदिक तत्त्व द्रष्टाओ की गुप्त शिक्षाओ, अनुष्ठानो की आकृति और सावना के रूप मे इस प्रकार सृजन और विकास किया गया कि वे भविष्य की परिवर्तनशील परिस्थितियो और आवश्यकताओ के अनुकूल हो। उद्देश्य तो पूर्ववत् आध्यात्मिक जीवन का निर्माण ही रहा। वैदिक काल के हवनकुण्ड और वलिदान का स्थान क्रमश देवालयो ने और अर्चना ने ले लिया। अव सभी देवताओ का प्रतिनिधत्व केवल दो वडे देव विष्णु और महादेव करने लगे।

स्थान—सतयुग मे जो स्थान वेदो का, त्रेता मे स्मृतियो वा और द्वापर युग मे पुराणो का रहा, वही कलियुग मे आगम का हैं।

वैष्णव आगम—हिन्दू धर्म के प्राचीन काल से आगम एव निगम दो दृढ स्तम्भ रहे है। निगम को वेदो के समान अपौरुषेय माना जाता है। वैष्णव मतावलम्वी, जो आगमो को स्वय नारायण द्वारा प्रकाशित मानता है, उसके लिए किसी काल की गणना आवश्यक नही समझता। श्रीमदभागवत मे जिस भक्ति का प्रचार हुआ उसके वीज, उद्भव और विकास की सारी गाथा आगम-ग्रथो मे है।

वैखानस, पाचरात्र, प्रतिष्ठासार और विज्ञान ललित—ये चार वैष्णव आगम है।

पाचरात्र आगम के भेद ब्राह्म, शैव, कौमार, वासिष्ठ, कपिल, गौतमीय

और नारदीय ये सात पाचरात्र के भेद हैं। महाभारत के शान्ति पर्व मे नारदीय सर्ग मे पाचरात्र के बारे मे बहुत कुछ तथ्य सग्रहीत हैं।

पाचरात्र आगमो मे भगवान् विष्णु ही परमात्मा माने गए हैं। नारद पाचरात्र मे कहा गया है कि ब्रह्मा से लेकर एक तृण का टुकड़ा भी श्री कृष्ण का ही स्वरूप है। इससे उपनिषद् की वाणी को बल मिलता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है—सर्व खल्विद ब्रह्म।

पक्ष—आगमो के तन्त्र, मन्त्र और यन्त्र तीन पक्ष होते हैं। भावनात्मक अगो जैसे हृदय, इच्छा शक्ति को आत्मा के साचे मे विकसित करने से तन्त्र अनिवार्य चरण रहा। इन आगमो के द्वारा धर्म की व्याख्या और उपासना का व्यावहारिक पक्ष निर्दशित होता है। मन्दिर का सेवन तथा मूर्तिपूजा आदि बहिरग उपासना की विधि आगमो मे ही विशेषकर वर्णित होती है।

विषय—आगम के चार वर्ण्य विषय हैं—

ज्ञान, योग अथवा ध्यान, क्रिया (मूर्तियो का निर्माण एव स्थापन) तथा चर्या (क्रियाकलाप अथवा सस्कार, इनमे चराचर जगत् का रहस्य, मोक्ष, भक्ति, मन्त्रो का गूढार्थ, तान्त्रिक रेखाए, मोहिनी विद्या, गृहस्थ धर्मोचित नियम आदि, सामाजिक रीति-रिवाज, सार्वजनिक तीर्थ, व्रत आदि का भी समावेश है।

खड—आगमो के तीन खड हैं। वैष्णव, शैव और शाक्त। वैष्णव और पाचरात्र आगमो मे मुख्य देवता श्री विष्णु की महिमा वासुदेव कृष्ण के रूप मे वर्णित है। जिसके साथ चार व्यूह हैं—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

आगम वेदो पर अधिक निर्भर नही है। लेकिन उनके विरोधी भी नही। वैदिक सिद्धान्तो की पुष्टि इनमे मिलती अवश्य है। इसलिए इन्हें भी प्रामाणिक माना जाता है।

पाचरात्र आगमानुयायी को प्रकट रूप मे पूजा की वैदिक विधियो को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं थी। वे स्वय अपने विचारो के लिए पाचरात्र—वैष्णव-धर्म के सर्वप्रथम अग्रणी हुए।

दक्षिण की देन—यद्यपि भक्ति तत्त्व का आन्दोलन उत्तर भारत मे भागवत लोगो द्वारा ही आरम्भ हुआ, परन्तु उसे प्रोत्साहन दक्षिण के नायन्नार (शैव) और आलवार (वैष्णव) सन्तो ने विशेष रूप से दिया।

आलवार ने डके की चोट से घोषणा की कि भगवत्प्राप्ति का द्वार सब के लिए खुला है वश या विद्वत्ता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। इस भाव पर आलवार सन्तो ने अधिक बल दिया। इस तथ्य को भी सब स्वीकार करते हैं कि इन्ही के द्वारा पूर्ण शरणागति अथवा प्राप्ति के प्रचार के फलस्वरूप दक्षिण के भक्तो ने

भक्ति की गगा मे गोते लगाए। पाचवी शती से लेकर नवी शती तक भक्ति का खूब बोलबाला रहा।

भक्ति का शुद्ध-रूप—श्री रामानुज पाचरात्र (आगम) के आधार पर ही ब्रह्म, जीव और ससार की सत्ता को स्वीकार करते हैं। यह धर्म समाज के सर्वोच्च धरातल पर चल रहे शकर के अनुस्यूत चिन्तन और विचार पर आधारित न होकर भावना-प्रधान रहा।

अद्वैतवाद मे जीव और ब्रह्म मे अभिन्नता होने के कारण साकारोपासक प्रेमियो के लिए कोई स्थान न था।

जब कि विशिष्टाद्वैतवाद मे जीव और ब्रह्म को अभिन्न नही माना गया। प्रतिक्रिया स्वरूप भक्ति का शुद्ध-रूप और उसकी महत्ता का सुदर विवेचन कर, रामानुजाचार्य ने भक्ति की धारा को पुष्ट बनाकर सारे भारत को सीचा। तत्पश्चात् कई आचार्य हुए जिन्होंने भक्ति के स्वरूप को आगे बढाया।

भक्ति-धारा नितान्त स्वदेशी—यह भक्ति की धारा न तो आकस्मिक थी न ही आक्रमणकारियो की विजय से हुई। गार्व* के अनुसार—"एक ऐसे व्यक्ति की दृष्टि मे जो प्राचीन भारत के बौद्धिक जीवन से भली प्रकार परिचित हो भक्ति का सिद्धान्त नितान्त इसी देश की एक यथार्थ उपज है।"

तन्त्र

तन्त्र अथवा आगम की शास्त्रो के रूप मे मान्यता रही है। एक विचार-धारा के अनुसार आगम को पाचवा वेद माना है। आगम का मूल अर्थ अधिकार और प्रामाणिकता था और इसीलिए इसका प्रयोग वेदो के लिए होता था। यह कहा जाता है कि प्रत्येक युग मे जनता के मार्गदर्शन के लिए एक ईश्वर प्रदत्त शास्त्र होता है। इस मान्यता के अनुसार सत्ययुग मे वेद, त्रेता मे स्मृति तथा द्वापर मे पुराण और आज कलियुग मे वे ही शास्त्र आगम के रूप मे विद्यमान हैं।

तन्त्र साहित्य की रचना कब हुई, यह निश्चित रूप से बतलाना सम्भव नही है, किन्तु तान्त्रिक परम्परा और अनुष्ठान बहुत प्राचीन हैं, यह निश्चित है। जिस प्रकार उपनिषदो मे वेदविहित ज्ञान का पुनरुन्नयन और अनुवर्तन हुआ है, तथा जिस प्रकार ब्राह्मणो मे वैदिक-धर्म की क्रियाविधियो के सरक्षण और विस्तार की चेष्टा की गयी है, उसी प्रकार आगम-शास्त्र मे वैदिक तत्त्व-द्रष्टाओ की गुप्त शिक्षाओ की आकृति और साधना का इस प्रकार सृजन और विकास किया गया है कि वे

* Garb's Philosophy of Ancient India P 84

भविष्य की परिवतनशील परिस्थितियो और आवश्यकताओ के अनुकूल हो। तान्त्रिक-साघना मनुष्य के भावनात्मक और गत्यात्मक अगो जैसे हृदय, इच्छाशक्ति और जीवन-तत्त्व को लेकर उन्हें आत्मा के साचे मे विकसित करने का प्रयत्न करती है।

जिस देवता ने जिस ज्ञान का उदघाटन किया, वह आगम उस देवता के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जैसे शिव का आगम शैव, शक्ति का आगम शाक्त और विष्णु का आगम वैष्णव। इनके मतावलम्वी शैव, शाक्त और वैष्णव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त सूय के उपासक सौर और गणपति के उपासक गाणपत्य कहे जाते हैं। इनमे सर्वाधिक मान्यता-प्राप्त शाक्त आगम है जिसमे देवी को समस्त विश्व की अधिष्ठात्री माना गया है। शाक्त आगम के कुछ अनुष्ठानो मे अतिक्रम होने के कारण समस्त तन्त्रशास्त्र किंचित् निम्न स्तर मे आ गये हैं।

रामानुजाचार्य
(१०१७—११३७ ई०)

श्री रामानुजाचाय बडे ही विद्वान्, सदाचारी, धैयवान्, सरल एव उदार थे। इनके पिता का नाम केशव भट्ट था। छोटी अवस्था मे पिता जी के देहान्त होने पर इन्होंने दक्षिण मे काची मे श्री यादव प्रकाश गुरु के निकट वेदाध्ययन किया। इनकी वुद्धि कुशाग्र थी। ये विद्या, चरित्रवल एव भक्ति मे अद्वितीय थे। श्री यामुनाचाय इनके परम गुरु थे। अपने गुरुदेव की अन्तिम इच्छानुसार इन्होने स्वय 'ब्रह्मसूत्र' की 'श्रीभाष्य' नामक टीका लिखी 'विष्णु सहस्रनाम' तथा आलवन्दारो के 'दिव्य प्रबन्धम्' की टीका दो शिष्यो से लिखाई।

इन्होने देश भर मे भ्रमण करके अनेक नर-नारियो को भक्ति-धम मे लगाया।

सम्प्रदाय—इनका सम्प्रदाय 'श्रीसम्प्रदाय' कहलाता है। इस सम्प्रदाय की आद्य प्रवर्तिका श्री महालक्ष्मी जी मानी जाती हैं।

सिद्धान्त—इनके सिद्धान्तों के आघार हैं —आगम, ब्रह्मसूत्र तथा आलवार सन्तो की वाणी।

(१) इनके मतानुसार भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही प्रत्येक शरीर मे साक्ष्य रूप मे विद्यमान हैं, जगत् के नियन्ता एव स्वामी हैं।

(२) जीव उनका नियम्य है।

(३) अपने व्यष्टि अहकार को सवथा मिटाकर भगवान् की सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करना ही जीव का परम पुरुषाय है।

(४) भगवान् नारायण ही सत्य हैं। लक्ष्मी चित् है और यह जगत् उनके आनन्द का विलास है, रज्जु मे सर्प की भाति असत्य नही है।

(५) लक्ष्मीनारायण जगत् के माता पिता हैं, और जीव उनकी सन्तान है। माता-पिता का प्रेम एव उनकी कृपा प्राप्त करना ही जीव का धर्म है।

(६) वाणी से भगवान् नारायण के अष्टाक्षर 'ॐ नमो नारायणाय' का निरतर जप करना चाहिए। मन और शरीर से उनकी सेवा करना जीव का धर्म है।

(७) उन्होने 'प्रपत्ति' पर बहुत बल दिया है, जिस का अर्थ है, जीव का परमात्मा के प्रति पूर्णतया आत्म-समर्पण।

आपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार ब्रह्म को जीव (चित्) और जगत् (अचित्) से युक्त माना है। अत ब्रह्म चित् जीव अचित् जगत् से विशिष्ट है।

इनके ७४ शिष्य हुए, जो सभी सन्त थे।

रामानन्द

श्री रामानन्दजी का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल मे, सन् १२६७ में, त्रिवेणी तट पर, प्रयाग मे हुआ। इनके पिताजी का नाम पुण्यसदन और माता जी का नाम श्रीमती सुशीला था। इनके पिता वेद, व्याकरण तथा योग के प्रकाण्ड पडित थे। बालक रामानन्द की स्मरण शक्ति एव धारणा शक्ति इतनी अधिक थी कि जो कुछ इनके पिता पाठ करते जाते थे, एक बार सुनकर ही इनको सब कठस्थ हो जाता था। इन्होंने अपने माता-पिता के साथ काशी मे ओंकारेश्वर के यहा ठहरकर विद्याध्ययन किया। बारह वर्ष की अवस्था तक इस अद्भुत बालक ने समस्त शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लिया। इन्होने विवाह नही किया। गगाघाट पर काशी मे तपस्वी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया।

इनके पास मुसलमान, जैन, बौद्ध, वेदान्ती, शैव और शाक्त सभी मतावलम्बी अपनी शकाओं के निवारणार्थ आते थे और समुचित समाधान पाकर शान्त चित्त से लौटते थे।

श्री रामानन्द जी ने भक्ति परम्परा को नया मोड दिया। इन्होने श्री रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय के अनुसार विष्णु के स्थान पर श्रीराम की उपासना पर बल दिया। आपने जाति-भेद, ऊच नीच के भेद को मिटाकर भगवद्-भक्ति के द्वार मानव मात्र के लिये खोल दिए। इस उद्देश्य की सफलता के लिये आपने प्रचारभाषा का माध्यम सस्कृत के स्थान पर प्राकृत भाषाओं को रखा। इनके शिष्यों की

सख्या ५०० से अधिक है। इनमे निर्गुण एव सगुण को मानने वाले दोनो प्रकार के व्यक्ति जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी के गुरु नरहरानन्दजी, योगानन्दजी (ब्राह्मण) पीपाजी (क्षत्रिय राजा), रैदास (चमार) कबीर (जुलाहा), सेन (नाई), धन्ना (जाट), और पद्मावती जैसी स्त्रिया भी थी। इससे उनके विचारो की उदारता स्पष्ट होती है। श्रीरामानन्दाचाय के शिष्य रामानन्दी कहलाते हैं। ये रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। उत्तर भारत मे इसका विशेष प्रचार है। इनके शिष्यो मे तपस्वी वग को वैरागी कहा जाता है। इनके शिष्य निगु णोपासक एव सगुणोपासक दोनो प्रकार के हैं।

जहा भारतीय धार्मिक आचार्य देश की तत्कालीन स्थिति से सवथा निर्लिप्त रहे, वहाँ श्री रामानन्द जी ने तत्कालीन स्थिति को सभालने के लिये निभयतापूवक यथाशक्ति प्रयत्न किया। स्वामीजी ने देश के लिये तीन प्रमुख काय किये।

(१) साम्प्रदायिक कलह को शान्त किया।

(२) हिन्दुओ को आर्थिक सकट से मुक्त किया।

(३) बादशाह गयासुद्दीन तुगलक की हिन्दू सहारिणी सत्ता को पूण रूप से दबा दिया और उसे राजाज्ञा (शाही फरमान) द्वारा हिन्दू जाति एव धम पर किये जाने वाले अत्याचारो, तीर्थों पर लगे कर (जजिया) और गोवध को बन्द करने के लिये बाध्य किया। इसके अतिरिक्त मन्दिरो को विध्वस न किया जाय, राम नाम प्रचार मे बाधा न डाली जाए, किसी को भी धम परिवतन के लिये मजबूर न किया जाए, स्त्री के सतीत्व को नष्ट न किया जाए, मस्जिद के सामने जाते हुए दूल्हे को पैदल चलने पर विवश न किया जाए, आदि, आदि, राज्यादेश निकलवाये। यह सब इनकी तपस्या, योगबल, आत्म-विश्वास एव धमनिष्ठा का प्रभाव था। इनके समकालीन काशी के मुसलमान फकीर मौलाना रशीदुद्दीन ने अपनी 'पुस्तक तजकीर तुल फुकरा' मे इनके विषय मे लिखा है

"रामानन्द जी तेजोपु ज एव पूण योगेश्वर है। सदाचारी एव ब्रह्मनिष्ठ रूप है। परमात्मतत्त्व रहस्य के पूण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियो एव ब्रह्मविदो के समाज मे उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अर्थात् धर्माधिकार मे हिन्दुओ के धर्म कम के सम्राट हैं।"

सत कबीर (१३९८-१५१८)

"काशी मे हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चेताये।" पक्ति कबीर के जन्म स्थान एव गुरु का परिचय देती है। आप जाति-भेद तथा ऊच-नीच की भावना से परे थे। हिन्दू-मुसलमान का भेद भाव मिटाकर मुस्लिम फकीरो का तथा हिन्दू सतो का

सतसग किया । जो तत्त्व प्राप्त हुआ उसे मन मे जगह दी । वे पढे-लिखे तो थे नहीं । "मसि कागद छुयो नही, कलम गह्यो नही हाथ" वाले कबीर की भाषा साहित्यिक न होने पर भी बहुत ही मर्मस्पर्शी है ।

आप अहिंसा, सत्य और सदाचार आदि सद्गुणो के उपासक थे । सबद और साखियो मे आपने शीलता, दया, क्षमा, दान, सन्तोष एव आत्म-निरीक्षण आदि सद्गुणो को अपनाने का उपदेश दिया है । मुख्यत आपने ईश्वर स्मरण, ससार से विरक्ति, कथनानुसार कर्म तथा सुसगति पर बल दिया है ।

आपके गुरु स्वामी रामानन्द जी राम के उपासक थे, परन्तु आप निराकार के उपासक बने । दशरथ सुत राम के स्थान पर सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्म को ही आपने राम कहा । "दशरथ सुत तिहुँ लोक वखाना, राम नाम का मरम है आना ।" उसे निराकार सर्वव्यापी अजन्मा कहा है । आपके राम के रूप मे स्वामी शकराचार्य का अद्वैतवाद, स्वामी रामानन्द का भक्तिवाद, वैष्णवो का अहिंसावाद, इस्लाम का एकेश्वरवाद, नाथपथ का हठयोग और सूफियो का प्रेम तथा विरह मिलकर ही राममय ही हो गया है ।

कबीर ने ईश्वर को साहब कहा है । आपने साहब की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता, एकेश्वरवाद तथा एकाश्रयता पर बल दिया है —

"साहेब मेरा एक है,
दूजा कहा न जाय ।"

आपने परमात्मा को माता, पिता, मित्र और पति के रूप मे भी देखा है । वे कभी कहते हैं "हरि मोर पिऊ, मैं राम की बहुरिया" और कभी कहते हैं—"हरि जननी मैं बालक तेरा ।" उनकी साखियो मे उनका भगवान् के साथ जो मधुर प्रगाढ सम्बन्ध था, उसकी बहुत सुन्दर व्यजना हुई है । आप नाम-स्मरण को बहुत महत्त्व देते थे ।

कबीर जी सद्ज्ञान की प्राप्ति के लिये गुरु की आवश्यकता समझते थे । गुरु और ब्रह्म शब्द कहीं-कहीं पर्यायवाची भी हैं । कहीं कही ब्रह्म से भी महान् —

गुरु गोविन्द दोनों खड़े का के लागूँ पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिये दिखाय ॥

माया, जीव, जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध मे कबीर की विचारधारा अद्वैतवाद के अनुकूल होती हुई भी कुछ अन्तर रखती है । ज्ञानमार्गी होते हुए भी कबीर की प्रभु प्रेम विषयक अभिव्यजनाएँ अत्यधिक प्रभावशाली हैं ।

आपकी अभिव्यक्तियाँ अद्वैत और भक्ति का, मस्तिष्क और हृदय का सुन्दर

समन्वय प्रस्तुत करती हैं। उन्होने श्री रामानन्द से राम भक्ति का मन्त्र प्राप्त किया, फिर भी हम उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष से नही बांध सकते।

कबीर धर्म एव समाज के सुधारक भी थे। वे युगो की रूढियों को दूर करने के लिये एक सुधारक सत के रूप मे अवतीर्ण हुए थे। हिन्दू और मुसलमानो के धम के मूर्तिपूजा, तीर्थ स्थान, नमाज, व्रतोपवास आदि के बाह्याचार के विरोधी थे।

आपकी आध्यात्मिक उल्टबासिया अनुभवी पुरुषो को आनन्द से विभोर कर देती हैं। आपकी रचनाओं का सग्रह 'कबीर बीजक' नाम से प्रसिद्ध है। इनकी 'वाणियो' को शिष्यो ने ही सग्रहीत किया था।

अपनी सरलता, साधु स्वभाव और निश्छल सत जीवन के कारण ही कबीर आज केवल भारतीय जनसमुदाय मे ही नहीं, अपितु विदेशो मे भी लोगो के कठहार बन रहे हैं। अब तो यूरोप वाले भी इनके महत्त्व को समझ रहे हैं। सक्षेप मे, कबीर अपने युग के सर्वोच्च रहस्य द्रष्टा, कवि, निर्भीक समाज सुधारक एव स्पष्ट वक्ता उपदेशक रहे हैं।

आपने ब्रह्म का ऐसा रूप जनता के समक्ष रखा जो हिन्दू-अहिन्दू सभी को मान्य था। वह समय हिन्दू मुसलमानो के परस्पर विरोध का समय था, धार्मिक झगड़े नित्य प्रति होते थे। उन्होंने उपास्य का ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिसमें राम और रहीम दोनो के अस्तित्व एकाकार हो गए। परिणामत हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के निकट आ गए। यह उनकी समाज सुधारक की दृष्टि से महान् उपलब्धि थी।

वे उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि थे। उनके रहस्यवाद का प्रभाव प्रकारान्तर से विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओ पर भी है।

गुरु नानक

गुरु नानक का जन्म सन् १४६९ में पजाब में, लाहौर के पास जिला शेखूपुरा के तलवडी गाव मे हुआ था, जो अब नानकाना साहिब के नाम से प्रसिद्ध है। समानता एव एकता के प्रतीक, भक्त-प्रवर, गुरु नानक का प्रादुर्भाव ऐसे समय मे हुआ, जब मजहबी तास्सुब (धार्मिक पक्षपात) अपनी चरम-सीमा पर था। आरम्भ से ही आप आध्यात्मिकता की ओर झुके हुए थे। बाल्यावस्था मे, जब इन्हे पांधे के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा गया तो सर्वप्रथम उनके द्वारा "ॐ" से श्रीगणेश कराने पर इन्होंने उसका अर्थ समझना चाहा, परन्तु सतोषजनक उत्तर न पाया। तब इनके मुखारविंद से नि सृत ॐ की भावपूर्ण व्याख्या सुन पाधा चकित रह गया।

वे गृहस्थ जीवन से विरक्त हो, साधु-सगति मे विचरने लगे। सभी मतो के

के साधुओ से जिज्ञासु के रूप मे सप्रेम मिलते, अध्यात्म चर्चा करते एव सेवा करते। वे अध्यात्म-विद्या के रहस्य से सुपरिचित एक मेधावी पुरुष थे।

उपदेश—आत्मिक-अभ्युदय के लिए ज्ञान, भक्ति, नाम स्मरण, भजन योग का अभ्यास आदि आपके मुख्य उपदेश थे। मूर्ति पूजा, वेद-पुराण, तीर्थ-यात्रा, जनेऊ आदि बाह्याचार मे आस्था न थी। उन्होंने श्रद्धा पर बल दिया। उनका सिद्धान्त था कि शरीर रूपी खेत मे मनरूपी किसान द्वारा भगवद् नाम का बीज बोया जाना चाहिये और नम्रता के पानी से उसे सीचना चाहिए तभी प्रेम की फसल काट सकेंगे। आप नम्र, दयालु, तेजस्वी वक्ता, भजनीक और कवि-हृदय प्राणी थे। उन्होंने प्रेम, तर्क तथा मीठी वाणी से दूसरो के हृदय को जीता। लोग स्वय ही उनकी ओर खिचे चले आते थे।

धर्म-प्रचार मे योगदान—भारत के प्राय सभी भागो मे विशेष कर पजाब मे बाला और मरदाना दो सेवको के साथ भ्रमण करके आपने अपना अमूल्य उपदेश दिया। एकता और प्रेम का प्रचार करने के लिए नेपाल, भूटान, सिक्कम, तिब्बत, चीन, ईरान, अफगानिस्तान, अरब (मक्का, मदीना) का भ्रमण किया।

उनके अनुसार सब एक पिता के बालक हैं। इसी आधार पर वे देश के सभी सम्प्रदायो को एक स्तर एव एक मच पर लाने की चेष्टा मे लगे रहे। उन्होंने छूआ-छूत, जाति प्रथा के भेदभाव को मिटाने तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता बनाए रखने के लिए भरसक प्रयत्न किया। हिन्दू और मुसलमान दोनो इनके शिष्य हैं। नया सम्प्रदाय खडा करने का इनका लेशमात्र भी विचार नही था। इनके शिष्य 'सिक्ख' कहलाने लगे। सिक्ख पथ उन कतिपय घटनाओ का परिणाम है जो मुख्यतया पचम गुरु श्री अर्जुनदेव के समय से घटित होनी प्रारभ हुई और जो दशम गुरु श्रीगोविन्द सिंह जी के समय एव उनके पश्चात् तक घटती रही। उनकी सरल एव मधुर वाणी 'ग्रथ साहिब' मे सग्रहीत है। इनकी बानी (सबद) और शब्दो को आज भी सिक्ख लोग प्रेम से गाते हैं। ग्रथ साहिब के शब्द उपदेश से ओत-प्रोत हैं।

वे भारत मे ही नही, समस्त ससार के लिये आदरणीय हैं क्योकि वे मानवीय एकता के समर्थक थे और इसी का प्रचार उन्होने जीवन पर्यन्त किया। उनका कहन है—

खालक वसै खलक मे, खलक वसै रब माह।
मदा किसनु आखिर, जां जिस बिन कोई नाह॥

गुरु नानक जी के सिद्धान्त प्रचार के विषय मे विद्वान् कनिंघम की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

"परमात्मा ही सब कुछ है। मानसिक पवित्रता ही सब कुछ है। मानसिक पवित्रता ही प्रथम धर्म है और श्रेष्ठ प्रार्थनीय और साधनीय वस्तु है। नानक जी आत्मोत्सर्ग और आराधना सीखने का उपदेश देते थे। वे अपने को प्रवर्तको की अपेक्षा

श्रेष्ठ और असाधारण गुणो तथा शक्तिशाली नही समझते थे। उनका कहना था कि दूसरो की भाँति वे भी एक प्राणी हैं। स्वदेशवासियो को पवित्र जीवन बिताने का वे सदा उपदेश करते थे।

श्री गुरु नानक देवजी का नाम भारत के धार्मिक इतिहास मे सत जीवन के अध्याय मे सदैव अकित रहेगा।"

श्री चैतन्य महाप्रभु

श्री चैतन्य महाप्रभु का जन्म बगाल के नवद्वीप जिले के मायापुर ग्राम मे १४८६ ई० को फाल्गुनी पूर्णिमा को हुआ। इनके पिता का नाम श्री जगन्नाथ मिश्र था।

तव देश की स्थिति अत्यन्त शोचनीय तथा अधर्ममय थी। विदेशी शासन के कारण धम का ह्रास हो रहा था। ईश्वर-भक्ति लुप्तप्राय हो गई थी। ऐसी विषम दशा मे इन गौरागप्रभु ने भक्ति को पुनर्जीवित करके श्रीहरिनाम सकीतन का सर्वत्र प्रचार किया। आपके प्रभाव के कारण सिराजुद्दीन चाँद जैसे काजी और जगाई मधाई जैसे भ्रष्ट ब्राह्मण भी ईश्वरानुरागी वन गए।

आप निरन्तर सकीतन के आवेश मे रहते थे, ऐसा दिव्य भाव उनके पूव या पश्चात् अन्य किसी व्यक्ति मे देखने मे आया ही नही। आपके कीतन से श्रद्धालु भक्तो के अतिरिक्त कई वेद-विरोधी हिन्दुओ तथा मुसलमानो ने भी आत्म-सतोष प्राप्त किया।

श्रीगौराग कीतन करते-करते प्रेमोन्मत्त हो उठते। तव वे जिसे भी स्पश कर लेते, वह उसी समय सुध बुध भूलकर नृत्य करता, रोता और भूलु ठित हो मगलमय श्रीकृष्णनाम पुकारने लग जाता था।

श्रीगौराग ने २४ वष की युवावस्था मे ही सन्यास की दीक्षा श्रीकेशव भारती जी से ले ली थी। श्रीकृष्ण चैतन्य नाम उनका सन्यास लेने पर ही पडा था। उनका सन्यास के पूव का नाम निमाई पडित था। यह न्याय के प्रकाड पडित थे। रोती, विलखती वुढ़िया, विधवा माता तथा पत्नी श्रीविष्णुप्रिया को छोड काशी होते वृन्दावन पहुँचे। वहाँ वे व्रज रज मे लोटते लोटते वेसुध रहते। दक्षिण मे नाम प्रचार करके जगन्नाथ पुरी लौटे। एक वार घर जाकर तडपती मा और विलखती पत्नी को धैर्य वधा आए। फिर वे जगन्नाथ मे ही विराजे।

सिद्धान्त—इनके सिद्धान्त मे द्वैत एव अद्वैत का वडा सुन्दर समन्वय हुआ है।

मुख्य उद्देश्य—इनका मुख्य उद्देश्य भगवद्भक्ति एव भगवन्नाम का प्रचार करना और जगत् मे प्रेम और शाति का साम्राज्य स्थापित करना था। न तो आप कभी किसी वाद विवाद मे पडे, न अन्य साधनो की निन्दा की। कलिमल-ग्रस्त, जीवो के उद्धार के लिए भगवन्नाम के जप एव कीर्तन को ही मुख्य एव सरल उपाय माना।

शिक्षा—इन्होने 'शिक्षाष्टक' मे अपने उपदेशो का सार भर दिया है। सारांश मे—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण का नाम और गुणो का कीर्तन सर्वोपरि है जो चित्त रूपी दर्पण को स्वच्छ कर देता है।

(२) भगवान् के विभिन्न नामो मे भगवान् की पूर्ण भगवती-शक्ति निहित है।

(३) अपने को तिनके से भी छोटा समझना चाहिए। स्वय मान रहित रहकर दूसरो का सम्मान करना चाहिए। जन्म जन्मातर मे श्रीकृष्णजी के चरणो मे अहैतुकी भक्ति बनी रहे।

कलिसतरणोपनिषद् के महामत्र—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

के कीर्तन पर बल दिया। साथ ही साथ दैवी-सम्पत्ति के प्रधान लक्षणो, दया अहिंसा, सत्य, समता, उदारता, परोपकार, परदु खकातरता, मैत्री, धैर्य, अनासक्ति शौच इत्यादि तथा आचरण की पवित्रता को प्रधानता दी।

प्रभाव—इनके व्यक्तित्व का लोगो पर ऐसा विलक्षण प्रभाव पडा कि श्री प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे अद्वैत-वेदान्ती तथा वासुदेव सार्वभौम जैसे परम-ज्ञानी इनके कुछ समय के सग के प्रभाव से श्रीकृष्ण प्रेमी बन गये। यही नही, इनके जीवन मे अनेक अलौकिक घटनाए घटी जो किसी लौकिक मनुष्य के लिए सम्भव नही।

गोस्वामी तुलसीदास

जन्म—श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म सन् १४६७ ई० श्रावण शुक्ला सप्तमी को सरयूपारीण ब्राह्मण आत्माराम के घर हुआ। इनकी माता का नाम हुलसी था। उनके ग्रन्थो मे उनकी भक्ति-जन्य दीनता की झलक तो अवश्य मिलती है, किन्तु उनके जीवन के सम्बन्व मे कुछ भी पता नही चलता।

विवाह तथा गृह-त्याग—उनका विवाह २९वें वर्ष मे विदुषी रत्नावली से हुआ था जिनके प्रति उनकी बडी गहरी आसक्ति थी। एक दिन जब वह मायके चली गई,

तुलसीदास जी छिपकर रात को वहा जा पहुचे, जिस पर उसे बडा सकोच हुआ और उसके मुख से निकल पडा

अस्थि चममय देह मम, ता पर ऐसी प्रीत।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटहि भव भीति ॥

यह बात तीर के समान उनके ममस्थल पर जा चुभी, वे तुरन्त वहां से चल दिए और प्रयाग आये। तब से ही विरक्त जीवन व्यतीत करने लगे।

यात्रा—चौदह वर्ष तक लगातार चारों धामों की यात्रा करके वैराग्य और तितिक्षा को बढाया। श्री नरहर्यानिन्द जी को अपने गुरु-रूप मे वरण किया।

तुलसीदास जी का आविर्भाव उस काल में हुआ जब समाज की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। राजनीतिक अत्याचारो के कारण जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। उस समय तुलसी की आशाजनक, प्रभावोत्पादक समन्वयकारी वाणी से जनता को डूबते हुए को तिनके का सहारा मिला। तुलसी एक साथ ही भक्त, पडित, सुधारक, लोकनायक, भविष्य-स्रष्टा और क्रान्तदर्शी कवि थे।

तुलसी ने दशरथ-पुत्र राम को अपना इष्टदेव बनाया। उन्होंने उनका वर्णन ब्रह्म के अवतार के रूप में किया है। तुलसी के राम शक्ति, शील और सौन्दर्य के प्रशाभूत सग्रह थे। वे असुर दलन थे, वे सरक्षक थे, पालक थे और थे भक्त-वत्सल। तुलसी रामानन्दी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे, सगुणोपासक थे।

रामचरितमानस—रामचरित मानस की रचना अवधी भाषा मे की। रामचरित मानस भारत के घर-घर मे बडे आदर और भक्ति के साथ प्रमुख धम ग्रन्थ के रूप मे पढा जाता है।

उत्तरी भारत के गवार देहाती किसानो से लेकर प्रकाण्ड पडित तक इसके अध्ययन से भाव-विभोर हो उठते हैं।

भारतीय समाज, सस्कृति, धम तथा विचार, अथवा भारतीय साहित्य का चरम विकसित रूप यदि एक ही रचना में देखना है तो वह है तुलसीकृत राम-चरित मानस। इन्होंने रामचरित मानस मे समाज तथा धम-भेद मे समन्वय स्थापित करते हुए तात्कालिक भेद-भाव मिटाकर शान्ति स्थापित की। रामचरित मानस के अतिरिक्त 'विनय-पत्रिका' आदि कई ग्रथ इनके द्वारा रचे गये।

दार्शनिक सिद्धान्त—इनकी रचनाओ मे वेदान्त के सभी दृष्टिकोणो का सुन्दर समन्वय है।

ज्ञान और भक्ति के भेद को मिटा, भक्ति को उच्चासन पर बिठाया, सगुण, निगुण को अभिन्न बतलाया।

"सगुनहिं, अगुनहिं नहिं कछु भेदा।"

राम-कृष्ण, राम-शिव, वैष्णव-शैव-शाक्त आदि सभी सम्प्रदायो मे समन्वय उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। राम-राज्य का वर्णन कर राजनीति और समाज का पथ-प्रदर्शन किया।

जीवन को सुख तथा शातिमय वनाने के लिए आध्यात्मिक साधना का मुख्य आधार राम-नाम बतलाया। नाम महिमा का गुणगान किया।

इनकी रचनाओ मे हृदय और बुद्धि का समन्वय है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—

"गोस्वामीजी का सारा काव्य ही समन्वय की एक विराट चेष्टा है। इसमे लोक और शास्त्र, गृहस्थ और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान, निर्गुण और सगुण, ब्राह्मण और चाडाल इत्यादि प्रत्येक क्षेत्र मे अद्भुत समन्वय स्थापित करने का यत्न किया गया है।

जीवन की प्रत्येक समस्या के समाधान का मूल साधन रामचरित मानस है। नाम स्मरण से जीवन की सपूर्ण समस्याए हल हो जाती हैं।

श्री रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—

"तुलसी के मानस से जो शील, शक्ति सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँच कर भगवान् के स्वरूप को प्रतिविम्वित किया। रामचरित की इसी जीवन व्यापकता ने उनकी वाणी को राजा-रक, धनी-दरिद्र, सबके हृदय और कंठ मे चिरकाल के लिए बसा दिया। गोस्वामी जी की वाणी मे जो स्पर्श करने की शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है।"

तुलसी जी ने अपनी अलौकिक वाणी द्वारा भगवान् के भक्त-वत्सल, दुष्ट-नाशक रूप का वर्णन कर भग्न हृदय हताश हिन्दू जनता को आत्मवल प्रदान किया और निराशापूर्ण जीवन के लिए प्रफुल्ल जीवन का उदार रूप सामने रखा—

आपकी रचना स्वान्त सुखाय होते हुए भी सर्वान्त सुखाय है।

तुलसीदास जी ने रामकथा के माध्यम से जो उपदेश दिये हैं वे भारतीय सस्कृति के सार हैं। सरल जीवन, कर्त्तव्य-पालन और आदर्श-निष्ठा भारतीय-सस्कृति के सदा से आधार-स्तम्भ रहे हैं। तुलसीदास जी ने इन्ही की पुन प्रतिष्ठा की थी। साथ ही उन्होंने इस वात पर भी वल दिया कि जीवन मे राम-भक्ति ही मुक्ति का उपाय है। राम सदा दुष्टो का नाश करते हैं एव साधुओ और सज्जनो पर कृपा करते हैं। उनके इन्ही मूल्यवान उपदेशो के कारण आज भी उत्तर भारत के घर-घर मे 'रामचरित मानस' का आदर होता है।

भक्त सूरदास
(१५४०—१६२०)

हिन्दुओ के स्वातन्त्र्य के साथ ही साथ वीर गाथाओ की परम्परा भी काल के अन्धकार में जा पडी थी। हिन्दुओ ने अपनी स्वतन्त्रता के साथ ही सब कुछ गवा दिया, परन्तु सवस्व गवा कर भी वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम रखने की वासना नही छोड सके। उन्होंने सभ्यता और सस्कृति आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया और उनकी भक्ति का स्रोत देश के कोने-कोने मे दूर तक फैल गया। चैतन्य महाप्रभु और श्री वल्लभाचाय जी ने परम भाव की उस आनन्द विधायिनी कला का दशन करा कर, जिसे प्रेम कहते हैं, जीवन मे सरसता का सचार किया।

प्रेम-सगीत की धारा मे उदासी और खिन्नता बह गयी और लोक का सुखद पक्ष निखर आया। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाए श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीतन करने लगी जिनमे सबसे ऊची, सुरीली और मधुर झकार अन्धे सूरदास की वीणा की थी। सूरदास कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनकी कवितायें वडी रोचक हैं। सूरदास की रचना का ढग ही अनूठा है। सूरदास को कवि जगत् का सूर्य भी कहा जाता है।

सूरदास का जन्म १५४० ई० में आगरा के निकट हुआ था। ये जाति के ब्राह्मण थे। ये श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। व्रजभाषा एव कृष्ण-भक्ति शाखा मे इनका स्थान सर्वोच्च माना जाता है। सूरदास ने लगभग सवा लाख पदो की रचना की जिनमे अब तक केवल कुछ हजार ही प्राप्त हो सके हैं। इन्होंने पाच ग्रथो की रचना की थी—'सूर-सागर', 'सूर सारावली' 'साहित्य लहरी', 'नल-दमयन्ती' और 'व्याहलो'। इन ग्रन्थो मे इनका सवश्रेष्ठ ग्रथ सूर-सागर है। इसके सभी पद गेय हैं।

सूरदास को कृष्ण के वालरूप के चित्रण में अद्वितीय माना जाता है। 'वात्सल्य' एव शृगार के क्षेत्र मे भी इनकी अपूर्व पहुँच थी। 'भ्रमरगीत'* में व्रज की गोपियो के विरह का वर्णन बहुत ही वाग्विदग्ध एव ममस्पर्शी ढग से किया है।

---

* यह एक उपालम्भ काव्य है।

भ्रमर-गीत प्रसग द्वारा सूर ने सगुणोपासना को निगु णोपासना से श्रेष्ठ बताने और प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

किसी बात को घुमा-फिरा कर कहना ही इनकी कविता की विशेषता है। सूरदास की भक्ति के पदो मे एक तन्मयता है, जिनमे कवि ने सख्य भाव से अपने उपास्य देव की आराधना की है। सूर की बाल-लीला का वर्णन सम्पूर्ण विश्व के पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध है। इसमे हम तत्कालीन पारिवारिक और सामाजिक जीवन की झाँकी पाते हैं। सूरदास ने अपनी सारी कवितायें शुद्ध एव मधुर व्रजभाषा में लिखी है। सूरदास का देहावसान 'पारसोली' ग्राम मे १६२० ई० मे हुआ।

भक्त श्री तुकाराम

जन्म तथा विवाह—श्री तुकाराम जी का जन्म महाराष्ट्र मे देहू नामक ग्राम मे एक पवित्र कुल मे १६०८ ई० मे हुआ। कुल-प्रथानुसार १३ वें वर्ष मे ही इनका विवाह हो गया, पर इनकी पत्नी रखुवाई दमे के कारण सदा रुग्ण रही। उससे कोई सन्तान न होने पर इनका दूसरा विवाह कर दिया गया, पर इस वार जिजाई नाम की जो देवी आई वह पूर्णतया क्रोध की मूर्ति निकली। चार साल तक तो गृहस्थ जीवन ठीक निभ गया, पर वाद मे सकट काल आ उपस्थित हुआ।

सकट काल—इधर तो पिता माता चल वसे, उधर वडी भावज के मरने पर वडे भाई पूर्ण विरक्त होकर घर-वार छोड, जीवन भर के लिए तीर्थ-यात्रा को चले गये। अव तुकाराम का मन भी ससार से उखडने लगा। साथ ही घर मे दूसरी पत्नी का रात-दिन के कलह से उनकी स्थिति विगड गयी।

परीक्षा-काल—परन्तु इन्होंने इन सकटो को सहर्ष झेला, जो इनकी सहिष्णुता का द्योतक है। इस प्रकार सोना तपकर मानो कुदन वन रहा था। उनकी सहिष्णुता का एक अन्य उदाहरण एक वार ये खेत से गन्ने का गट्ठर ला रहे थे, राह मे वच्चो ने सभी गन्ने ले लिये। घर आने तक केवल एक वचा रहा। भूखी पत्नी जिजाई जी ने वही गन्ना क्रोध से उनकी पीठ पर दे मारा। आप वोले 'धन्यवाद, जो आपने स्वय ही गन्ने के दो टुकडे कर दिये, आधा तो मैं आपको देने ही वाला था।'

अन्तत दु ख के इस प्रचण्ड दावानल से तुकाराम वैराग्य-कचन होकर निकले। इन्होंने योग-क्षेम का सारा भार भगवान् पर छोडकर निरन्तर भजन करने का निश्चय कर लिया।

भगवत्कृपा से कठिन साधना के फलस्वरूप तुकाराम जी की चित्त-वृत्ति अखण्ड, नाम-स्मरण में लीन होने लगी। इसी अवस्था में इनके मुख से अभग-वाणी

निकलने लगी। ज्ञानमयी सारगर्भित कविताओ को इनके मुख से स्फुरित होते देख ज्ञानी जन भी चकित हो जाते और भावपूवक चरणो मे नतमस्तक होते।

प्रभाव—सब प्रकार के लोग इनके स्वानुभव-सिद्ध उपदेशो से लाभ उठाते थे। छत्रपति शिवाजी भी इनको अपना गुरु बनाना चाहते थे, पर अन्तर्दृष्टि से जानकर कि शिवाजी के नियत गुरु समथ रामदास ही है, तुकाराम ने उन्हें समथजी की ही शरण मे जाने का उपदेश दिया। फिर भी, शिवाजी महाराज इनकी बहुत श्रद्धा करते रहे। इनके जीवन मे लोगो ने अनेक चमत्कार भी देखे।

अन्त—१६५० ई० मे प्रात काल चैत्र कृष्ण द्वितीया को इन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

स्मारक—इनकी अभग वाणी आध्यात्मिक जगत् की अमूल्य एव अमर सम्पत्ति है। यह अभगवाणी मानो उनकी वाङ्मयी मूर्ति ही है।

अध्याय १४

मुगलों की भारतीय संस्कृति को देन

भारत प्राय सदैव ही छोटे बड़े राज्यो मे बँटा रहा, अशोक और चन्द्रगुप्त, के उपरान्त मुगल काल मे ही ऐसा सम्भव हो सका कि भारत का एक बड़ा भू भाग एक ही राज-सत्ता के अधीन हो। भारत मे मुगलो का राज्य दीर्घ काल तक रहा अत कोई आश्चर्य नही यदि उन्होंने हमारे देश की जीवन पद्धति तथा भारतीय, सस्कृति पर अपना कुछ प्रभाव छोड़ा हो। वस्तुत हमारे कला-कौशल, साहित्य, चित्रकला, सगीत-कला, वास्तु-कला आदि पर उनका वहुत प्रभाव पड़ा है।

शिक्षा क्षेत्र मे—साहित्य प्रेमी वावर के समय से ही शासन का एक ऐसा विभाग वना दिया था जिसका मुख्य ध्येय शिक्षा सस्थाओ की उन्नति पर विशेप ध्यान देना था। हुमायू को तो पुस्तको की अतीव रुचि रही। उसने एक पाठ शाला खोली तथा दिल्ली के पुराने किले मे पुस्तकालय स्थापित किया। मुगलो के समय मे जव भी आगरे या फतहपुर सीकरी मे राजधानी रही, वहाँ अनेक पाठ-शालाएँ खोली गयी। अकवर, जहागीर, शाहजहाँ सभी के समय मे विद्या के प्रचार मे उन्नति होती रही। वेगमो और शहजादियो की शिक्षा की ओर भी विशेप ध्यान दिया गया।

साहित्य तथा ऐतिहासिक रचनायें—मुगलो के समय मे विद्वानो को वरावर सरक्षण मिलता रहा। आइने अकवरी, मुआसीरे-जहाँगीरी, अकवरनामा, हुमायूनामा, शाहनामा जैसे ग्रथ भारत के उस समय के इतिहास पर वहुत प्रकाश डालते हैं। इनके अतिरिक्त सस्कृत के अनेक धार्मिक ग्रन्थो जैसे, महाभारत, रामायण और लीलावती के अकगणित का फारसी मे अनुवाद हुआ।

पजाव मे वुल्लाशाह ने अध्यात्मवादी कविता की धारा प्रवाहित की।

हिन्दी साहित्य—विद्यापति के उपरात रामभक्ति और कृष्णभक्ति के दो महाकवि तुलसी और सूरदास इसी युग की देन है, हिंदी का समृद्ध एव सर्वोत्कृष्ट

साहित्य इसी युग मे निर्मित हुआ । इसी कारण इस युग को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग भी कहते हैं । नाभादास जी ने भक्तमाल की रचना की ।

वास्तु कला—मुगल युग की इमारतो, हुमायू का मकबरा, फतहपुर सीकरी के महल, सिकदरा में अकबर का मकबरा, लाहौर मे जहागीर का मकबरा और आगरे की मोती मस्जिद आदि मे भारतीय तथा फारसी शैलियो के सुदर समन्वित रूप का पर्याप्त विकास हुआ है । इसी कला का परिष्कृत स्वरूप शाहजहां के ताजमहल मे चरम सीमा को पहुँचा है, किंतु नये गवेषक उसे इसका पूर्ण श्रेय न देने के प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

चित्रकला—हिंदू कुशल चित्रकारो की सख्या मे वृद्धि हुई । ईरानी कला और भारतीय कला के सुदर सम्मिश्रण से एक नई शैली 'मुगल शैली' का जन्म हुआ ।

उद्यान निर्माण कला—मुगलो की वडी देन उद्यान-निर्माण कला की भी रही है । मुगलो से पहले उद्यान तो थे, पर वे फलो के लिये लगाये जाते थे, केवल फूलो के लिये नही । पुष्प उद्यानों की दृष्टि से कश्मीर का शालीमार बाग, निशात बाग और लाहौर का शालीमार बाग देखते ही बनता है । इन बागो मे नहरो से जल लाकर ऊचाई से कई स्थानो पर नीचे गिराकर प्रपातो का अति मनोहर दृश्य उत्पन्न किया जाता था । फव्वारे और वारहदरियो की शोभा निराली थी । उद्यानो की इस मनोहरी सुषमा के कारण ही कश्मीर को पृथ्वी का स्वर्ग कहा जाने लगा । इत्र के अन्वेषण का श्रेय भी जहागीर की मलिका नूरजहा को है ।

सगीत—भारतीय सगीत भी मुगल युग के प्रभाव से लाभान्वित हुआ । भारतीय राग, रागनियो तथा वाद्य-यन्त्रो मे वृद्धि हुई । सगीत-विशेषज्ञ के नाते अकबर के नव-रत्नो मे तानसेन भी थे ।

दीने-इलाही

कुल प्रथा—दूरदर्शी बाबर अपने मरने से पहले हमायू को अपनी वसीयत* में अपने नवस्थापित शासन की स्थिरता के लिये समझा गये थे कि वह भारत की

---

*"हिन्दुस्तान मे अनेक धर्मों के लोग बसते हैं । भगवान् को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हे इस देश का बादशाह बनाया है । तुम पक्षपात से काम न लेना, निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मो की भावना का ख्याल रखना । गाय को हिन्दू पवित्र मानते हैं, अतएव जहा तक हो सके, गोवध नहीं करवाना, और किसी भी सम्प्रदाय के पूजा के स्थान को नष्ट नही करना" ।—बाबर की वसीयत ।

अध्याय १४

मुगलों की भारतीय संस्कृति को देन

भारत प्राय सदैव ही छोटे बडे राज्यो मे बँटा रहा, अशोक और चन्द्रगुप्त, के उपरान्त मुगल काल मे ही ऐसा सम्भव हो सका कि भारत का एक बडा भू भाग एक ही राज-सत्ता के अधीन हो। भारत मे मुगलो का राज्य दीर्घ काल तक रहा अत कोई आश्चर्य नही यदि उन्होंने हमारे देश की जीवन पद्धति तथा भारतीय, सस्कृति पर अपना कुछ प्रभाव छोडा हो। वस्तुत हमारे कला-कौशल, साहित्य, चित्रकला, सगीत-कला, वास्तु-कला आदि पर उनका बहुत प्रभाव पडा है।

शिक्षा क्षेत्र मे—साहित्य प्रेमी बाबर के समय से ही शासन का एक ऐसा विभाग बना दिया था जिसका मुख्य ध्येय शिक्षा सस्थाओ की उन्नति पर विशेष ध्यान देना था। हुमायू को तो पुस्तकों की अतीव रुचि रही। उसने एक पाठ शाला खोली तथा दिल्ली के पुराने किले मे पुस्तकालय स्थापित किया। मुगलो के समय मे जब भी आगरे या फतहपुर सीकरी मे राजधानी रही, वहाँ अनेक पाठ-शालाएँ खोली गयी। अकबर, जहागीर, शाहजहाँ सभी के समय मे विद्या के प्रचार मे उन्नति होती रही। बेगमो और शहजादियो की शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया।

साहित्य तथा ऐतिहासिक रचनायें—मुगलो के समय में विद्वानो को बराबर सरक्षण मिलता रहा। आइने अकबरी, मुआसीरे-जहाँगीरी, अकबरनामा, हुमायूनामा, शाहनामा जैसे ग्रथ भारत के उस समय के इतिहास पर बहुत प्रकाश डालते हैं। इनके अतिरिक्त सस्कृत के अनेक धार्मिक ग्रन्थो जैसे, महाभारत, रामायण और लीलावती के अकगणित का फारसी मे अनुवाद हुआ।

पजाब मे बुल्लाशाह ने अध्यात्मवादी कविता की धारा प्रवाहित की।

हिन्दी साहित्य—विद्यापति के उपरांत रामभक्ति और कृष्णभक्ति के दो महाकवि तुलसी और सूरदास इसी युग की देन है, हिंदी का समृद्ध एव सर्वोत्कृष्ट

साहित्य इसी युग मे निर्मित हुआ। इसी कारण इस युग को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग भी कहते हैं। नाभादास जी ने भक्तमाल की रचना की।

वास्तु कला—मुगल युग की इमारतो, हुमायू का मकबरा, फतहपुर सीकरी के महल, सिकदरा मे अकबर का मकबरा, लाहौर में जहागीर का मकबरा और आगरे की मोती मस्जिद आदि मे भारतीय तथा फारसी शैलियो के सुदर समन्वित रूप का पर्याप्त विकास हुआ है। इसी कला का परिष्कृत स्वरूप शाहजहाँ के ताजमहल में चरम सीमा को पहुँचा है, किंतु नये गवेषक उसे इसका पूण श्रेय न देने के प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं।

चित्रकला—हिंदू कुशल चित्रकारो की सख्या मे वृद्धि हुई। ईरानी कला और भारतीय कला के सुदर सम्मिश्रण से एक नई शैली 'मुगल शैली' का जन्म हुआ।

उद्यान निर्माण कला—मुगलो की बडी देन उद्यान-निर्माण कला की भी रही है। मुगलो से पहले उद्यान तो थे, पर वे फलो के लिये लगाये जाते थे, केवल फूलो के लिये नही। पुष्प उद्यानो की दृष्टि से कश्मीर का शालीमार बाग, निशात बाग और लाहौर का शालीमार बाग देखते ही बनता है। इन बागों मे नहरो से जल लाकर ऊचाई से कई स्थानो पर नीचे गिराकर प्रपातों का अति मनोहर दृश्य उत्पन्न किया जाता था। फव्वारे और बारहदरियों की शोभा निराली थी। उद्यानो की इस मनोहरी सुषमा के कारण ही कश्मीर को पृथ्वी का स्वर्ग कहा जाने लगा। इत्र के अन्वेषण का श्रेय भी जहागीर की मलिका नूरजहा को है।

सगीत— भारतीय संगीत भी मुगल युग के प्रभाव से लाभान्वित हुआ। भारतीय राग, रागनियो तथा वाद्य-यन्त्रो मे वृद्धि हुई। सगीत-विशेषज्ञ के नाते अकबर के नव-रत्नों मे तानसेन भी थे।

दीने-इलाही

कुल प्रथा—दूरदर्शी बाबर अपने मरने से पहले हमायू को अपनी **वसीयत*** मे अपने नवस्थापित शासन की स्थिरता के लिये समझा गये थे कि वह भारत की

---

*"हिन्दुस्तान मे अनेक धर्मो के लोग बसते हैं। भगवान् को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम पक्षपात से काम न लेना, निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मों की भावना का ख्याल रखना। गाय को हिन्दू पवित्र मानते हैं, अतएव जहा तक हो सके, गोवध नही करवाना, और किसी भी सम्प्रदाय के पूजा के स्थान को नष्ट नही करना"।—बाबर की वसीयत।

हिन्दू जनता की प्रसन्नता-प्राप्ति का सतत प्रयत्न करते रहना अपना मुख्य कर्तव्य मानता रहे।

ऐसी ही अन्तिम शिक्षा हुमायू भी अपने अशिक्षित व अल्पवयस् बेटे अकबर के मार्ग-प्रदर्शन के लिये छोड गया। अकबर ने स्वय भी अपनी वसीयत में सहिष्णुता की नीति पर बल दिया, जिसका अनुसरण जहागीर और शाहजहां ने भी किया है। वह उन्हें कह गया था कि वे राष्ट्रीय राज्य और भारत की एकता को अक्षुण्ण बनाये रखें और हिन्दुओ के प्रति मित्र भावना भी बनाये रखें।

राजपूतो के साथ सम्बन्ध—अकबर ने राष्ट्र को सुदृढ बनाने की भावना से राजपूतो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। अकबर की इन राजपूत पत्नियो को न केवल अपने हिन्दु धर्म पर दृढ रहने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, अपितु उनके लिये राजमहलो मे ही पूजार्थ मन्दिरो की व्यवस्था कर सब प्रकार की सुविधायें भी थी। इस सहिष्णुता तथा उदारता का स्थायी सत्प्रभाव पडा।

धर्म समन्वय—यद्यपि अकबर की दीक्षा सुन्नी मत मे हुई थी, पर इसकी कट्टरता से ऊब कर वह शिया धम की ओर मुडा। कुछ दिनो तक पारसियों की अग्नि-पूजा भी चली। आगरे से राजधानी फतेहपुर सीकरी मे बदल कर सूफियो के तत्कालीन पूज्य सत सलीम चिस्ती के प्रभाव मे भी अकबर पन्द्रह साल तक रहे। वहां सब धर्मों के विद्वानो की सभाए इसी उद्देश्य से बनाये गये इबादतखाना (धर्म की चर्चा का स्थान) मे होती थी, जिनके सभापति अकबर स्वय बनते। वे जहाँ मुस्लिम औलयाओ के सम्पर्क मे आये वहाँ हिन्दू सतो (हरिदास, मीरा आदि), के दर्शनार्थ भी जाते।

वे सिक्ख गुरुओ मे भी श्रद्धा रखते थे। गोआ से ईसाई पादरी बुलवा कर उनसे अजील सुनते। जैन आचार्यों से योग के महत्त्व को जानने के लिये उत्सुक रहते। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के विद्वानो और पण्डितो के सम्पर्क मे आने से उन्हे धर्म के वास्तविक तत्त्व का बहुत कुछ ज्ञान हो गया था।

अन्ततोगत्वा उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि हर धर्म मे कुछ न कुछ सत्य अवश्य रहता है। सच्चा धर्म बाहर के रीति-रिवाजो मे न रहकर हृदय की शुद्धता मे निहित है जो शान्तिप्रद हो सकती है। अत यही अच्छा रहेगा कि सब मत-मतान्तरों के गुण लेकर धार्मिक एकता स्थापित की जाय, जो सब भेद-भाव मिटाकर राष्ट्रीय एकता मे पर्याप्त सहायक होगी। उन्हें प्रेम और उदारता के कारण जनता के हृदय को आकर्षित करने मे सफलता मिली।

दीन-ए-इलाही मत की स्थापना—ऐसे वातावरण मे अकबर ने दीने-इलाही को स्थापित किया, दीने इलाही मे सब धर्मों की विशेषताओ का समावेश किया गया। मूलत यह कोई नया धर्म नहीं था।

इससे अकबर और भी उदार होता चला गया। वह न मुस्लिम राज्य चाहता था, न हिंदु राज्य। वह भारतीय राष्ट्र चाहता था। अत उसने भारतीय राष्ट्र की नींव रखी।

सम्पूर्ण राज्य मे राजनैतिक, सामाजिक एव धार्मिक एकता लाना उसका लक्ष्य रहा। इसीलिए उसने तीर्थयात्रा-कर जजिया समाप्त कर दिये। गोहत्या भी बन्द करा दी। दीन-ए इलाही मे पुरोहितों की आवश्यकता न रही। इसमे रहस्यवाद दर्शन तथा प्रकृति पूजा के भी सिद्धान्त थे।

दीन-ए-इलाही के सिद्धान्त—१ इस जगत् मे ईश्वर एक है, और अकबर दीने इलाही का प्रवर्तक है। किसी देवता या पैगम्बर की कोई आवश्यकता नही।

२ पशुहिंसा को पाप समझो। मास भक्षण से परहेज होना चाहिए।
३ अन्ध-विश्वास की जगह बुद्धि का उपयोग उचित है।
४ सूय और अग्नि पूजा नित्य प्रति करनी चाहिए।
५ सब धर्मों के प्रति आदर का भाव बनाये रखना।
६ मुर्दो को दफन करना।

उद्देश्य राष्ट्र-निर्माता राजनीतिज्ञ अकबर का उद्देश्य समस्त प्रजा को केवल एक राष्ट्रीय धम के झण्डे तले लाना था। परन्तु बादशाह होते हुए भी अकबर ने किसी दरबारी पर भी अपने प्रभाव का दुरुपयोग करके जबरन यह मत मनवाने की चेष्टा नहीं की। बादशाह के इस मत का बीरबल अनुयायी हो गया, किन्तु राजा भगवानदास, दीवान टोडरमल, राजा मानसिंह आदि ने इसे स्वीकार नही किया था। अकबर को धमगुरु बनने की इच्छा नही थी। वह कहा करता था—मैं क्योकर लोगो को सच्चे रास्ते पर चलाने वाले एक नेता होने का दावा करूं, जबकि मुझे स्वय ही एक मागदर्शक की आवश्यकता है।

दीने-इलाही एक राजनीतिक आवश्यकता थी, जिसके द्वारा अकबर ने हिन्दु मुस्लिमो को एक प्रेमसूत्र मे बाधने का सत्प्रयत्न किया था। इस धर्म से वे पहले पडे घावो पर मरहम-पट्टी करना चाहते थे।

परिणाम—(१) हिन्दु-मुस्लिम के पुराने वैर-भाव की लगभग समाप्ति हो चली।

(२) हिन्दू शताब्दियो बाद आश्वस्त हुए।
(३) पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ी।
(४) इससे राज्य को शक्ति प्राप्त हुई और मुगल राज्य की नीव पक्की पड गयी।

पर सब कुछ होते हुए भी अकबर की मृत्यु के साथ ही दीने इलाही भी समाप्त हो गया। यद्यपि इसका कोई स्थिर प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता, तो भी उस युग की धार्मिक प्रवृत्तियो के दर्शन तो इसमे होते ही हैं।

दारा शिकोह—शाहजहाँ के सबसे बडे बेटे दाराशिकोह अपने समय के महान विद्वानो मे से थे। इस शाहजादे ने सूफियो के कादरिया सम्प्रदाय मे दीक्षा ली थी। इनके विचार मे वेदान्त पर मनुष्य-मात्र का अधिकार है। यह ज्ञान का द्वार सबके लिए खुला है।

ये अरबी, फारसी, सस्कृत तथा हिन्दी के पण्डित थे, तभी तो 'मजमा-उल्-बहरीन (समुद्र-सगम) आदि कई ग्रथो की रचना कर सके। दारा शिकोह ने शकर-भाष्य, गीता, योगवासिष्ठ तथा प्रबोध-चन्द्रोदय का अनुवाद करके वेदान्त का महत्त्व बढाया। खेद की बात यह रही कि औरगजेब के द्वारा इनकी रचनाओ के प्रसार की मनाही कर दी गयी।

इनका सूफी सन्तो के साथ साथ कई हिन्दू-सन्तो से भी सम्पर्क रहा। जैसे अलवर के श्री चरणदास और सरहिंद का बाबू लाला।

दारा की विद्वत्ता तथा उदारता ही उस के लिये घातक बनी। औरगजेब ने जब अपने पिता को कैद मे डाला तो इसकी भी हत्या करा दी। औरगजेब के भय से किसी ने भी इस अभागे राजकुमार को शरण देने का साहस न किया।

अध्याय १५

भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रमुख संरक्षक

सिक्खो का उत्थान

प्रवर्तक—मुगल-साम्राज्य के समय भारतीय सस्कृति की रक्षा के लिए, भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में, भक्ति की धारा प्रवाहित हुई, पजाब मे उसे चलाने का श्रेय श्री गुरु नानक को है। आपने अपनी तपस्या, भक्ति और ज्ञान के प्रभाव से भारतीय सस्कृति का सिक्का काबुल, ईरान, ईराक, अरब तथा दूसरे देशों मे भी जमाया। श्री गुरु नानक देव ने कोई नया धर्म चलाने की कभी इच्छा नही की थी, अपितु वे तो भारतीय वेदान्त और ईरानी तसव्वुफ (सूफीवाद) से प्रभावित होकर पहले से चले आ रहे हिन्दू-मुस्लिम धर्मों मे मेल पैदा कर, एक करना चाहते थे। उन्होंने अकेले अपनी शिक्षाओ तक सिक्ख धर्म को सीमित नही रखा, वरन् उसका और आगे विकास गुरु अगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन देव, गुरु हरिगोविन्द, गुरु हरिराय, गुरु हरिकिशन, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह द्वारा हुआ * जिनके प्रकाश ने दो सौ साल से अधिक काल तक जनता का मार्ग प्रदर्शन किया। इन हृदय-प्रधान सतो ने भोली जनता के लिये धम के गूढ रहस्यों को उनकी अपनी भाषा मे सीधे-सादे शब्दो मे रखा।

शिष्य—इनके चेलो के लिए 'शिष्य' शब्द का प्रयोग होने लगा जिसका केवल 'सिक्ख' रूप रह गया। इन लोगो मे नम्रता कूट कूट कर भरी थी। ये सब उत्साही, शील-सम्पन्न और भावुक तो होते हैं, इनका हृदय भगवन्नाम मे और तन सेवा मे लीन रहता है।

---

* कहा जाता है कि गुरु नानक की ज्योति क्रमश इन गुरुओ मे प्रकट होती गई।

सिद्धान्त—ईश्वर की कल्पना 'अकाल पुरुष' मे की गयी, जो सृष्टि के कण-कण में रमा हुआ है। माया सहित वेदान्त को ही आधार माना गया और जीव को ब्रह्म का अश । कर्म और पुनर्जन्म मे आस्था पर बल दिया गया। गुरु-परम्परा, नामजप ध्यान, समाधि को महत्त्व दिया गया। सस्कारवाद, देवतावाद व जातिवाद की उपेक्षा की गई।

लक्ष्य—(क) पूर्ण शरणागति और गुरु पर आस्था की मान्यता।
(ख) मद्य-निषेध पर बल
(ग) मोक्ष-प्राप्ति की स्वीकृति।

धर्म-ग्रन्थ—श्री गुरु-ग्रथ साहिब मे प्रथम पाँच गुरुओ की वाणियो का सकलन श्री गुरु अर्जुन जी द्वारा हुआ। इनके अतिरिक्त नवें पादशाही गुरु तेगबहादुर के पद और दशम-पादशाही श्री गुरु गोविन्द सिंह जी का भी एक दोहा है। बडे-बडे सन्तो, बाबा फरीद, कबीर, रविदास, जयदेव आदि की वाणिया बेजोड हैं।

गुरु-वाणी मे हिन्दू-धर्म के ही मुख्य-मुख्य अगो का प्रतिपादन किया गया है जिनमे से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

ओंकार महिमा—श्री गुरु ग्रथ-साहिब का आरम्भ ही ओकार से होता है जैसे—इक ओकार, सतनाम-कर्त्ता-पुरुष इत्यादि। यथा

हरि जू सदा ध्याए तू गुरु मुख एक ओंकार।
ओकार ब्रह्म-उत्पत, ओकार वेद निर्माए ॥
ओकार अक्खर सुनहु विचार, ओम्-अक्खर त्रिभुवन सार।
प्रणवो आदि एक ओकारा, जल थल महि थल किया पसारा ॥

अवतारवाद—दशम-ग्रथ मे श्री गोविन्द सिंह जी के मुखारविन्द से नि सृत शब्द —

जब जब होत अरिष्ट अपारा। तब तब देह धरत करतारा ॥

वेदान्त—
ईश जीव मे भेद न जानो
साधु, चोर सब ब्रह्म पहचानो
वासुदेव बिन अवर न कोई
नानक ओ सोऽह आतम सोई।

राम-नाम-महिमा—सिक्ख सम्प्रदाय की नीव ही राम-नाम है। गुरु ग्रथ साहिब मे स्थान-स्थान पर राम-नाम की महिमा लिखी है। राम तो गुरु नानक के पूर्वज हैं। गुरु नानक अपनी वशावली का उल्लेख इस प्रकार करते है —

सूरजवशी रघु भया रघुकुल-वशी राम
रामचन्द्र के दोउ सुत लउ कुश तेहि नाम।

यह हमारे वड़े हैं—युगा युगा अवतार सग
सखा सव तज गए कोउ न निवहू साथ
कहि नानक इस विपत में टेक एक रघुनाथ
राम-नाम महामत्र—न ओ मरे न ठगे जाहि,
जिनके राम बसे मन माँहि ।
नानक दुखिया सब ससारा—सुखिया केवल नाम अधारा ।

कृष्ण महिमा— एक कृष्ण सव देवा, देव देवात आत्म
आत्म श्री वासुदेवाय, जे को जानस भेद ।
नानक ताका दास है, सोई निरजन देव
आपे गोपी आपे कान्हा, आपे गऊ चरखावै वाना ॥

भगवती महिमा —नमो जोग जोगेश्वरी जोगमाया

गौ-महिमा— ब्राह्मण गौ वश घात अपराध करारि ।

ग्रथ साहिब की लिपि—हिन्दी की देवनागरी लिपि पर ही आधारित गुरु-मुखी लिपि श्री गुरु अगद जी ने चलाई । गुरु नानक के अनमोल वचनों को सबसे प्रथम इन्होंने ही लेखबद्ध किया ।

श्री गुरु नानक के सरल उपदेशो को सब जाति वालो ने सहर्ष ग्रहण किया । इन शिष्यों मे समानता की भावना पर उत्पन्न करने के लिये श्री अमरदास जी ने लगर-प्रथा प्रारम्भ की जिसमे सब छोटे-वड़े जाति-भेद मिटा कर एक ही पक्ति मे वैठ कर भोजन करते थे ।

मुख्य तीर्थ—अमृतसर—यह अमृत का तालाब श्री गुरु रामदास जी ने वन-वाया जिसके चारो ओर अमृतसर का नगर वस गया । उनकी प्रवल प्रेरणा और उस समय की जनता के सहयोग से इसमें अति सुन्दर आकर्षक एक स्वर्ण-मन्दिर वनाया गया ।

सामरिकता की ओर मोड़—वावर, हुमायू और अकवर के साथ तो सिक्ख गुरुओं के सम्वन्ध अच्छे रहे, पर जहाँगीर ने गुरु अर्जुन देव को अपने वड़े बेटे खुसरो की सहायता करने के अपराध मे दरवार मे बुलाया और अमानुषिक अत्याचार कर उन्हें मार डाला । जनता इसे कैसे सहन करती ? गुरु हरगोविन्द जी ने विवश होकर अपनी शान्तिमयी भक्ति को धर्म की रक्षा के लिए शक्ति का रूप देने की दृढ प्रतिज्ञा कर ली । उन्होंने 'सच्चे वादशाह' की उपाधि ग्रहण कर सव राजसी ठाट अपनाये । वे 'अकाल तख्त' पर वैठ कर राजकीय चिह्न धारण कर सैनिक पहरावे मे शासन करने लगे । उनके दरवार मे जो 'अर्जदाश्त' पेश

होती थी उसको आज 'अरदास' के रूप मे पाते हैं। उन्होंने सशस्त्र सेना को सगठित किया। भेंट के रूप में शस्त्र-अस्त्र स्वीकार करने लग गये।

गुरु तेगबहादुर का बलिदान—अब औरगजेब द्वारा धर्म-परिवर्तन का चक्र जोरो से चला तो पीडित लोग गुरु जी के पास फरियाद लेकर पहुचे। गुरु जी ने कहा—किसी महापुरुप के बलिदान के बिना, हिन्दू-धर्म की रक्षा असम्भव है। बहादुर-बाप के बहादुर-बेटे श्री गुरु गोविन्द जी के मुख से तत्काल स्वभावत निकल गया – पिता जी, तो आप से बढ़कर दूसरा महापुरुप कौन होगा ? उन्होने तुरन्त ही बलिदान की राह निकाल ली। औरगजेब ने उन से धर्म परिवर्तन के लिए कहा। उनके अस्वीकार करने पर औरगजेब ने उनका शीश धड से अलग कर दिया। दिल्ली चादनी-चौक मे स्थित शीशगज आज भी उनकी वीरगति की अमर गाथा गा रहा है।

दसवें तथा अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह—सिक्ख गुरु-परम्परा मे आपका विशिष्ट स्थान है। गुरु नानक की ज्योति का प्रकाश एव अर्जुनदेव जी की राजवृत्ति के विकसित रूप का सम्मिलन है। आप एक परम तेजस्वी सत, साहित्य-प्रेमी, साहित्य-स्रष्टा और राजनीतिज्ञ तथा वीरो मे शिरोमणि थे।

आपका जन्म-स्थान पटना था। पटना-नरेश के यहा आपका पालन पोपण हुआ। आपने सस्कृत और फारसी का अध्ययन किया। बाल्यावस्था से ही सेना बनाकर युद्ध करना आपके खेल रहे, आपने सिक्ख शिष्यो को भी सैनिक वेप देकर सम्प्रदाय मे दीक्षित किया। आपकी एकमात्र सुप्रसिद्ध रचना दशम-ग्रथ है, जिसमे जपजी, (विष्णु-सहस्रनाम की पद्धति पर), चौबीस अवतार, चण्डी-चरित (दुर्गा-सप्तशती का अनुवाद), आदि-आदि रचनाओं का सकलन है।

खालसा की स्थापना—गुरु गोविन्द सिंह जी ने हिन्दू-धर्म तथा गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिए अपनी सैनिक शक्ति बढाई थी। वे भगवती काली से इस प्रकार प्रार्थना करते थे—

सकल जगत मे खालसा पथ गाजे।
जगैह धर्म हिन्दुन सकल धुन्ध बाजे।

आनन्दपुर मे १६९९ ई० की वैशाख को सक्रान्ति के पुण्य-पर्व पर महा-सम्मेलन मे गुरु गोविन्द सिंह "सिंह" के समान गरजे—जो मेरी तलवार से बलिदान होना चाहता है, मेरे मच पर आ जाये। एक बार तो सब चकित रह गये। जान हथेली पर रख कर सहर्प एक-एक करके पाच वीर शहीद होने को भिन्न-भिन्न जातियो तथा प्रदेशो का प्रतिनिधित्व करते आगे बढे। ये थे—

(१) लाहौर के दयाराम खत्री (दया सिंह)
(२) दिल्ली के धन्ना जाट (धर्म सिंह)

(३) जगन्नाथ पुरी के हिमना वहिश्ती (हिम्मत सिंह)
(४) बिदर के साहब राम नापित (साहिब सिंह)
(५) द्वारिका के मोहकन चन्द छेबा (मोहकम सिंह)

इन्ही पान्च-प्यारों से खालिस, शुद्ध खालसा-पथ की नींव रखी गयी। इन्ही को गुरुदेव ने अपनी तलवार धोकर अमृत पान कराकर 'सिंह' बनाया और उनमे एक-एक को सवा लाख से अकेले युद्ध कर सकने की शक्ति की दृढ भावना का सचार किया।

प्रत्येक स्थिति का सामना करने को सदा तैयार रहने के लिए, सिक्खों को पाँच कक्के प्रदान किये—

(१) केश—(जिसे सभी गुरु तथा ऋषि, मुनि, धारण करते आये थे।)
(२) कंघा—(केशो को साफ रखने के लिये)
(३) कच्छा—(स्फूर्ति के लिये जैसे आजकल की निकर)
(४) कड़ा—(नियम तथा संयम मे रहने की चेतावनी देते रहने के लिये)
(५) कृपाण—(आत्म-रक्षा के लिये)

इस प्रकार सिक्ख सम्प्रदाय को सैनिक रूप देने के यज्ञ को जिसे गुरु गोविन्द सिंह जी ने प्रारम्भ किया था, और जिसके कुण्ड मे त्यागमूर्ति गुरु तेगबहादुरजी ने अपनी वलि दी थी, पूर्णाहुति श्री गोविन्दसिंह जी ने दी।

मुगलो ने भी खालसा को नष्ट-भ्रष्ट करने मे पूरा जोर लगा दिया। गुरुदेव सुरक्षार्थ पजाव की पहाड़ियो मे चले जाते। इनके दो वीर पुत्र जोरावर सिंह और फतेह सिंह जो क्रमश नौ और सात वप के वालक मात्र थे पकड़े गए और दीवार मे जीवित ही चुनवा दिये गये क्योकि उन्होने हिन्दू-धर्म न छोड़ा था। वड़े दो पुत्र अजीतसिंह और जुम्मारसिंह चमकौर के युद्ध मे वीर गति प्राप्त कर गये। दूरदर्शी गुरु गोविन्दसिंह जी यह निश्चित कर गये थे कि उनके वाद भविष्य मे गुरु ग्रन्थ साहिव ही गुरु माने जाते रहे और इन्ही से प्रेरणा ली जाया करे। इस प्रकार देहधारी गुरु की परम्परा को वन्द कर दिया गया। इनके सम्वन्ध मे विद्वान गार्डनर यो लिखता है—

गुरु जी ने जनता के हृदय मे वीरता की भावना प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित की। आप केवल धार्मिक नेता ही नहीं थे, अपितु आप में एक राजनीतिज्ञ एव योद्धा के सम्पूण लक्षण विद्यमान थे।

हिन्दू-सिक्ख एकता—गुरु नानक देव जी ने इस्लाम से अच्छे सम्वन्ध स्थापित करने के लिये जिस धर्म को जन्म दिया था, गुरु गोविन्द सिंह जी ने उसे

ही इस्लाम के अत्याचारो से बचाने के लिये हिन्दुत्व की ढाल मे बदलकर देश और भारतीय सस्कृति का रक्षक बनाया। तभी तो कई वर्षों से सुनते आये हैं कि अगर न होते गुरु गोविन्द सिंह, हिन्दू धर्म का होता नाश। सिक्ख सम्प्रदाय आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व अपने आप को सारे भारत की स्थायी सेना समझता था। हिन्दू उन्हें अपने हृदय से दायी भुजा का आदर देते थे। प्रत्येक परिवार का बडा पुत्र इस सेना मे दे दिया जाता था। विदेशियो की नीति मे फँस तथा राजसत्ता के लोभ से कुछ सिक्ख भाई अपने आपको हिन्दुओ से पृथक् मानने लगे। परन्तु परस्पर विवाह आदि का प्रचलन अब भी है जो इस उक्ति को चरितार्थ करता है—हिन्दू सिक्ख एक हैं।

समर्थ रामदास और शिवाजी

जन्म तथा बाल्यकाल—महाराष्ट्र मे भारती जिले के जाम्ब ग्राम में श्री सूर्य जी पन्त एव राणुबाई की दूसरी सन्तान के रूप मे १६०८ ई० मे बालक नारायण का जन्म हुआ। बालक नारायण की समाधि ४-५ साल की आयु से लगनी शुरू हो गयी थी। यदि कभी माता पूछ लेती तो उत्तर देते कि लोक-हितार्थ ध्यान-मग्न हो गया था।

महाराष्ट्र-प्रथा के अनुसार लोकाचार से बारह साल की आयु मे जब यह विवाह-मण्डप में बैठे थे, ब्राह्मणो ने 'सावधान' कहना ही था कि यह अनोखा बालक सचमुच सावधान होकर वेदी छोड भाग गया। वे ऐसे चम्पत हुए कि १२ साल तक कहीं पता ही न चल पाया। पचवटी के पास किसी गुफा मे चले गये थे। वहा त्रयोदशाक्षर मन्त्र श्री राम जय राम जय जय राम का अनुष्ठान करके उन्होंने सिद्धि प्राप्त की।

तीर्थ यात्रा तथा मठ-स्थापना—१२ साल की कठोर तपस्या के उपरान्त आपने भारत के समस्त तीर्थों, कन्याकुमारी से कश्मीर तक की यात्रा पूरी कर ली। उनका उद्देश्य हिन्दू धर्म का प्रचार करना तथा अखिल भारत मे हिंदू राज्य स्थापित करना था।

इसी यात्रा के बीच इन्होने मठ स्थापित किये जिनमे १८ मठ मुख्य हैं। इनकी विशेपता यह थी कि ये केवल निवृत्ति मार्ग को नहीं अपनाते थे। ये मठ सुदृढ़ गढ थे जहाँ श्री मारुति के परायण, धर्म प्रेमी, स्वस्थ, सबल उपासक रहते थे जो अत्याचार पीडितो की रक्षा करने मे भली प्रकार सक्षम थे। यह उनकी सगठन तथा देश प्रेम का उज्ज्वल प्रमाण था।

रामदास जी ने २४ वर्ष की अनुपस्थिति के पश्चात् अपनी व्याकुल जननी के पास जाकर सान्त्वना दे मातृ भक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया।

राम प्रेम—कहते हैं कि ब्राह्मण रूप मे विट्ठल भगवान् स्वय इनको पढरपुर के विख्यात मन्दिर मे ले गये जहाँ इनको विट्ठल भगवान् ने राम रूप मे दशन दिये। इनके यह पूछने पर कि श्री सीताजी और लक्ष्मण को कहा छोड आये ? तुरन्त श्रीराम जी ने श्री सीता जी व श्रीलक्ष्मण जी सहित दर्शन दिये। इनको सब प्राणियो मे एक ही ज्योति के दर्शन होते थे। इनका भक्त तुकाराम जी से भी मिलन होता था। आपकी रचनाओ मे दासबोध ग्रथ बहुत प्रख्यात है।

शिवाजी को दीक्षा—शिवाजी महाराज को आपके दर्शनो का सौभाग्य शिंगवाडी (सिंहानी) के स्थान पर प्राप्त हुआ। बडी तलाश के बाद शिवाजी की यह चिरकाल की आकाक्षा पूरी हुई। श्री समर्थ जी को उन्होंने गुरु रूप से वरण कर लिया। शिवाजी बाद में कई बार इनके दर्शनार्थ आते रहे।

एक दिन करज गाव से श्री समर्थ पैदल ही शिवाजी की राजधानी सतारे के राजद्वार पर पहुँचे और श्रीरघुवीर समर्थ का उच्च घोष करके भिक्षा के लिये झोली आगे कर दी। तुरन्त महाराज शिवाजी ने एक पत्र झोली में डाला जिस पर लिखा था "आज तक जो कुछ भी मैंने अर्जित किया है सब स्वामी के श्रीचरणों मे अर्पित है।" सचमुच दूसरे ही दिन वे भिक्षा माँगने श्री समथ के पीछे चल पडे। पर उन्होने समझाया कि राज्य से उनको क्या प्रयोजन ? राज्य करना तो शिवाजी का धम है। इस प्रकार उनके हठ करने पर अन्त मे स्वीकृति देते हुए श्री समर्थ जी ने कहा कि उनकी ओर से राजकार्य शिवाजी ही चलाते रहें। तभी से शिवाजी ने अपना राजध्वज गेरुवे रग का रखा। तबसे शिवाजी सदा अपने को सेवक ही मानते रहे, राजा नहीं। उन्होंने **शठे प्रति शाठ्यम्** की शिक्षा शिवाजी को देकर सावधान कर दिया जिससे दुष्ट इनकी धम परायणता का दुरुपयोग न करने पायें। उनकी ही शिक्षा का प्रताप था कि शिवाजी ने आक्रमणकारियो की किसी बहू बेटी की ओर आँख नही उठाई, न उनकी मस्जिद या धर्म-ग्रथ कुरान शरीफ का अपमान होने दिया। उनके आशीर्वाद रूप मे ही वे दिल्ली के किले से निकल कर उनके द्वारा स्थापित मठो के सगठन का लाभ उठाते सकुशल घर पहुँचे।

अन्त समय आने पर समथ गुरु रामदासजी ने अपने इष्ट श्रीराम जी की मूर्ति के सामने आसन लगाकर २१ बार 'हर-हर' का उच्चारण करके ज्यो ही 'राम' कहा त्यो ही उनके मुख से एक ज्योति निकल कर श्रीरामचन्द्रजी की मूर्ति मे समा गयी।

ऐसे समय गुरु की निर्लेपता की जितनी सराहना की जाय उतनी ही कम है। उन्होंने जहाँ दुष्टो को नाश करने पर बल दिया वहाँ सावधान भी कर दिया कि इस लोक-सग्रह के पवित्र कार्य में अहकार लेश मात्र न आने पाये और अपने को केवल निमित्त मात्र ही समझें। देश को ऐसी ही महान् आत्माएँ ऊँचा उठा सकती हैं।

छत्रपति शिवाजी

(१६३०-८०)

महाराष्ट्र मे जागृति — सोलहवी शती के भक्ति-आन्दोलन ने महाराष्ट्र को एक नवीन जीवन प्रदान किया। सन्त एकनाथ, सन्त तुकाराम तथा समर्थ गुरु राम दास जी के भक्ति प्रचार से धर्म के प्रति निष्ठा दृढ होती चली। उधर शासको के देश, धर्म, गायो, ब्राह्मणो, मन्दिरो, सती नारियो तथा असहाय जनता पर अत्याचार करने से देश मे उसके विरुद्ध भावना एव देश-रक्षा का जोश उमड उठा। नेता की कमी दैवयोग से शिवाजी के रूप मे पूरी हो गयी। मराठो की इस चेतना को प्रदेश की भौगोलिक अवस्था से सहायता मिली तथा उनकी वीर भावना से इस जागृति को और बल मिला। वे मुगल-साम्राज्य से लोहा ले सके।

जीवन-गाथा—महारानी जीजाबाई की कुक्षि से शिवाजी का जन्म हुआ। जन्म से शूर शिवाजी मावली बालको के साथ उनकी टुकडिया बनाकर युद्ध के खेल ही खेला करते थे। अत्यन्त धार्मिक तथा तेजस्विनी वीर माता ने पुराणो, रामायण तथा महाभारत की वीर-गाथाओ से होनहार बालक मे वीर भावनायें भर दी थी। युवावस्था के प्रारम्भ से ही उन्होने अपने लडकपन के मावली शूरों का नेतृत्व सम्हाला। धर्म, राष्ट्र एव सस्कृति की रक्षा के लिये "भवानी" (शिवाजी की तलवार) की शरण ली। उनके प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ, ब्राह्मण-शिक्षक ने भी उनको सर्व-कला-सम्पन्न बनाने मे कोई कसर न उठा रखी, पर शिवाजी के जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव समर्थ गुरु रामदास का था। समर्थ गुरु रामदास इनके द्वारा देश को स्वतन्त्र कराने की प्रबल इच्छा रखते थे। राज्य तो शिवाजी ने कभी अपना न समझा, क्योकि उसे तो उन्होने समर्थ जी को भेंट कर दिया था। समर्थ के राज्य की प्रतीक वह गैरिक ध्वजा थी। बस, अब सदियो बाद मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने की धुन सवार हो गयी। धीरे-धीरे अफजल खान को मारकर, शाइस्ता खान को भगाकर, बीजापुर के नवाब को सधि करने पर विवश कर लिया। अपनी चतुरता से औरगजेब की कैद से भाग निकले, तो मुगल बादशाह स्वय आकर वर्षों तक दक्षिण मे डेरे डाले रहे, पर सफल न हो सके। बादशाह का कथन था "मेरा शत्रु महान् सेनानी है। मैंने उन्नीस साल तक उसके विरुद्ध युद्ध का सचालन किया, परन्तु उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढती ही गयी।"

शिवाजी का चरित्र—शिवाजी सदाचार तथा सच्चरित्रता की मूर्ति थे। वह जीवन भर एक आदर्श मानव रहे। उनके दर्शनो से ही लोगो की श्रद्धा उनमे हो जाती थी। वे दानी तथा कठोर शासक थे। ऐसे सेनापति थे जिसके चरण

सफलता सदैव चूमती रही। रण-भूमि उनके लिए मनोरंजन मात्र थी। उनके साहस तथा निर्भीकता की सराहना शत्रु भी करते नहीं थकते। वे राष्ट्र-निर्माता, राजनीतिज्ञ तथा सफल प्रशासक रहे।

धार्मिकता—इस मातृभक्त की दुर्गा-भवानी मे पूर्ण निष्ठा थी। कट्टर हिन्दू होते हुए भी संकीणता उन्हे छू तक न पायी। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता तथा उदारता के वे आदर्श रहे, जिस पर आज भी देश भर को गौरव है। सफीखान लिखते हैं—"शिवाजी ने कभी किसी मस्जिद, कुरान शरीफ अथवा किसी भी धर्म को मानने वाली स्त्री को हानि नही पहुँचाई। यदि उनके हाथ कोई कुरान की प्रति लग जाती तो वे उसे तुरन्त आदरपूर्वक किसी मुसलमान को दे देते। हिन्दुओ के सामने तो '**परदारेषु मातृवत्**' का आदर्श सदा से रहता आया है। शिवाजी महाराज के सामने जब एक सर्वांग सुन्दरी मुस्लिम महिला पकड़कर लायी गयी तो देखते ही वे बोले—माता ! यदि मेरा जन्म तेरे गर्भ से हुआ होता, तो मैं भी कितना सुन्दर होता। तुरन्त उस महिला को आदरपूर्वक डोली मे बिठाकर कुछ भेंट देकर पति के पास पहुँचवा दिया। शिवाजी की असम्प्रदायिकता तथा धर्मनिरपेक्षता सराहनीय है।

शिवाजी की देन—मराठो को सगठित करके इतने उच्च स्तर पर पहुँचाने का श्रेय तो उनको है ही, पर साथ-साथ वे साधारण स्तर से उठकर अपने को महाराजा बनाने से सभी मनुष्यो को सदा प्रगतिशील रहने की सतत प्रेरणा देते ही रहेंगे।

उनकी सबसे बडी देन 'अष्ट प्रधान' की रही जिसे हम आजकल की कैबिनेट के रूप मे देखते हैं। एक प्रजाहितकारी शासन की नींव उस गये-गुजरे समय मे उन्होंने रखी।

'अष्ट प्रधान' के आठो सदस्यो ने राज्य-विभाग बाट रखे थे। इन मन्त्रियो के पद इस प्रकार थे—

(१) अमात्य—वित्त मन्त्री।
(२) मन्त्री—राज्य कुटुम्ब तथा राज्य दरबार की देखरेख करने वाले।
(३) सुमन्त—विदेश मन्त्री।
(४) सचिव—सरकारी पत्रव्यवहार करने वाले।
(५) दानाध्यक्ष—राजपण्डित और धार्मिक कामो की देखरेख करने वाले।
(६) सेनापति
(७) न्यायाधीश
(८) पेशवा—प्रधान मन्त्री।

उपर्युक्त सभी कार्यो का निरीक्षण पेशवा ही करते थे।

ईसाई धर्म

यहूदी धर्म के पैगम्बर अब्राहम के बडे बेटे दिव्यात्मा इसहाक के कुल मे दिव्यात्मा मूसा तथा दिव्यात्मा दाऊद तो हुए ही साथ ही दिव्यात्मा ईसा का जन्म भी इसी कुल मे हुआ। उस समय यहूदी धर्म की दशा शोचनीय हो रही थी। यहूदियो का ध्यान यज्ञो मे उलझ चुका था। अति हो जाने से हिंसा के प्रति चिन्तक ऊब चुके थे। प्रतिक्रिया स्वरूप किंकर्त्तव्यविमूढ जनता के मार्ग प्रदर्शन को दयालु दिव्यात्मा ईसा आये। उन्होंने अपने जन्म के लिए कोई राजकुल न चुना वरन् फिलस्तीन प्रदेश के साधारण घराने की पुण्यात्मा कुमारी मेरी को माता के रूप में अपनाया, जिनकी सगाई निर्धन जोसफ से हो चुकी थी। इससे सिद्ध हो जाता है दिव्य भावना तथा सत्यता, सदैव नम्रता, शुद्ध-हृदयता, दीनता तथा निरभिमानता मे निहित है। इस प्रकार एक यहूदी प्रचारक आ जाने से एक बार तो यहूदियो में प्रसन्नता की लहर दौड गई और उन्हे आशा बधी कि शीघ्र ही रोमन शासको से मुक्ति मिल जायेगी।

सोलह साल के अज्ञातवास के बाद जब तीस-वर्षीय ईसा ने मानव-मात्र के कल्याण के लिए अहिंसा का प्रचार आरम्भ किया तो रोमन-शासको के विरुद्ध विद्रोह करने मे ईसा को निमित्त बनाने की यहूदियो की आशा पर पानी फिर गया। उधर उन्ही शासकों ने ईसा को कैद करके, उन्हें अपराधी करार देकर, सूली पर चढा दिया, तब भी दयालु ईसा ईश्वर से यही प्रार्थना करते रहे कि उन अधिकारियों को क्षमा कर दिया जाये, क्योकि उनको ज्ञान ही नही है वे क्या अनर्थ कर रहे हैं ? इस प्रकार अन्त हुआ प्रभु के उस महान् तत्त्वज्ञ, शिक्षक, सुधारक बेटे का।

दिव्यात्मा ईसा के वचन तथा कर्म दिव्य थे। सेंट पीटर के शब्दो मे अपनी थोडी आयु में वे सदैव भलाई ही करते रहे। दुखियो के कष्ट निवारण करने मे ही रत रहे। उस प्रेम-मूर्ति के अमृत भरे अनमोल वचन यही रहे कि मनुष्य मात्र के साथ प्रेम करो। घृणा तथा वैर को प्रेम से जीतो। सर्वोपरि जो कुछ भी उन्होंने उपदेश दिया उसे पहिले अपने जीवन मे उतार लिया। उन मे अहकार तो लेशमात्र को भी न था। वे तो यन्त्री के हाथ मे केवल यन्त्र मात्र बनकर रह गये।

उनके उपदेशो का सार दो बातो मे आ जाता है यथा—भगवान् का मनुष्य से असीम प्रेम है। मनुष्य को उस अथाह प्रेम को पचाने के लिए यत्न करना चाहिये।

सेंट पाल के शब्दो मे प्रेम देना जानता है लेना नहीं। यह धैर्य और दया

से पूर्ण होता है। सच्चा प्रेमी कभी किसी से ईर्ष्या नही रखता। वह प्रेम का अभिमान भी नहीं करता है।। प्रेमी कभी उद्विग्न नही होता।

पूण सरल गीत की भावना ही उनके जीवन का आधार बनी रही। उनके क्रास का सदा के लिये ईसाइयत मे उच्च स्थान बना रहेगा। यह आत्म विजय और आत्म-बलिदान का प्रतीक है। इसके अमल करने का अधिकार केवल उनको है जिन्होंने अपने आसुरी भाव पर पूण विजय प्राप्त कर ली हो।

पवत पर दिये गये उनके उपदेश महत्त्वपूण हैं। उसका वर्णन इस प्रकार है—

श्रद्धालुओ की भारी भीड देखकर ईसा पवत पर चढ गये। वहां ईसा ने अपने शिष्यो को इन शब्दो में उपदेश दिया।

धन्य वचन—

धन्य हैं वे, जो दीनात्मा हैं, क्योकि स्वग-राज्य उनका है।
धन्य हैं वे, जो शोक करते हैं, क्योकि उन्हें सान्त्वना प्राप्त होगी।
धन्य हैं वे जो विनम्र हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे।
धन्य हैं वे, जो धार्मिकता के भूखे और प्यासे हैं क्योकि वे तृप्त होंगे।
धन्य हैं वे, जो दयावान हैं, क्योकि उन पर दया होगी।
धन्य हैं वे, जिनके अन्त करण निमल हैं, क्योंकि वे परमेश्वर को देखेंगे।
धन्य हैं जो शान्ति-स्थापक हैं, क्योंकि वे परमेश्वर के पुत्र कहलायेंगे।
धन्य हैं वे, जो धर्म के कारण सताये जाते हैं, क्योकि स्वर्ग राज्य उनका है।
धन्य हो तुम, जब मनुष्य मेरे कारण तुम्हे बुरा-भला कहें, तुमको सतायें और झूठ बोल कर तुम्हारे विरुद्ध सब प्रकार की बुरी बातें कहे।

तुम प्रफुल्लित रहो और आनन्द मनाओ, क्योंकि स्वर्ग में तुम्हारे लिये बडा फल है, तुमसे पूर्व भी इसी प्रकार दिव्य-सदेश-वाहको को उन्होंने सताया था।

प्रतिकार—दुष्ट का विरोध मत करो, वरन् जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड मारे, उसके सम्मुख दूसरा गाल भी कर दो।

प्रेम—अपने पड़ोसियो से प्रेम करना तुमने सुन ही रखा है, किन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने शत्रुओ से भी प्रेम करो।

गुप्तदान—जब तुम दान दो, तो तुम्हारा बाँया हाथ भी न जान पाये कि दाहिना हाथ क्या कर रहा है।

अपराध क्षमा—यदि तुम मनुष्यो के अपराध क्षमा करोगे तो तुम्हारे स्वर्गिक पिता, तुम्हे क्षमा करेंगे।

दो स्वामियो की सेवा असम्भव—तुम परमेश्वर और धन, दोनो की सेवा एक साथ नही कर सकते।

निश्चिन्तता—कल की चिन्ता मत करो।

घृणा—पाप से घृणा करो, पापी से नही।

स्वर्ण नियम—जैसा व्यवहार तुम अपने प्रति मनुष्यो द्वारा चाहते हो वैसा ही व्यवहार तुम भी उनके साथ करो।

इस प्रकार इस धर्म ने अहिंसा पर बल देकर जीवो पर दया करनी सिखायी, सबके साथ मैत्री और प्रेम का व्यवहार करने का पाठ पढाया। अपरिग्रह, त्यागमय जीवन तथा साधना और त्याग को महत्त्व दिया गया। ईसा हृदय का परिवर्तन चाहते थे।

ईसाई मत का प्रसार—इस मत का जन्म एशिया के पश्चिमी तट पर हुआ धीरे-धीरे सारे योरुप मे इसका प्रसार हो गया, क्योकि रोमन सम्राटो ने भी इसे स्वीकार कर लिया था, किन्तु वहाँ एक मौलिकता से हटकर सासारिकता की ओर मुड़ता ही चला गया। ईसाई सन्तों ने इसके प्रचार मे कोई भी कसर न उठा रखी। दूर-दूर तक यह धर्म उनके सतत प्रयत्नो से पश्चिम पूर्व दोनो ओर चला।

धर्म-सुधार अथवा प्रोटैस्टेन्ट धर्मावलम्बियों का विद्रोह—योरुप मे विद्या तथा कला के पुनरुत्थान के रूप मे जो महत्त्वपूर्ण क्रान्ति हुई उससे योरुप के लगभग सभी देशो मे एक नवीन जागृति फैल गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्धविश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। फलत ईश्वर के एकमात्र प्रतिनिधि पोप का सिंहासन भी हिल ही गया जिस पोप की एक उगुली के सकेत पर राज्यो की उलट-पलट हो जाया करती थी, सारा ईसाई जगत यीरुशलम को स्वतन्त्र कराने के लिये धर्म युद्धो मे अपने को न्यौछावर करने मे तत्पर रहता था, उसी पोप के विरुद्ध सोलहवी शताब्दी मे भारी आन्दोलन चलाया गया।

विरोध (प्रोटैस्ट) करने वाले यही विरोधी (प्रोटेस्टेंट) कहलाने लगे। इनके प्रथम नेता जर्मनी के मार्टिन लूथर थे।

मार्टिन लूथर ने इस बात का व्यापक प्रचार किया कि अपने पापो के लिये पोपों से क्षमापत्र न खरीदे जांय।

सर्वसाधारण के हृदय में यह बात जमा दी गयी कि पोप द्वारा भी त्रुटिया हो सकती हैं।

शासको की इस इच्छा को बल मिला कि राजनीतिक विषयो मे पोप को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं।

पोप के स्थान पर सम्राट स्वय गिरजाघर के अध्यक्ष बनने चाहिये।

बाइबिल के अर्थ लगाने मे भी विश्वास के स्थान पर अपनी-अपनी बुद्धि का प्रयोग होने लगा।

सातो सस्कारों में श्रद्धा न रखकर प्रोटेस्टेंट केवल ईसा मसीह की स्मृति मे भोज को (Communion Dinner) स्वीकार करते थे।

और उसमे भी Doctrine of Substantiation अर्थात् रोटी और मदिरा ईसामसीह द्वारा वस्तुत मास और रक्त बन गये—इस कथन मे विश्वास न रहा उन्हें केवल प्रतीक मात्र माना जाने लगा।

धार्मिक रीतियो मे बाह्य सजधज का स्थान सादगी ने ले लिया। प्रोटेस्टेंट किसी भी रूप मे मूर्ति पूजा स्वीकार नही करते।

भारत मे आगमन—पाश्चात्य जगत् से भारत के बहुत पुराने सम्बन्ध थे ही। कहा जाता है यहा दक्षिणी तट पर कुछ प्रचारक पहली ही शती में पहुँच गये थे जिन को भारतीय प्रथानुसार गिरजाघरो के लिए भूमिदान जैसी सुविधायें प्राप्त हो गयी। वस्तुत योरोपीय जनता पूव के किसी आध्यात्मिक या मानवीय गुण से आकर्षित होकर उस ओर नही खिची प्रत्युत स्वर्ण की इच्छा और उसे अपने माल का ग्राहक बनाने की कामना उन्हें भारत खीच लायी। भारत को अपने अधिकार में रखने के लिए पुर्तगालियो, स्पेनियो, डचो, फ्रांसीसियो और अग्रेज मे परस्पर युद्ध हुए। इनका अन्त तब हुआ जब १७६१ ई० मे अग्रेजो को निर्णायक विजय प्राप्त हो गयी परन्तु इसका जो रूप पुर्तगेजो द्वारा सोलहवी सदी के प्रारम्भ मे आया, बडा भयकर था। भारतीयो को पुतगेजो के आचार-व्यवहार से ईसाई मत का मूल्यांकन करना था। उनके दुर्व्यवहार से यह भी चौकन्ने हो गये। उन्होंने गोआ, दमन और द्यू की बस्तियां बसा ली। बडी कठिनाई से ४०० साल बाद अब कहीं जाकर उनको मुक्त कराया जा सका। बाद मे ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ मे राजसत्ता आने से ईसाई प्रचारको का मान बढता गया। विशेषतया हिन्दू समाज मे हीन दृष्टि से देखी जाने वाली निम्न जातिया इनके प्रलोभन मे शीघ्र आ गयीं क्योकि उन्हें ईसाइयत मे वह आदर सम्मान मिला जिससे हिन्दू समाज ने उन्हें वचित किया हुआ था। पादरियों ने हमारी

इस दुर्बलता का अनुमान कर लिया और उसका अनुचित लाभ उठाया। ईसाई प्रचारकों ने बाइबिल का अनुवाद भारतीय भाषाओ मे करके घर-घर ईसा का सदेश पहुँचाया। ईसाई पादरियो ने अग्रेजी शिक्षा के प्रसार से अपने प्रचार मे बहुत सहायता ली। अग्रेजी शिक्षा-प्राप्त नवयुवको को सरकारी नौकरी मिलने लगी। उधर सरकार को शासकीय सचालन के लिए अग्रेजी जानने वाले कर्मचारी मिल गये। परिणामत भारत मे एक ऐसे वर्ग का नियन्त्रण हो चला जो रग रूप मे तो श्याम वर्ण पर चिन्तन, भाषा, विचार और वेशभूषा आदि मे अग्रेजो जैसे थे।

ईसाइयत का प्रचार अमेरिका और अफ्रीका मे बडी तेजी से हो चुका था। वहाँ की आदि जातियो ने इसे शीघ्र ही अपना लिया क्योकि उनके पास अपनी कहने योग्य सांस्कृतिक निधि लेशमात्र भी न थी। उन्हें आशा थी, कि भारत मे ईसाइयत सरलतापूर्वक प्रसारित हो जायेगी। इन प्रचारको ने भारतीय सस्कृति के पूर्वार्जित असीम रत्न भडार वेद या उपनिषद् तन्त्र, साहित्य आदि की नितान्त उपेक्षा की। वे यह भी भूल गये कि भारत की प्राचीन विचारधारा मे सस्कृति सदैव राष्ट्र से भी बडी मानी जाती रही है और सस्कृति की प्रधानता रहने के कारण, राष्ट्र के पराधीन होने पर भी, उसकी स्वाधीन होने की अभिलाषा नष्ट न हो सकती। यदि राष्ट्र को प्रधानता देते हुए जनता सस्कृति की उपेक्षा करती तो राष्ट्र-विपर्यय के साथ-साथ सस्कृति का भी नाश हो जाता।

मिशनरियो के भारतीय सस्कृति के विरुद्ध व्यापक प्रचार करने पर भी, आरम्भ मे आशानुसार सफलता नहीं मिली। १८१३ के चार्टर में धर्म-प्रचार पर से प्रतिबन्ध हटाने की घोषणा के दो वर्ष उपरान्त एबी डुबोय (Abbe Dubois) ने १८१५ में लिखा "मैंने आँसू तो बहाये, किन्तु वे नगे पत्थरो पर ही गिरे। साठ साल से हम लोग प्रचार कर रहे हैं किन्तु उच्च वर्गीय हिन्दुओ पर हमारा कोई प्रभाव नही पडा है। क्योकि जो लोग ईसाई हुए थे उनमे से दो तिहाई धर्म को छोडकर अपने मूल वृत्त मे वापस चले गये हैं। जो बाकी बचे हैं उनकी सख्या २०,००० है। पिछले ३० वर्षों मे हमने केवल तीन सौ लोगों का धर्म-परिवर्तन किया है, जिनमे दो सौ अछूत हैं। हिन्दुओ का धर्म बदलना आसान नही है। श्री मार्श की पुष्टि करते हुए जब मोटगोमरी ने इतना तक कह दिया कि भारत में पादरी भेजने की आवश्यकता ही नहीं, क्योकि ईसाई मत के पास भारतीयो को सिखाने योग्य कुछ है ही नही इस।" कथन से उनकी निराशा की सीमा न रही।

बीस साल तक की दशा १८३५ की निम्नलिखित घटना से विदित होती है —

कलकत्ता बन्दरगाह मे एक जहाज विलायती माल लेकर आया। वह जहाज नाना प्रकार की लोभनीय वस्तुओं से भरपूर था। उसमें औषधि से लेकर सुई तक अनेकानेक व्यवहार योग्य वस्तुयें बिक्री के लिए भारत भेजी गई थी, परन्तु आश्चय था कि एक पैसे की भी कोई वस्तु यहा न बिक सकी और उस जहाज को ज्यों का त्यो वापस लौट जाना पडा। लन्दन पार्लियामेन्ट द्वारा लगाये गये टैक्स के विरोध मे चाय से भरे जहाज को अमेरिकनो की तरह डुबाने का विचार भारतीयो का नही था। यह कोई विद्वेष सूचक बहिष्कार नही था वरन् स्वदेश प्रेम का एक निर्देशन मात्र था। वैसे भी प्रत्येक सस्कृति की आधार शिला आन्तरिक विचारधारा होती है। इधर अग्रेजी राज्य के पीछे नीति की सामथ्य थी, जिनके सहारे उन्होंने देश की परिस्थिति का भली भाँति अध्ययन कर लिया था। ईसाई सस्कृति ने भारतीय सस्कृति को समाप्त करने के लिये एक नवीन अस्त्र का प्रयोग किया। उसने भारतीय जीवन प्रणाली को बदल डालने के लिए युवको मे विदेशी रुचि उत्पन्न की। उस मोहमयी मदिरा को पाकर युवकों के दिमाग बदल गये और वे उन्मत्त हो उठे। उस स्थिति का दिग्दर्शन स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दो मे प्रस्तुत है—

"वर्तमान उन्नीसवी सदी के आरम्भ में, जबकि पाश्चात्य प्रभाव भारत में आने लग पडा था, पाश्चात्य विजेता लोग हाथ में तलवार ले ऋषि-सन्तानो को प्रत्यक्ष यह दिखाने आये थे कि वे (ऋषि-सतान) असभ्य है, उनका धर्म कोरी दन्तकथा है, आत्मा परमात्मा और प्रत्येक वस्तु जिसके लिये वे प्रयास कर रहे हैं, निरे निरथक शब्द हैं, साधना और अनन्त त्याग के हजारो वर्ष व्यर्थ रहे हैं। तव विश्वविद्यालयों मे पढ़ने वाले नवयुवको के वीच यह प्रश्न उठने लगा—क्या इस समय तक का राष्ट्रीय जीवन असफल रहा है? क्या उनको पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर पुन श्रीगणेश करना होगा? अपनी प्राचीन पुस्तको को फाड डालना होगा। दशन-शास्त्रो को जला देना होगा ।"

इस प्रकार अपने देश, वेशभूषा और विचारधारा के प्रति अनास्था और विदेशी वस्तुओ के प्रति अनुरक्ति होने लगी। जिस पर स्वामी जी ने तत्कालीन शिक्षित युवक वर्ग को सम्वोधित किया—यह डाँट भी लगाई कि तुम वकवास करते हो, उन सभी वस्तुओ की खिल्ली उडाते हो, जो हमारे लिये पवित्र है। तुम्हें इसका ध्यान ही नही है कि प्राचीरों के वाहर असख्य भारतीय जनता उस अमृत की बूँद पीने को बेचैन है जो हमारे प्राचीन शास्त्रो मे भरा पडा है। इन सव की प्रतिक्रिया के स्वरूप १९वी शती के पूर्वार्द्ध मे भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों मे द्रुत रूप से परिवर्तन होने लगे। इसलिए कहा जाता है १००० साल तक मध्ययुग में विताकर भारत ने

आधुनिक युग मे प्रवेश किया। मैकाले ने अपने माता-पिता को पत्र में लिखा था कि तीस साल के अन्दर पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से बगाल मे मूर्ति पूजने वाला कोई भी नही रह जायेगा। उसकी यह भविष्यवाणी प्रतिफलित न हो सकी क्योंकि इस सस्कृति के ऊपर चाहे जितने प्रहार और चाहे जितने आक्रमण हुये हो वह निरन्तर प्राणवान रही है। भारतीयो का समग्र जीवन उससे अनुमानित है। वेशभूषा, भाषा कर्म आदि मे युग के प्रभाव से परिवर्तन आ सकता है, किन्तु युग के अनुरूप साधन लेकर उसी साधन के द्वारा भारतीय सस्कृति अभिव्यक्त होती रही, होती रहेगी।

मनुष्य की सफलता इसी मे है कि भाषा को भी प्रगति की सीढ़ी बना ले। जो प्रकाश ईसाइयत के साथ आया, कालानुसार उसमे अनेक विकृतिया आ गई। अत जनता उसके प्रति सजग एव सतर्क है। आज वह अन्य आस्था नही रखती। अविश्वास की जगह तर्क ने ले ली। विरक्ति का स्थान गीतानुसार प्रवृत्ति ने लिया और प्रान्तीयता का देश-भक्ति ने। प्राचीन वेदान्त मार्ग ही नवीन रूप मे सामने आया।

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहस आदि। भले ही उनकी पद्धतियो मे भिन्नता रही हो, पर मूल उद्देश्य एक था—भारत को उद्बोधन देने का, विश्व मे अपना पुराना स्थान सुरक्षित रखने का, जिससे जनता अपनी सस्कृति के शाश्वत मूल्यो को पहचान सके। विभूतियो के आविर्भाव से भारत मे जागृति की लहर आ गई

अध्याय १७

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार-आन्दोलन

राजा राममोहन राय

भारत मे उन्नीसवी शती मे जो सामाजिक तथा धार्मिक नवोत्थान हुआ उसका आरम्भ राजा राममोहन राय द्वारा हुआ। इनको 'आधुनिक भारत का पिता' कहा जाता है। इनका जन्म बदवान ज़िला के राधानगर ग्राम मे २२ मई १७७२ को एक सम्पन्न ब्राह्मण कुल मे हुआ। इनकी शिक्षा का प्रबन्ध सुन्दर रहा और ये शीघ्र ही सस्कृत, फारसी, अरबी, बगला के विद्वान् हो गये। इन्होंने बाद मे अग्रेजी भी सीख ली। इन्होंने धार्मिक ग्रथो का गहन अध्ययन किया। इन्हें मूर्ति-पूजा न जची। अत इन्होंने इसके विरोध मे एक पुस्तिका भी लिख डाली। इस पुस्तक के कारण पिता इनसे अत्यधिक अप्रसन्न हो उठे। इन्हें घर छोडना पडा। तत्कालीन प्रचलित धर्म मे इन्होंने आडम्बर की अधिकता देखी। ईसाई और इस्लाम मतो का इन्हें असाधारण ज्ञान था ही। लेकिन वे ईसाईयो के हिन्दू-धम पर आक्षेपो से खिन्न हो उठते थे। सत्य की खोज मे वे इस निर्णय पर पहुँचे कि समय की माग के अनुसार वेदात पर ही बल देना आवश्यक है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी से अवकाश प्राप्त करके वे समाज-सुधार के काम मे जुट गये और दृढ प्रतिज्ञा कर ली कि झूठे रस्मरिवाजो, जातिपाँति के भेद-भावो, बाल-विवाह, आदि को बन्द करके ही रहेंगे। वे अपने धम की तीव्र आलोचना इसलिये करते थे कि वे इसे रूढ़ियो से मुक्त करके नया रूप देना चाहते थे। यही कारण है कि कुछ व्यक्ति इनको भारतीय मानने मे सकोच करते थे।

ब्रह्मसमाज की स्थापना— सभी धर्मों के अनुयायियो मे सद्भावना उत्पन्न हो और वे एक-दूसरे के समीप आ एकता के सूत्र मे आबद्ध हो उदार दृष्टि वाले राजा राममोहन राय ने १८२८ में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। इनकी सभाओ मे वेदो का अर्थ-सहित पाठ होता था। इस समाज की सदस्यता के अधिकारी वे हो

सकते थे, जो ईश्वर में तो विश्वास रखते हो, पर न उसके साकार रूप मे, न मूर्ति-पूजा मे ही। इस समाज मे सब धर्मों का पूरा-पूरा सम्मान होता और उनमे मौलिक एकता पर बल दिया जाता। श्री राममोहन राय को हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, तीनो धर्मों के सिद्धान्तो का पर्याप्त ज्ञान था।

राजा राममोहन राय की देन—ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा १८२९ मे सती-प्रथा को बन्द कराने का श्रेय इनको ही है। दूसरे, इन्होने भारत को ससार मे अन्य देशो के साथ कन्धा मिला कर चलने के लिये अग्रेजी भाषा पढने को तैयार किया। तभी हिन्दू कालेज खोला, जिसमे अग्रेजी माध्यम से पढाई होने लगी। इनके ही सतत परिश्रम के फलस्वरूप १८३५ मे गवर्नर जनरल बैंटिंग, लार्ड मैकाले के अग्रेजी शिक्षा चालू करने के प्रस्ताव को कम्पनी से स्वीकृत करा लाये। इससे इनको ऐसे विचारको का कोप-पात्र भी बनना पडा, जो किसी देश के नये ज्ञान विज्ञान को स्वीकार कर लेना हानिकारक नही समझते थे किन्तु अग्रेजी माध्यम के विरोधी थे।

ब्रह्मसमाज तथा आदि-ब्रह्मसमाज—राजा राममोहन राय इगलैंड मे, एक केस की वकालत करने के लिये गये हुय थे वहीं १८३३ मे ब्रिस्टल मे उनकी मृत्यु हो गयी। अन्तिम सस्कार हिन्दू रीति के अनुसार हुआ। तत्पश्चात् रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के हाथ मे ब्रह्मसमाज की बागडोर पहुँची। जिस के फलस्वरूप हिन्दू धर्म से धीरे-धीरे यह समाज दूर ही होता गया, और वह इतनी तीव्र-गति से हुआ कि सामाजिक क्रान्ति द्वारा ईसाइयत पर बिक जाने वाले केशव चन्द्रजी के ब्रह्मसमाज को, भारत का ही योरुप्यकरण समझा जाने लगा। अन्त-र्जातीय विवाह समर्थक केशवचन्द्र जी ने अपना समाज अलग खडा कर लिया। तब से पुराना समाज आदि-ब्रह्मसमाज कहलाने लगा। जब केशवचन्द्र जी ने अपनी नाबालिग कन्या का विवाह, कूच-विहार के नाबालिग राजकुमार से किया तो केशवचन्द्रजी के अनुयायी बिगड उठे और एक बार फिर एक और साधारण ब्रह्म-समाज बना लिया। केशवचन्द्र जी का समाज नव-विधान-समाज कहलाने लगा। ब्रह्मसमाज की नीव सब धर्मों मे समन्वय लाने के लिये रखी गयी थी। उसी को नव-विधान-सभा ने खुल्लमखुल्ला यहूदी तथा ईसाई मत का रूप देना चाहा। उसमें कमी केवल हजरत ईसा की पूजा ही रह गयी थी। तब से यह ब्रह्मसमाज योरुप-प्रेमियों का प्रवेश द्वार रहा। सब कुछ रहते भी, यह अकाट्य सत्य है कि धर्म-परिवर्तन की बाढ को रोक कर ब्रह्मसमाज ने नई रोशनी के समर्थको को हिन्दू-धर्म मे रहते हुए भी उनकी उदारता की तुष्टि करनी चाही, और ऐसे व्यक्ति दिये, जिन्होंने धर्म-क्षेत्रो मे प्रगति कर देश की अपने मतानुसार सेवा की।

इस समाज का आरम्भ तो राजा राममोहन राय तथा महर्षि देवेन्द्रनाथ जी ने हिन्दू धर्म की रक्षा के विचार से किया था। केशवचन्द्र जी भी ढलती अवस्था मे इसी ओर झुकने लगे, पर हारे हुए योद्धा की वृत्ति इन सबकी रही। इन मे आत्म-विश्वास की कमी थी। यह पूर्ण हिन्दुत्व की रक्षा के लिये असमर्थ रहे। उतना ही स्वीकार करते जो बुद्धि को जँच जाये। पूर्ण रक्षा के लिये महान् पुण्य कार्य का श्रेय बाद मे आने वालो को मिला।

प्रार्थना-समाज—ब्रह्मसमाज की शाखायें भारत के बड़े-बड़े नगरो मे, जहा धनवान अंग्रेजी पढ़े-लिखे अधिक थे, खुल गयी थी, किन्तु महाराष्ट्र मे जो रूप सामने आया वह सामाजिक ही रहा।

केशवचन्द्र जी १८६४ में बम्बई गये और वहा जो शाखा खोली उसका नाम प्रार्थना-समाज रखा, जिसका ध्येय था विधवा-विवाह का प्रचार तथा जाति पाति का खण्डन और स्त्री-शिक्षा पर बल। इसमे सभी धर्म-ग्रंथो का पाठ होता और सबके गुण लिये जाते। इस समाज के नेता महादेव गोविन्द रानाडे थे — जो राममोहन राय के समकालीन थे। उन्होने इसे सर्व-प्रिय बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। गोपाल कृष्ण गोखले ने इन्हीं से प्रेरणा लेकर शिक्षा प्रचार के क्षेत्र मे भारत की सेवा की।

स्वामी दयानन्द

(१८२४-८३)

जब पश्चिम के बुद्धिवाद का अस्त्र लेकर ईसाईयत तथा इस्लाम निधड़क होकर हिन्दुत्व की निन्दा कर रहे थे और हिन्दू सारे अपमानों के सामने दात निपोर कर रह जाते थे, तब उसी बुद्धिवाद की कसौटी पर ईसाईयत तथा इसलाम का मूल्यांकन करने तथा हिन्दुत्व की रक्षा करने को वेद-मर्मज्ञ, निर्भीक तार्किक महाव्यक्तित्व स्वामी दयानन्द के रूप मे सामने आया जिसने सत्य की स्थापना के लिए निश्छल भाव से अपने यहाँ के मत-मतान्तरो का परिष्कार किया, तथा इस्लाम और ईसाईयत की अनेक कमियो को भी सबके सामने रखा। हिन्दू कहलाने मे भी झेंपने वाला व्यक्ति अब गर्व अनुभव करने लगा क्योंकि स्वामी जी के अथक प्रयत्नो से मृतप्राय भारतीय संस्कृति मे नयी चेतना का संचार हुआ। सोया हुआ भारत जागा और आत्म-सम्मान तथा आत्म-विश्वास की भावना से पुन विभूषित हुआ।

गुजरात के मोरवी राज्य मे टकारा नाम का छोटा सा ग्राम वेदपाठी धौंव ब्राह्मण अम्बा शंकर ग्राम-कर एकत्र करने वाले राज्याधिकारी के यहा एक बालक

सकते थे, जो ईश्वर मे तो विश्वास रखते हो, पर न उसके साकार रूप मे, न मूर्ति-पूजा मे ही। इस समाज मे सब धर्मों का पूरा-पूरा सम्मान होता और उनमे मौलिक एकता पर बल दिया जाता। श्री राममोहन राय को हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, तीनों धर्मों के सिद्धान्तो का पर्याप्त ज्ञान था।

राजा राममोहन राय की देन—ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा १८२९ मे सती-प्रथा को बन्द कराने का श्रेय इनको ही है। दूसरे, इन्होने भारत को ससार मे अन्य देशो के साथ कन्धा मिला कर चलने के लिये अग्रेजी भाषा पढने को तैयार किया। तभी हिन्दू कालेज खोला, जिसमे अग्रेजी माध्यम से पढाई होने लगी। इनके ही सतत परिश्रम के फलस्वरूप १८३५ मे गवर्नर जनरल वैंटिंग, लार्ड मैकाले के अग्रेजी शिक्षा चालू करने के प्रस्ताव को कम्पनी से स्वीकृत करा लाये। इससे इनको ऐसे विचारको का कोप-पात्र भी बनना पडा, जो किसी देश के नये ज्ञान विज्ञान को स्वीकार कर लेना हानिकारक नही समझते थे किन्तु अग्रेजी माध्यम के विरोधी थे।

ब्रह्मसमाज तथा आदि-ब्रह्मसमाज—राजा राममोहन राय इगलैंड मे, एक केस की वकालत करने के लिये गये हुए थे वहीं १८३३ मे ब्रिस्टल मे उनकी मृत्यु हो गयी। अन्तिम सस्कार हिन्दू रीति के अनुसार हुआ। तत्पश्चात् रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के हाथ मे ब्रह्मसमाज की बागडोर पहुँची। जिस के फलस्वरूप हिन्दू धर्म मे धीरे-धीरे यह समाज दूर ही होता गया, और वह इतनी तीव्र-गति से हुआ कि सामाजिक क्रान्ति द्वारा ईसाइयत पर बिक जाने वाले केशव चन्द्रजी के ब्रह्मसमाज को, भारत का ही योरुप्यकरण समझा जाने लगा। अन्त-र्जातीय विवाह समर्थक केशवचन्द्र जी ने अपना समाज अलग खडा कर लिया। तब से पुराना समाज आदि-ब्रह्मसमाज कहलाने लगा। जब केशवचन्द्र जी ने अपनी नाबालिग कन्या का विवाह, कूच-विहार के नाबालिग राजकुमार से किया तो केशवचन्द्रजी के अनुयायी बिगड उठे और एक बार फिर एक और साधारण ब्रह्म-समाज बना लिया। केशवचन्द्र जी का समाज नव-विधान-समाज कहलाने लगा। ब्रह्मसमाज की नीव सब धर्मों मे समन्वय लाने के लिये रखी गयी थी। उसी को नव-विधान-सभा ने खुल्लमखुल्ला यहूदी तथा ईसाई मत का रूप देना चाहा। उसमें कमी केवल हजरत ईसा की पूजा ही रह गयी थी। तब से यह ब्रह्मसमाज योरुप-प्रेमियों का प्रवेश द्वार रहा। सब कुछ रहते भी, यह अकाट्य सत्य है कि धर्म-परिवर्तन की बाढ को रोक कर ब्रह्मसमाज ने नई रोशनी के समयको को हिदू-धर्म मे रहते हुए भी उनकी उदारता की तुष्टि करनी चाही, और ऐसे व्यक्ति दिये, जिन्होंने धर्म-क्षेत्रो मे प्रगति कर देश की अपने मतानुसार सेवा की।

इस समाज का प्रारम्भ तो राजा राममोहन राय तथा महर्षि देवेन्द्रनाथ जी ने हिन्दू धर्म की रक्षा के विचार से किया था। [illegible] जी [illegible] इनकी [illegible] म इसी ओर झुकने लगे पर [illegible] की [illegible] सबकी [illegible]। [illegible] विश्वास की कमी थी। यह पूर्ण हिन्दुत्व की रक्षा के लिए असमर्थ रहा। [illegible] स्वीकार करते जो बुद्धि को जँच जाय। पूर्ण रक्षा के लिए महान् पुण्य कार्य का श्रेय बाद म आने वालो को मिला।

प्रार्थना समाज—ब्रह्मसमाज की शाखायें भारत के बड़े बड़े नगरो म, जहा धनवान अंग्रेजी पढे-लिखे अधिक थे, खुल गयी थीं, किन्तु महाराष्ट्र म जो रूप सामने आया वह सामाजिक ही रहा।

केशवचन्द्र जी १८६४ मे बम्बई गये और वहा जो शाखा खाली उसका नाम प्रार्थना समाज रखा, जिसका ध्येय था विधवा विवाह का प्रचार तथा जाति पाति का खण्डन और स्त्री-शिक्षा पर बल। इसम सभी धर्म ग्रथो का पाठ होता और सबके गुण लिये जाते। इस समाज के नेता महादेव गोविन्द रानाडे थे — जो राममोहन राय के समकालीन थे। उन्होने इसे सर्व प्रिय बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। गोपाल कृष्ण गोखले ने इन्ही मे प्रेरणा लेकर शिक्षा प्रचार के क्षेत्र मे भारत की सेवा की।

स्वामी दयानन्द

(१८२४-८३)

जब पश्चिम के बुद्धिवाद का अस्त्र लेकर ईसाईयत तथा इस्लाम निधडक होकर हिन्दुत्व की निन्दा कर रहे थे और हिन्दू सारे अपमानो के सामने दात निपोर कर रह जाते थे, तब उसी बुद्धिवाद की कसौटी पर ईसाईयत तथा इसलाम का मूल्यांकन करने तथा हिन्दुत्व की रक्षा करने को वेद-मर्मज्ञ, निर्भीक तार्किक महाव्यक्तित्व स्वामी दयानन्द के रूप मे सामने आया जिसने सत्य की स्थापना के लिए निश्छल भाव से अपने यहाँ के मत-मतान्तरों का परिष्कार किया, तथा इस्लाम और ईसाईयत की अनेक कमियो को भी सबके सामने रखा। हिन्दू कहलाने मे भी झेंपने वाला व्यक्ति अब गर्व अनुभव करने लगा क्योकि स्वामी जी के अथक प्रयत्नो से मृतप्राय भारतीय सस्कृति में नयी चेतना का सचार हुआ। सोया हुआ भारत जागा और आत्म-सम्मान तथा आत्म-विश्वास की भावना से पुन विभूपित हुआ।

गुजरात के मोरवी राज्य मे टकारा नाम का छोटा सा ग्राम वेदपाठी शैव ब्राह्मण अम्बा शकर ग्राम-कर एकत्र करने वाले राज्याधिकारी के यहा एक बालक

ने १८२४ मे जन्म लिया, जिसका नाम मूलशकर रखा गया। यही आगे चलकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मेधावी बालक ने शीघ्र ही वेदो का अध्ययन पूर्ण कर लिया और स्वाध्याय मे लीन रहने लगा।

महत्वपूर्ण शिवरात्रि—एक घटना ने उनके विचारो की दिशा में आमूल परिवर्तन ला दिया। वे शिवरात्रि व्रत रखकर, गाव के बाहर वाले शिवालय में, अपने पिता तथा अन्य शिव-भक्तो के साथ, रात-जागरण तथा प्रहर-वार पूजा कर रहे थे। आधी रात बीतने पर जब अन्य सबकी आंख लग गयी, भगवान् शिव ने अहिग बालक को अपनी कृपा-ज्योति प्रदान की। मूलशकर ने देखा कि शिव-पिण्डी पर एक छोटा सा चूहा फुदक रहा था। उनकी अन्तरात्मा ने शिव के दर्शन का सकल्प किया। उस पाषाण की प्रतिमा मे प्रतिष्ठित शिव के चैतन्य स्वरूप को जानने के लिये पिता को जगाया, किन्तु वे बालक की शका का समाधान न कर सके। मूलशकर को तभी से शिव तत्त्व के समझने की लग्न लग गयी।

गृह त्याग—एक बार जब सारा परिवार कोई विशेष आनन्दोत्सव मे रगरलिया मना रहा था, तब उनकी चौदह-वर्षीया बहन हैजा से अचानक मर गयी। इससे उनको सख्त धक्का पहुचा। कुछ दिनो बाद उनके चाचा जी का स्वर्गवास हो गया। तब से वे मृत्यु से बचने के उपाय की खोज मे सलग्न हो गये। मित्रो ने मृत्यु पर विजय पाने के लिये योगाभ्यास की राह दिखायी। तभी से उन्होंने गृह त्याग की ठान ली। उधर पिता भाप गये और उन्होंने मूलशकर के विवाह की तैयारी कर दी। परन्तु यह वीतरागी तथा सत्यान्वेषी युवक किसी जीवन मार्ग- प्रदर्शक की खोज मे घर से भाग ही निकले।

योगसाधना—पहले एक योगी से योग सीखा, फिर अहमदाबाद के समीप वैरागियो के साथ रहे। वहाँ से बडौदा जाकर चैतन्य मठ के ब्रह्मानन्द स्वामी से वेदान्त के सम्बन्ध मे विचारविमर्श करने से जीव और ब्रह्म की एकता मे विश्वास बढने लगा। तदुपरान्त श्री शिवानन्द गिरि से योग दीक्षा लेकर अपने आप ही सन्यास ले लिया और अपना नाम दयानन्द रखा। सन्यास आश्रम की विधिवत् दीक्षा बाद मे स्वामी पूर्णानन्द जी से ली। तत्पश्चात् व्यासाश्रम जाकर श्री योगानन्द जी से योगविद्या के गूढ तत्त्व सीखे, जिनका अभ्यास करने आप आबू पर्वत पर गये।

स्वामी विरजानन्द के चरणों मे—सद्गुरु की खोज मे ग्यारह साल तीर्थों का भी भ्रमण किया। अन्ततोगत्वा सयोग मे मथुरा में इस तपस्वी जिज्ञासु को अपने छत्तीसवें वर्ष मे वेद-मर्मज्ञ, व्याकरण के पूर्ण पण्डित प्रज्ञाचक्षु अस्सी वर्षीय श्री विरजानन्द जी गुरु रूप मे प्राप्त हो ही गये। उन्होंने इनको सब शास्त्रो का अपनी शैली अनुसार अध्ययन कराया।

गुरु दक्षिणा—विद्या की समाप्ति पर श्री विरजानन्द जी ने दयानन्द जी से वेदो के प्रचार की दृढ़ प्रतिज्ञा के रूप मे गुरु-दक्षिणा स्वीकार की।

प्रचार—अब यह वैदिक प्रचार के लिये कटिबद्ध हो गये। सन् १८७६ मे हरिद्वार के कुम्भ मेला से आपने प्रचार आरम्भ किया। इस आध्यात्मिक चिकित्सक ने कड़ा आपरेशन किया। मतभेद सदा से ही हिन्दू धर्म की परम्परागत का महान् स्वरूप रहा है। आपने एकदम छ शास्त्रो तथा अठारह पुराणो का निषेध किया। सभी धर्म शास्त्रो का खण्डन करके केवल वेदो को ही मान्यता दी और उनमे भी मन्त्र संहिता वाले भाग को। उनका उच्चघोष रहा वेदो की ओर लौटो। मूर्ति-पूजा आदि का खण्डन किया। काशी मे भारी शास्त्रार्थ हुआ। निर्णय तो क्या होना था, तथापि इनकी विद्वत्ता की धाक तो जम ही गयी। वेदो के अर्थ अपने दृष्टिकोण के अनुसार किये। पुराने चले आ रहे किसी भी वेद-भाष्य को स्वीकार न किया। वेदो मे आपकी अन्यतम और अगाध श्रद्धा थी। वाणी की अद्भुत शक्ति और प्रकाण्ड प्रतिभा द्वारा आपने वेदनिहित ज्ञान का यथाशक्ति प्रचार किया। इस स्पष्टवादी निर्भीक वक्ता का प्रभाव, साधारण जनता पर पड़े बिना नही रह सकता था।

आर्य समाज की स्थापना—कलकत्ते से लौटने पर १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में स्वामी जी ने आर्य (सुसस्कृत) समाज की स्थापना की और उसके दस नियम निर्धारित कर दिये। वहां दिल्ली होकर आप लाहौर गये। लाहौर को आर्य समाज का गढ़ बनने का श्रेय प्राप्त हुआ। पजाब के जागृत होने पर भारत के अन्य नगरो मे भी उत्साह की लहर दौड पड़ी और शीघ्र ही देश भर मे आर्य समाज की शाखाओ का जाल सा बिछ गया। ब्रह्मसमाज की तरह यह केवल शिक्षित समाज तक सीमित न रहा।

धार्मिक सिद्धान्त—ईश्वर सत् चित् आनन्द स्वरूप, सर्वशक्तिमान, निराकार, अनादि, अनन्त, अद्वितीय न्यायकारी होते भी दयालु, पर जीवो को उनके कर्मानुसार फल देने वाले हैं।

वेद—अपौरुषेय है, सच्ची विद्याओ के भडार हैं। सम्पूर्ण ज्ञान की निधि हैं। इनके अध्ययन का अधिकार सबको बराबर है। वेदो के स्रोत ओ३म् और मुख्य गायत्री मन्त्र के जाप पर तथा दैनिक हवन करने पर बल दिया गया। गोरक्षा के महत्त्व पर सुन्दर प्रकाश डाला।

धर्म—सच्चा धर्म वही है जो पथभ्रष्ट तथा दूसरे धर्म वालो को भी शरण दे। अत स्वामी जी ने इसके द्वार मुस्लिम, ईसाई आदि सबके लिये खोल दिये।

शुद्धि द्वारा हिन्दू बनने का अधिकार मनुष्य मात्र को है। शुद्धि शास्त्र-सम्मत बतला कर हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन से बचा लिया।

वर्ण-व्यवस्था—इसे जन्म पर आधारित न मान कर गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित बतलाया।

सत्यार्थ प्रकाश—स्वामी जी ने आर्य समाज के इस मुख्य ग्रन्थ की रचना हिन्दी में की। इनके १४ वें समुल्लास के अन्त में लिखते हैं—मेरा कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसे मानना, मनवाना और जो असत्य है, उसे छोडना छुडवाना मुझको अभीष्ट है।

सामाजिक सुधार—बाल विवाह—इसे सर्वथा अनुचित बतलाया। अबोध बालकों-बालिकाओं को विवाह-बन्धन में बाँधना शास्त्र-विरुद्ध है। उस दूरदर्शी ऋषि ने आज से सौ साल पहले देश के हित में इस कुप्रथा के मिटाने में कोई कसर न उठा रखी।

विधवा-विवाह—विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह को शास्त्र-सम्मत बतलाया।

स्त्री-शिक्षा—देश भर में कन्या पाठशालायें खोलकर नारी-मर्यादा को उन्नत करने का श्रेय आर्य समाज को ही है, अन्यथा एक पहिये से गृहस्थी की गाडी कदापि न चल सकती।

हिन्दी भाषा का प्रचार—स्वामी जी की मातृभाषा गुजराती थी, लेकिन उन्होंने प्रचार हिन्दी का ही किया। पंजाब आदि कई प्रान्तों में हिन्दी की नींव आर्य समाज ने ही रखी, जिसके फलस्वरूप आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है।

शिक्षा प्रचार—स्वामी जी के योग्य अनुयायी लाला लाजपत राय जी और महात्मा हंसराज जी ने लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज खोला जिससे प्रेरणा लेकर देश में स्थान स्थान पर ऐसे कई हाई स्कूल और कालेज खुल गये। उधर महात्मा मुन्शीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द) ने गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय की नींव शुद्ध वैदिक प्रणाली पर हरिद्वार में रखी।

दलित उद्धार—अन्त्यजों को ऊपर उठाने में आर्य समाज का प्रयत्न सराहनीय रहा। अनेक को विद्या प्रदान करके पण्डित तथा महाशय बनाकर सबके साथ मिला दिया और निकास को बन्द किया।

स्वामी जी की देश-सेवा—जहाँ स्वामी ने स्वधर्म का उन्नत करके अन्य

अध्याय १७

इस्लामी नवोत्थान

भारतीय मुसलमानो की शोचनीय दशा— पजाब को छोड कर भारत का शासन अग्रेजो ने मुसलमान शासको से ही छीना था, अत अग्रेज मुसलमानो पर विश्वास न करते थे। उधर यदि अग्रेजी सरकार की लडाई अफगानिस्तान से छिडती तो भारत मे बैठे मुस्लिम, अफगानिस्तान की सफलता के लिये प्रार्थना कर के जी ठडा कर लेते। जब राजा राममोहन राय ने भारतीयो के सामने अग्रेजी भाषा अपनाने पर बल दिया तो सभी मुसलमानो ने इसे धर्म-विरुद्ध बता कर इसे अपनाने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार सदेह भावना बढती ही गई। जब १८५७ का प्रथम स्वतत्रता आन्दोलन चला, तो उस की जड मे भी अग्रेजो को वृद्ध मुगल बादशाह को पुन सिंहासन दिलाने का प्रयत्न ही दिखाई दिया। कुपित सरकार ने मुसलमानो को सरकारी नौकरियो से वञ्चित रखा। अग्रेजी शासन होने के कारण भी ये सरकारी नौकरी प्राप्त नही कर सके। धीरे-धीरे इनके हाथो से जमीनें भी खिसकती चली गई। फलस्वरूप इनकी दशा अति शोचनीय हो गई। बहुसख्यक हिंदुओ को आगे बढते देख ये हीनभावना का भास भी करने लगे थे।

सैयद अहमद खाँ— ऐसे दु खद समय की माग की पूर्ति सैयद अहमद खाँ के रूप मे हुई। इनका जन्म १८१७ मे दिल्ली के एक सम्पन्न घराने में हुआ। ये पुरानी रूढियो मे रच मात्र भी विश्वास न रखते थे। हर बात को बुद्धि की कसौटी पर रखते। इग्लैंड से लौटने पर इन के विचारो को देख मुल्लाओ ने इनको कुफ्र का फतवा दे दिया। पर इनके अन्दर तो मुसलमानो को अधकूप से बाहर निकालने का जोश लहरें मार रहा था। इन्होने दूरदर्शिता से काम लेते हुए इतनी सावधानी रखी कि सीधे धार्मिक झमेलो मे न पड कर सामाजिक सुधार के काम मे जुट गये। इन्होने मुस्लिम भाइयो को अग्रेजी पढने पर राजी कर लिया और उन्हे खूब समझा दिया कि उनका हित अग्रेज शासको की प्रसन्नता प्राप्त करने मे ही निहित है। उधर सरकार को भी उसकी भूल बताई, जिसके कारण १८५७ की क्रान्ति मे उसने हिंदुओ के साथ ही मुस्लिम सिपाहियो को भी फ़ौज

मे सम्मलित कर पारस्परिक प्रेम वढाया । पहले सैयद अहमद खा ने मुरादाबाद और गाजीपुर शिक्षाक्षेत्र मे दो पाठशालायें खोली । फिर अलीगढ़ म १८७५ म मोहमडन एंग्लो ओरियटल कालेज खोला जिस ने उन्नति करते-करते १९२० म मुस्लिम यूनिवर्सिटी का रूप ले लिया । सरकार को आश्वासन दिलाया कि इस सस्था का उद्देश्य अपने धर्म की रक्षा करना, अंग्रेजी पढ़ना पढ़ाना तथा अंग्रेज सरकार की सुयोग्य प्रजा वनना रहेगा । इस सस्था म मुख्य रो [illegible] शिक्षा की शिक्षा आधुनिक शैली पर सुन्दर ढग से दी जाती रही है । साथ साथ अरबी और फारसी तथा मुस्लिम-साहित्य के अध्ययन का सुचारु प्रबन्ध है । भारतीय मुस्लिम जगत् मे जागृति ले आने का परम श्रेय इसी सस्था को है । यहा से शिक्षा पा कर निकले हुए राजभक्तो ने भारतीय मुसलमानो को ब्रिटिश सरकार का कृपापात्र बना ही दिया ।

सैयद अहमद खा साहब न स्त्री शिक्षा पर वल दे कर उन की दशा भी सुधारी । उन्होंने परदा-प्रथा का खुल कर विरोध किया ।

अग्रेजी ढग उन्हें वहुत अच्छे लगते थे । इन्हे ये स्वय अपनाते और दूसरो को अपनाने की प्रेरणा देते । सब से अच्छी वात जो इन्होंने सीखी वह थी समय की पाबदी । इन के सैर का समय पूणतया नियत रहता । कहते है इनके अपने घर से गुजरने पर लोग अपनी घडियो पर टाइम ठीक कर लेते ।

राजनीतिक क्षेत्र मे—इण्डियन नैशनल काग्रेस का जन्म १८७५ मे जब हुआ तो इन्होंने मुस्लिमो को इससे पृथक रहने का आग्रह किया, हालाकि उस समय काग्रेस को अग्रेज की सहानुभूति प्राप्त थी यह पृथक् रहने की भावना ही मुस्लिम लीग द्वारा आगे चलकर पाकिस्तान को जन्म देने का कारण वनी । इस प्रकार इन की देशभक्ति को इनकी राजभक्ति दवा लेती थी ।

इनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य मुसलमानो को उन्नत करना रहा है । उन्हे हिंदुओं से आगे वढा हुआ देखना चाहते थे जिसे उन्होंने मृत्यु शय्या पर पडे-पडे भी निभाया । उदाहरणाथ भारतीय मुसलमानो को टर्की के खलीफा का साथ देने की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार की सहायता करते रहने पर सदैव तत्पर रहने का परामर्श दिया ।

अंग्रेजी सरकार ने भी इनकी सेवा से प्रसन्न हो कर इनको 'सर' की उपाधि प्रदान की और गवनर जनरल की कौंसिल मे मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्व करने को स्थान देकर इन का सम्मान वढ़ाया ।

आपकी मृत्यु १८९८ मे हुई । आपका मुसलमानो मे ठीक वही स्थान रहा जो राजा राममोहन राय का हिंदू समाज मे ।

मिरजा गुलाम अहमद कादियानी—पंजाब के गुरुदासपुर जिला की कादिया तहसील में १८३७ में मिर्जा गुलाम अहमद का जन्म हुआ था। आप का अरबी, फ़ारसी तथा इस्लामी शास्त्रों पर पूरा-पूरा अधिकार था। उन पर सर सैयद अहमद खां का बहुत प्रभाव पड़ा। ईसाइयों और आर्य समाजियों के आक्षेपों का तर्क-सहित उत्तर देने को, और इस्लाम को 'वहाबी आन्दोलन' के अनुसार इसे विशुद्ध मौलिक रूप में लाने को, इन्होंने 'कादियानी' मत की नींव रखी। मिरजा जी ने स्वयं पैगम्बर होने का दावा किया, हालांकि इस्लामी धर्मानुसार हज़रत मुहम्मद साहब ही अन्तिम पैगम्बर थे। हिंदू धर्म के अवतार सिद्धान्त को अपनाया, और अपने आप कृष्ण का अवतार घोषित कर दिया। इनके अनुयायियों में सुन्दर संगठन है और प्रचार के लिये जोश है। इस मत ने इस्लाम में नयी जान डाल दी है।

वहाबी आन्दोलन— मिरजा साहब की मृत्यु लाहौर में १९०९ में हुई। इस्लाम के जन्म स्थान अरब में भी ६०० वर्षों में कुरीतियाँ घुस गईं थीं और वहाँ भी आवश्यक हो गया था कि इस्लाम के मूल सिद्धान्तों को ही बल दिया जावे और जो कुछ कुरान शरीफ तथा हदीस में नहीं हैं उसका डटकर विरोध किया जावे। जो "वापिस कुरान की ओर लौटो" का नारा लगाने वाले थे, उन्होंने इसी आशय से **वहाबी आन्दोलन** चलाया था। इसका प्रभाव बढ़ते-बढ़ते भारत में भी आ पहुँचा। यहाँ इसे बढ़ावा देने में बरेली के सैयद अहमद थे। हज (मक्का शरीफ की यात्रा) से वापिसी पर लौटकर इस आन्दोलन के नेता बने उन्होंने परिवर्तित नये मुसलमानों के साथ आई हुई रीति-रिवाजों का भी विरोध किया, और इस्लाम का शुद्ध मौलिक स्वरूप सामने लाने में कुछ सीमा तक सफल भी हुए। अंग्रेजी राज्य पर अधर्म फैलाने का दोष लगाकर उसका पूर्णतया निषेध किया। इस प्रकार मुसलमानों में कट्टरता भर गई।

इस वहाबी आन्दोलन का विरोध इस्लाम में आधुनिकता लाने वालों की ओर से मौलाना करामत अली ने किया, और सूफी मत की सहायता में संलग्न हो गये। इस आधुनीकीकरण में मौलाना चिरागअली का बहुत बड़ा हाथ रहा।

डा० सर मुहम्मद इकबाल— १८७३-१९३८—उन्नीसवीं सदी का आरम्भ तो मुसलमानों की शोचनीय दशा में हुआ किन्तु यह दीनावस्था ही डा० के धार्मिक जीवन के रूप में वरदान बन गई। उन्होंने अपनी स्थिति का अध्ययन कर उन्नति की राह निकाली। शिक्षा के क्षेत्र में तो पर्याप्त उन्नति प्राप्त कर ली। इस पुनरुत्थान में बहुत बड़ा हाथ कवि इकबाल का रहा।

अध्याय १८

धर्म में समन्वयात्मक प्रकृति

वर्तमान दशा— आज ससार के रगमच पर बीसवी शताब्दी का भौतिक ताडव नृत्य हो रहा है जहा झोपडी से लेकर कस्बो, नगरो, प्रान्तो तथा देश-देशान्तरों तक पारस्परिक द्वेषाग्नि प्रज्वलित हैं। ससार एक ज्वालामुखी पहाड के किनारे पर खडा है, और हर समय यही डर बना रहता है कि यदि कही तीसरा महायुद्ध छिड गया तो इस बार ऐटम बम सर्वनाश करके ही दम लेंगे। विज्ञान अपनी सिद्धियो से स्वय भयभीत हो रहा है, अर्थशास्त्र अपने आकडो पर चकित हो रहा है। ऐसी परिस्थितियो मे मानवता दिग्भ्रान्त है। धर्म मानवता का पथ-प्रदर्शन कर ही नही पा रहा है। आज का मानव जीवन के पवित्रतम आध्यात्मिक उत्कर्ष की अवहेलना करके भौतिक सुख-साधनो की अधिक से अधिक प्राप्ति मे सलग्न है और इसी मे अपनी तथा विश्व की उन्नति मान बैठा है, इसी को परम कर्तव्य समझ रहा है। कर्त्तव्य और त्याग का महत्वपूर्ण स्थान आज अधिकार और अर्थ के द्वारा अधिकृत कर लिया गया है।

आवश्यकता— अत आज आवश्यकता इस बात की है कि हम भौतिक उन्नति को ही एकमात्र लक्ष्य न बनाएँ। विलासिता से दूर रह कर, कलह के मूल कारण काम-क्रोधादि के चक्रव्यूह से निकलने और मन की भ्रांतियो को समझने की चेष्टा करें। अत निर्मूल विवादो से ऊपर उठ कर मानव-जन्म के मूल्य को आकने और इसका परम लक्ष्य ढूढने का सत्प्रयास हो। परम शान्ति और सुख की प्राप्ति के लिए धर्म हमारे जीवन मे उचित स्थान प्राप्त कर हृदय परिवर्तन मे सहायक हो। धर्म अमर और अक्षुण्ण है। प्रभु-प्रेमियो के हृदयो मे सुरक्षित है। क्योकि मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियो मे से धार्मिक प्रवृत्ति ही एकमात्र ऐसी प्रवृत्ति है जो किसी मूल्य पर भी नष्ट नही हो सकती। रूपान्तर चाहे हो जाय। अत आज आवश्यकता है विज्ञान के ऊपर मानवता के मूल्यो और धर्म को प्रतिष्ठित करने की, विज्ञान को नियन्त्रित करने के लिए लोगो को परमार्थ के अनुसधान मे लगाना है।

डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन ने कहा था "यदि [illegible] बनाना है तो वह धर्म के आधार पर ही बनाया जा सकता है जिसकी [illegible] और प्रेम पर स्थित हो।"

धर्म का अर्थ— धर्म का अर्थ है — 'धारयति इति धर्मः' जो समाज को धारण किये हुए है। यह मनुष्यो का [illegible] करता है।

धर्म ही उसका आन्तरिक रूप है। इसे [illegible] कहा जाता है। कोई इसे 'नैतिक नियम' की संज्ञा देते है जिसके बिना मनुष्य [illegible] नही सकते। दूसरे इसे 'न्यायोचित व्यवहार' कहते है। यही धर्म [illegible] रूप भी लेता है, जिसे [illegible] मे मनुष्य की आयु, [illegible], योग्यता तथा परिस्थितियो का ध्यान रखा जाता है कि लोक-संग्रहार्थ विश्व भर के मनुष्यो [illegible] प्रेम [illegible] पर खडा किया जा सके।

धर्म का स्वरूप—शास्त्रो मे से उद्धरणो को प्रस्तुत करना, [illegible] समय भोजन करना, घुटनो के बल बैठना, शीर्षासन करना, जटाजूट धारण करना या सिर मुडा देना आदि अनावश्यक बातो को भ्रमपूर्वक हम धर्म मान बैठे है—और समाज के खर्चीले रीति रिवाजो को या केवल मदिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, गिरजा जाने मात्र को ही पर्याप्त समझ लेते हैं। धर्म केवल विश्वास नही, यह न कोई रोग है, न अफीम का नशा। यह तो जीवन का सत्त्व और सत्य है।

सामान्य धर्म मे उदारता, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, सरलता, सहिष्णुता, राग-द्वेषहीनता, निरासक्त भावना, गुरु आज्ञा पालन का समावेश है। मानव हृदय मे छिपे हुए पशुत्व के हनन में, मन के प्रशमन मे, सद्गुणो के विकास मे, निष्काम निस्वार्थ सेवा मे, मैत्री-सद्भावना आदि मिल कर धर्म को निर्धारित करते हैं। धर्म के बिना सदाचार लोक-शिक्षा, आध्यात्मिकता और जीवन के किसी भी क्षेत्र की पूर्ति नहीं हो सकती। धर्म जीवन का आधार है।

सभी अवस्थाओ मे सर्वत्र आत्मा का दर्शन करना, तथा इन्द्रियो के हर कार्य को आत्मानुभूति ही समझना, जीवन यापन करते हुए अपनी ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो को लोक-संग्रहार्थ समर्पण करना, ससार भर का हितैषी और परममित्र बनना, दलितो, पतितों, रोगियों और अपाहिजो की सेवा करना, इन्हें सहानुभूति और करुणा प्रदान करना, सेवा में समान दृष्टि रखना, राजा, रक, धनी, निर्धन को एक सतुलन मे परखना आदि ही धर्म का स्वरूप बतलाया गया है।

धर्म का मूल मन्त्र—आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

धर्म में समन्वयात्मक प्रकृति

वर्तमान दशा— आज ससार के रगमच पर बीसवी शताब्दी का भौतिक तांडव नृत्य हो रहा है जहा झोपडी से लेकर कस्बो, नगरो, प्रान्तो तथा देश-देशान्तरों तक पारस्परिक द्वेषाग्नि प्रज्वलित हैं। ससार एक ज्वालामुखी पहाड के किनारे पर खडा है, और हर समय यही डर बना रहता है कि यदि कहीं तीसरा महायुद्ध छिड गया तो इस बार ऐटम बम सर्वनाश करके ही दम लेंगे। विज्ञान अपनी सिद्धियो से स्वय भयभीत हो रहा है, अर्थशास्त्र अपने आकडो पर चकित हो रहा है। ऐसी परिस्थितियो मे मानवता दिग्भ्रान्त है। धर्म मानवता का पथ-प्रदर्शन कर ही नही पा रहा है। आज का मानव जीवन के पवित्रतम आध्यात्मिक उत्कर्ष की अवहेलना करके भौतिक सुख-साधनो की अधिक से अधिक प्राप्ति मे सलग्न है और इसी मे अपनी तथा विश्व की उन्नति मान बैठा है, इसी को परम कर्त्तव्य समझ रहा है। कर्त्तव्य और त्याग का महत्वपूर्ण स्थान आज अधिकार और अर्थ के द्वारा अधिकृत कर लिया गया है।

आवश्यकता— अत आज आवश्यकता इस बात की है कि हम भौतिक उन्नति को ही एकमात्र लक्ष्य न बनाएँ। विलासिता से दूर रह कर, कलह के मूल कारण काम-क्रोधादि के चक्रव्यूह से निकलने और मन की भ्रांतियो को समझने की चेष्टा करें। अत निर्मूल विवादो से ऊपर उठ कर मानव-जन्म के मूल्य को आकने और इसका परम लक्ष्य ढूढने का सत्प्रयास हो। परम शान्ति और सुख की प्राप्ति के लिए धर्म हमारे जीवन मे उचित स्थान प्राप्त कर हृदय परिवर्तन मे सहायक हो। धर्म अमर और अक्षुण्ण है। प्रभु-प्रेमियो के हृदयो मे सुरक्षित है। क्योंकि मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियो मे से धार्मिक प्रवृत्ति ही एकमात्र ऐसी प्रवृत्ति है जो किसी मूल्य पर भी नष्ट नही हो सकती। रूपान्तर चाहे हो जाय। अत आज आवश्यकता है विज्ञान के ऊपर मानवता के मूल्यो और धर्म को प्रतिष्ठित करने की, विज्ञान को नियन्त्रित करने के लिए लोगो को परमार्थ के अनुसधान मे लगाना है।

डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन के शब्दों में "यदि समस्त [illegible] का एक [illegible] बनाया है तो वह धर्म के आधार पर ही बनाया जा सकता है जिसमें आध्यात्मिकता [illegible] और प्रेम पर स्थित हो।"

धर्म का अर्थ— धर्म का अर्थ है — 'धारयति इति धर्म' जो समाज को धारण किये हुए है। यह मनुष्यों को आगे [illegible] [illegible] प्रदान करता है।

धर्म ही उसका आन्तरिक रूप है। इसे 'परम का ज्ञान' भी कहा जाता है। कोई इसे 'नैतिक नियम' की संज्ञा देते हैं जिसके बिना मनुष्य [illegible] नहीं रह सकते। दूसरे इसे 'न्यायोचित व्यवहार' कहते हैं। यही धर्म हमारे [illegible] का रूप भी लेता है, जिसे आंकने में मनुष्य की आयु, शक्ति, योग्यता तथा परिस्थितियों का ध्यान रखा जाता है कि लोक-संग्रहार्थ विश्व भर के मनुष्यों को एक प्रेम [illegible] पर खड़ा किया जा सके।

धर्म का स्वरूप—शास्त्रों में से उद्धरणों को प्रस्तुत करना, एक समय भोजन करना, घुटनों के बल बैठना, शीर्षासन करना, जटाजूट धारण करना या सिर मुंडा देना आदि अनावश्यक बातों को भ्रमपूर्वक हम धर्म मान बैठे हैं —और समाज के खर्चीले रीति रिवाजों को या केवल मंदिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, गिरजा जाने मात्र को ही पर्याप्त समझ लेते हैं। धर्म केवल विश्वास नहीं, यह न कोई रोग है, न अफीम का नशा। यह तो जीवन का तत्त्व और सत्य है।

सामान्य धर्म में उदारता, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, सरलता, सहिष्णुता, राग-द्वेषहीनता, निरासक्त भावना, गुरु आज्ञा पालन का समावेश है। मानव हृदय में छिपे हुए पशुत्व के हनन में, मन के प्रशमन में, सद्गुणों के विकास में, निष्काम निस्वार्थ सेवा में, मैत्री-सद्भावना आदि मिल कर धर्म को निर्धारित करते हैं। धर्म के बिना सदाचार लोक-शिक्षा, आध्यात्मिकता और जीवन के किसी भी क्षेत्र की पूर्ति नहीं हो सकती। धर्म जीवन का आधार है।

सभी अवस्थाओं में सर्वत्र आत्मा का दर्शन करना, तथा इन्द्रियों के हर कार्य को आत्मानुभूति ही समझना, जीवन यापन करते हुए अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को लोक-संग्रहार्थ समर्पण करना, संसार भर का हितैषी और परममित्र बनना, दलितों, पतितों, रोगियों और अपाहिजों की सेवा करना, इन्हें सहानुभूति और करुणा प्रदान करना, सेवा में समान दृष्टि रखना, राजा, रंक, धनी, निर्धन को एक संतुलन में परखना आदि ही धर्म का स्वरूप बतलाया गया है।

धर्म का मूल मन्त्र—आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

अध्याय १८

धर्म में समन्वयात्मक प्रकृति

वर्तमान दशा— आज ससार के रगमच पर बीसवी शताब्दी का भौतिक ताडव नृत्य हो रहा है जहा भोपडी से लेकर कस्बो, नगरो, प्रान्तो तथा देश-देशान्तरों तक पारस्परिक द्वेषाग्नि प्रज्वलित हैं। ससार एक ज्वालामुखी पहाड के किनारे पर खडा है, और हर समय यही डर बना रहता है कि यदि कही तीसरा महायुद्ध छिड गया तो इस बार ऐटम बम सर्वनाश करके ही दम लेंगे। विज्ञान अपनी सिद्धियो से स्वय भयभीत हो रहा है, अर्थशास्त्र अपने आकडो पर चकित हो रहा है। ऐसी परिस्थितियो मे मानवता दिग्भ्रान्त है। धर्म मानवता का पथ-प्रदर्शन कर ही नही पा रहा है। आज का मानव जीवन के पवित्रतम आध्यात्मिक उत्कर्ष की अवहेलना करके भौतिक सुख-साधनो की अधिक से अधिक प्राप्ति मे सलग्न है और इसी में अपनी तथा विश्व की उन्नति मान बैठा है, इसी को परम कर्त्तव्य समझ रहा है। कर्त्तव्य और त्याग का महत्वपूर्ण स्थान आज अधिकार और अर्थ के द्वारा अधिकृत कर लिया गया है।

आवश्यकता— अत आज आवश्यकता इस बात की है कि हम भौतिक उन्नति को ही एकमात्र लक्ष्य न बनाएं। विलासिता से दूर रह कर, कलह के मूल कारण काम-क्रोधादि के चक्रव्यूह से निकलने और मन की भ्रांतियो को समझने की चेष्टा करें। अत निर्मूल विवादो से ऊपर उठ कर मानव-जन्म के मूल्य को आकने और इसका परम लक्ष्य ढूढने का सत्प्रयास हो। परम शान्ति और सुख की प्राप्ति के लिए धर्म हमारे जीवन में उचित स्थान प्राप्त कर हृदय परिवर्तन मे सहायक हो। धर्म अमर और अक्षुण्ण है। प्रभु-प्रेमियों के हृदयो मे सुरक्षित है। क्योकि मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियो मे से धार्मिक प्रवृत्ति ही एकमात्र ऐसी प्रवृत्ति है जो किसी मूल्य पर भी नष्ट नही हो सकती। रूपान्तर चाहे हो जाय। अत आज आवश्यकता है विज्ञान के ऊपर मानवता के मूल्यों और धर्म को प्रतिष्ठित करने की, विज्ञान को नियन्त्रित करने के लिए लोगो को परमार्थ के अनुसधान मे लगाना है।

डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन के शब्दो मे "यदि समस्त विश्व का एक ढाचा बनाना है तो वह धर्म के आधार पर ही बनाया जा सकता है जिसकी आधारशिला सत्य और प्रेम पर स्थित हो।"

धर्म का अर्थ— धर्म का अर्थ है — 'धारयति इति धर्मः' जो समाज को धारण किये हुए है। यह मनुष्यो को आपस मे मिल कर रहने की शक्ति प्रदान करता है।

धर्म ही उसका आन्तरिक रूप है। इसे 'परम का ज्ञान' भी कहा जाता है। कोई इसे 'नैतिक नियम' की सज्ञा देते हैं जिसके बिना मनुष्य मिलकर रह ही नही सकते। दूसरे इसे 'न्यायोचित व्यवहार' कहते हैं। यही धर्म हमारे कर्त्तव्य का रूप भी लेता है, जिसे आकने मे मनुष्य की आयु, शक्ति, योग्यता तथा परिस्थितियो का ध्यान रखा जाता है कि लोक-सग्रहार्थ विश्व भर के मनुष्यो को एक प्रेम मच पर खडा किया जा सके।

धर्म का स्वरूप—शास्त्रो मे से उद्धरणो को प्रस्तुत करना, एक समय भोजन करना, घुटनों के बल बैठना, शीर्षासन करना, जटाजूट धारण करना या सिर मुडा देना आदि अनावश्यक बातो को भ्रमपूर्वक हम धर्म मान बैठे हैं —और समाज के खर्चीले रीति रिवाजों को या केवल मदिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, गिरजा जाने मात्र को ही पर्याप्त समझ लेते हैं। धर्म केवल विश्वास नहीं, यह न कोई रोग है, न अफीम का नशा। यह तो जीवन का सत्त्व और सत्य है।

सामान्य धर्म मे उदारता, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, सरलता, सहिष्णुता, राग-द्वेषहीनता, निरासक्त भावना, गुरु आज्ञा पालन का समावेश है। मानव हृदय मे छिपे हुए पशुत्व के हनन मे, मन के प्रशमन मे, सदगुणो के विकास मे, निष्काम निस्वार्थ सेवा मे, मैत्री-सद्‌भावना आदि मिल कर धर्म को निर्धारित करते हैं। धर्म के बिना सदाचार लोक-शिक्षा, आध्यात्मिकता और जीवन के किसी भी क्षेत्र की पूर्ति नहीं हो सकती। धर्म जीवन का आधार है।

सभी अवस्थाओं मे सर्वत्र आत्मा का दर्शन करना, तथा इन्द्रियो के हर कार्य को आत्मानुभूति ही समझना, जीवन यापन करते हुए अपनी ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो को लोक-सग्रहार्थ समर्पण करना, ससार भर का हितैषी और परममित्र बनना, दलितो, पतितों, रोगियो और अपाहिजो की सेवा करना, इन्हें सहानुभूति और करुणा प्रदान करना, सेवा में समान दृष्टि रखना, राजा, रक, धनी, निर्धन को एक सतुलन मे परखना आदि ही धर्म का स्वरूप बतलाया गया है।

धर्म का मूल मन्त्र—आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

रेडियो आदि वैज्ञानिक उपकरणो से विश्व हमारे अति निकट आ गया है, परन्तु वाहरी सामीप्य आतरिक शाति का साधन नहीं। केवल हृदयो मे परिवतन करके आन्तरिक सामीप्य अभीष्ट है। मानव हृदय मे शान्ति का उदय निमम और निरहकार होने से होगा। गगा स्वय शीतल है तभी दूसरो को भी शीतल करती है। अतएव जो कुछ अपने को प्रतिकूल जचे उसे दूसरो के प्रति नही वरतना चाहिए।

साधन—साधन की नींव आत्म सयम रूपी तपस्या पर ही डालनी होगी। इसका पुनीत अर्थ समझना होगा। किसी भी परिस्थिति में अपने आचरण तदनुसार ढालकर ही हम धार्मिक कहलाए जाने के अधिकारी होगे। हम अनुशासन आज्ञाकारिता आदि सद्गुणो का अर्जन करें, उनको दैनिक व्यवहार मे लाए। गीता के सोलहवें अध्याय मे वर्णित आसुरी सम्पदाओ का त्याग करें, स्वय तो अच्छे वनें ही, दूसरों को अच्छा वनायें, सभी परिस्थितियो मे सबके साथ समुचित व्यवहार करें। इस भौतिक ससार को परमेश्वर की महिमा का ससार ही मानें। इस ससार मे उसके विराट स्वरूप का दर्शन करें जिसके सहस्र वाहु ह। जनता जनादन की सेवा करें क्योकि यह ससार उसी की अभिव्यक्ति है जो अनेक नाम रूपो मे प्रकट हो रहा है। हमे सर्वभूत हितेरता को सामने रखकर सव नाम रूपो की सेवा करनी चाहिए। श्री स्वामी शिवानन्द जी के वचनो मे—सेवा, प्रेम, दान, आत्म शुद्धि, ध्यान और ज्ञान को धर्म का सार मान व्यवहार मे लावें। हाथो से कम, मन से भगवच्चिन्तन करे। मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा तो है ही। ईश्वर-साक्षात्कर घर मे, मैदान मे और सर्वत्र हो सकता है। घर और कार्यालय भी भगवान के मदिर हैं।

लक्ष्य-प्राप्ति तथा लाभ—परमात्मा के जगत् मे रहते हुए उसी के जगत् के माध्यम से आत्मा परमात्मा के ऐक्य के आनन्द की प्राप्ति होगी। यही परम पुरु-षार्थ है। इहलोक मे ही ब्रह्म मे निवास कर उस मे लीन रहना है। इसी को जीवन की मुक्तावस्था कहते हैं। अर्थ और काम को जो वरावर उचित स्थान दिया गया है, उसका उद्देश्य यही तो है कि धर्मपूर्वक अर्थ की प्राप्ति करके सव कामनाओ की धर्मा-नुसार पूर्ति के उपरान्त मोक्ष के अधिकारी वनें। धर्म को जीने की कला मानते हुए कठिनाई तो दीखती है पर है विल्कुल सभव। यदि हम इस साधन को अपना लें तो स्वर्ग को पृथ्वी पर ला सकते हैं। यह कोई दिवास्वप्न की वात नही, अपितु यथार्थ है जिसे जीवन मे क्रमश रूपान्तरित किया जा सकता है। तभी एकत्व की भावना पहिले परिवार, जाति, समाज, प्रान्त, देश से वढती विश्व-वन्धुत्व मे वदल जायेगी। इस पुण्य भावना को जाग्रत करने का उत्तरदायित्व शिक्षा-सस्थाओ तथा शिक्षा विभाग के अधिकारियों पर भी आता है।

धर्म और सस्कृति—योगिराज श्री अरविन्द के शब्दो मे अनन्त सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, एकमेवाद्वितीय ईश्वर ही एक शब्द मे भगवान् ही—जीवमात्र का गूढ

ध्येय और परम लक्ष्य है। अतएव वही व्यक्ति तथा समाज के सभी अंगा और सभी प्रवृत्तियो के सम्पूर्ण विकास का उद्देश्य है—इसलिए तर्क-बुद्धि हमारी परम-पथ प्रदर्शिका नही हो सकती । संस्कृति अपने साधारणत समझे जाने वाले अर्थों मे मार्ग-दर्शक ज्योति नही हो सकती है । क्योकि तर्क-बुद्धि भगवान से इधर ही रह जाती है। तथा जीवन की समस्याओ से समझौता भर कर लेती है। संस्कृति को यदि भगवान की प्राप्ति करनी है तो उसे आध्यात्मिक संस्कृति ही वना रहना होगा। बौद्धिक, सौन्दर्योपासक नैतिक एव व्यावहारिक शिक्षण को अधिक ऊंची कोटि की चीज वनना होगा अन्यथा हमे पथप्रदर्शक प्रकाश तथा नियामक एव समन्वयकारी सिद्धान्त कहा उपलब्ध होगा ? इसका सर्वप्रथम उत्तर जो हमारे मन मे आयेगा और जो एशिया के विचारको ने दिया है, यह है कि वह प्रकाश और सिद्धान्त हमे सीधा धर्म में ही उपलब्ध होगा। यही उत्तर युक्तियुक्त तथा संतोषजनक जान पड़ता है। धर्म मनुष्य के अंदर की एक ऐसी प्रधान प्रेरणा भावना, प्रवृत्ति एव विधि व्यवस्था है जिसका लक्ष्य स्पष्ट रूप मे भगवान् ही है । मनुष्य की अन्य प्रवृत्तिया परोक्ष रूप मे उन्हे ही अपना लक्ष्य बनाती प्रतीत होती है । जगत की वाह्य एव अपूर्ण प्रतीतियों के पीछे चिरकाल भटक-भटक कर ठोकरे खाने के वाद व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक होगा कि समस्त जीवन को धर्ममय वना कर सब काम काज धार्मिक भावना के अनुसार ही चलाया जाये। १९५९ के शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में इस धर्ममय जीवन की शिक्षा की आवश्यकता पर तो वहुत ही वल दिया है।*

भारत की राजनीति ही क्या कोई भी नीति धर्म से पृथक् कभी नही रही। भारत का धर्म तो इस की प्रत्येक नीति से युक्त रहा । एक महात्मा ने यह कहा है धर्महीन राजनीति विधवा है और राजनीति से रहित धर्म विधुर है। देश की वर्तमान स्थिति मे ऐसे राग-द्वेष हीन धर्म परायणा, कर्मठ, निर्भीक नेताओ की आवश्यकता है जो पदलोलुपता के कीचड से निकाल कर केवल जनता जनार्दन की सेवा द्वारा देश कल्याण मे रत हो सकें।

---

*Religion should come as a sense of fulfilment of this primary need of man In a sense religion is the most secular of all pursuits No real religion will submit to separation from life If we exclude spiritual educational training in our institutions we would be untrue to our national development To be secular is not to be religiously illiterate It is to be deeply spiritual, and not narrowly religious
—University Education Commission report 1959

रामकृष्ण परमहंस

जन्म—बंगाल प्रान्त के हुगली जिला कामारपुकुर ग्राम मे एक ईश्वर प्रेमी सनातनी ब्राह्मण घराने में १७ फरवरी १८३६ को एक अद्‌भुत बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम गदाधर चट्‌टोपाध्याय रखा गया। यही बालक आगे चलकर विश्वविख्यात रामकृष्ण परमहंस कहलाये। मानो बीसवीं शताब्दी के पूर्व और पश्चिम के सभी लोगो की आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वह आये। क्योकि श्री स्वामी दयानन्द जी या राजा राममोहन राय जी हिन्दुत्व की रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व न ले सके थे।

प्रारम्भिक जीवन—यह चार साल की आयु से ही समाधिस्थ होने लगे। पुस्तकीय विद्या से अरुचि होने के कारण ग्रामीण प्राइमरी पाठशाला से उनकी शिक्षा समाप्त हो गई, परन्तु अपने अनुकरणीय चरित्र, मधुर सुरीले स्वर, अपूर्व आनन्द-मय अनुभव, असाधारण बुद्धि, अलौकिक व्यक्तित्व तथा सभी जातियो के लोगो से निष्काम प्रेम के कारण वे आस-पास के समस्त ग्राम निवासियो की प्रशसा तथा भक्ति के पात्र हो गये।

साधना—जब इनके बड़े भाई रासमणि कलकत्ते के दक्षिणेश्वर मंदिर मे प्रधान पुजारी नियुक्त हुये, यह १८५६ मे उनके सहायक बने और उनकी मृत्यु के पश्चात् इन्होंने पूजा का सारा भार उठा लिया। हिन्दू-धर्म के विभिन्न अंगो अद्वैत, द्वैत, शैव, शाक्तादि की साधना बारह वर्ष चलती रही। यही पर इन्होंने तपस्या तथा त्याग का जीवन आरम्भ किया। इन्होंने श्री तोतापुरी जी से सन्यास ग्रहण किया जिन्होंने इनका रामकृष्ण नाम रक्खा। इन्होने तान्त्रिक साधना भी की। तदुपरान्त इस्लाम धर्म तथा इसाई धर्म के अनुयायियो की भांति भी कई वर्ष उपासना की और प्रत्येक विशिष्ट धर्म के सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त किया, और साधना द्वारा प्राप्त अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो का सार-तत्त्व मानव जाति को दिया।

जीवन का उद्देश्य—अब उनका एकमात्र ध्येय था, परमात्मा को विश्व का माता पिता सिद्ध करना तथा इस प्रकार स्त्री के आदर्श को जगदम्बा माता के पद पर प्रतिष्ठित करना। जीवन भर अपनी पत्नी को मानवी रूप मे काली माता ही समझने का एकमात्र उदाहरण केवल परमहंस जी का ही है। इन्होंने दिखा दिया कि किस प्रकार कोई सच्चा आत्मज्ञानी इन्द्रियो के विषयो से बाहर होकर ही परमा-नन्द मे लीन रह सकता है और कैसे आत्मा ब्रह्मत्व को प्राप्त करने मे समर्थ है। विभिन्न सम्प्रदायो के मूल मे सैद्धान्तिक एकता दिखाकर उनमे मेल स्थापित करना ही उनके जीवन का उद्देश्य रहा।

सिद्धान्त—समस्त धर्म एक नित्य सत्य की ओर ले जाने वाले विभिन्न मार्ग हैं। परमात्मा एक हैं, किन्तु उनके रूप अनेक हैं। वह निराकार भी है और साकार भी और दोनो से परे निर्गुण भी हैं। आप इन्द्रिय जन्य तथा बौद्धिक ज्ञान पर अनुभूति-जन्य ज्ञान की विजय के मूर्तिमान् प्रमाण हैं।

प्रभाव—उनको सभी विचार काली मा से प्राप्त होते थे। इनमे मानवीय बुद्धि, सस्कार अथवा पाडित्य का सम्मिश्रण नही था। जन्म से लेकर मृत्यु तक उनका प्रत्येक काय असाधारण था। उनके चरित्र और उपदेश अलौकिक एव चमत्कार पूण थे। वह स्पर्श मात्र से ही किसी भी पापी के चरित्र को अपनी देवी शक्ति द्वारा पलट देते थे। अपनी आत्मिक-शक्ति दूसरो मे डालकर उन्हे ईश्वर के दर्शन करा देना उनके वाये हाथ का खेल था। इसके उदाहरण, नास्तिक नरेन्द्र को जो वाद मे श्री विवेकानन्द के नाम से जगत् मे विख्यात हुए, कौन नही जानता ? जिन्होंने बाद मे अपने गुरुदेव के मिशन के प्रचारार्थ रामकृष्ण मिशन की स्थापना करके विश्व भर में उनके अमर उपदेशो का प्रचार किया।

उनके १६ अगस्त १८८६ को ब्रह्मलीन होने के १० वप के भीतर ही भूतपूर्व प्रोफेसर सी० एच० टानी ने लन्दन के इम्पीरियल और Quarterly Review के सन् १८९६ ई० के जनवरी के अ क मे एक आधुनिक हिन्दू सन्त (श्री रामकृष्ण) शीर्षक लेख छपवाया था।

इसी प्रकार प्रो० मैक्समूलर ने भी सन् १८९६ ई० के नाइन्टीन्थ सेंचुरी नाम की अ ग्रेजी पत्रिका के अगस्त अक मे A Real Mahatma (एक वास्तविक महात्मा) के शीर्षक से परमहस जी के जीवन सक्षिप्त परिचय लिखा और वाद मे Ramakrishna—His Life & Sayings नाम की पुस्तक लिखी। न्यूयाक की वेदान्त सोसाइटी ने १९०३ में Sayings of Ramakrishna और १९०७ में Gospel of Ramakrishna नामक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इस सदेश के वाद मे यूरोप की स्पेनिश, पुर्तगीज, डेनिश स्कैंडिनेवियन और जेकोस्लवाकी भाषाओ मे अनुवाद हुए।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द एक महान् धर्मदूत थे। रोम्या रोला के शब्दों मे गान्धी, रवीन्द्र और अरविन्द की साधना का श्रेय उन्हीं को है। रामकृष्ण परमहस की चरणकृपा की ज्योति के विस्तार से उन्होंने अविद्या अन्धकार का नाशकर आत्मगत सत्य की

चेतना से मानवता का कल्याण किया। भविष्य मे आने वाले भारत को उनके तप, त्याग, निष्ठा और ज्ञान से प्रेरणा मिलती रहेगी।

देश की स्थिति—बीसवी शताब्दी मे भारतीय इतिहास के उस विकट सकट काल मे जब हम अपने देश, धर्म, सस्कृति के जातीय धर्म गौरव को भूलकर, उसे नितान्त त्याज्य समझ पाश्चात्य भौतिक सभ्यता का अन्धानुकरण करने मे तल्लीन थे, ऐसे अज्ञान अधकार के समय मे स्वामी विवेकानन्द ने पथ भ्रष्टो का अपनी ज्ञान ज्योति से मार्ग-प्रदर्शित कर अपनी अमृत वाणी से करोडो भारतीयो को प्रबुद्ध कर उन्हें गौरवशाली बनाया।

जन्म एव बाल्यकाल—१२ जनवरी, १८६३ को मकर-सक्राति के पुण्य अवसर पर कलकत्ते मे श्रीमती भुवनेश्वरी देवी ने एक अलौकिक पुत्र को जन्म दिया जिनको नरेन्द्र दत्त के नाम से अभिहित किया गया। इनके पिता विश्वनाथ दत्त (एक सुप्रसिद्ध वकील) पाश्चात्य बुद्धिवाद के पुजारी थे। इनको विरासत मे जहा पिता से बुद्धिवाद मिला, वहा माता से धर्म प्रेरणा मिली। बचपन से ही नरेन्द्र मे धार्मिक पिपासा थी।

व्यक्तित्व—उनकी वज्र के सदृश पुष्ट काया अपूर्व ज्योति से ज्योतित थी। वाणी मे माधुर्य एव अमृत बरसता था। उसका सान्निध्य दिव्य-प्रभाव से युक्त था। वे धार्मिक कथाप्रेमी, उदार, सयमी, विवेकी, सेवाव्रती, ईश्वर, धर्म, देशप्रेम विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न एव सत्यनिष्ठ थे। परदु खकातर स्वभाव वाले नवनीत हृदय थे। आत्म-विश्वासी एव वक्तृत्व शक्ति से युक्त थे। नरेन्द्र को व्यायाम, कुश्ती सगीत एव अभिनय मे विशेष रुचि थी। इन्होने कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। इनकी प्रतिभा अपूर्व थी।

साधना काल—नरेन्द्र तर्कशील होने के कारण किसी भी बात को श्रद्धा के आधार पर न मानकर, विवेक की तराजू पर तोल कर स्वीकार करते थे। आरम्भ मे ब्रह्मसमाज से प्रभावित हुए। शाकाहार, परिमित भोजन, भूमिशयन और देशी पहरावा उन्होंने अपनाया। पर उससे सत्य की जिज्ञासा शान्त न हुई। प्रखर बुद्धि साधना मे समाधान् न पाकर नास्तिक हो चली।

रामकृष्ण से भेंट—वे एक ऐसे तत्त्वदर्शी की खोज मे थे जो उन्हे परम सत्य का साक्षात्कार करवा दे। ऐसी घोर निराशा के समय नवम्बर १८८१ ई० मे इनका श्री रामकृष्ण परमहस से प्रथम साक्षात्कार हुआ। इनसे सुमधुर गीत सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए। परमहस जैसे जौहरी ने रत्न को परखा। रामकृष्ण ने कहा

तुम नर रूप मे अवतरित नारायण हो, जीवो के कल्याण के लिए तुमने देह धारण की है। नरेन्द्र को यह सब बातें अनगल प्रतीत हुई। बुद्धिवादी नरेन्द्र एकदम प्रभावित न हुआ। एक दिन रामकृष्ण से पूछा गया आपने कभी ईश्वर को देखा है? उन्होंने उत्तर दिया मैंने तो उसे देखा जैसे मैं तुम्हें अपने सामने देख रहा हूँ। श्री रामकृष्ण से प्रभावित हो गुरुदीक्षा लेकर ७ वर्ष तक उनके चरणो मे अध्यात्म विद्या प्राप्त की। उन दिव्य महापुरुष के सम्पर्क से नरेन्द्र बदलगया। उनको एक महान् दिव्य अनुभव हुआ। कहा जाता है कि उनसे शक्ति प्राप्त होने पर कुछ दिनों तक नरेन्द्र उन्मत्त से रहे। उन्हें गुरु ने तत्त्व-दर्शन करा दिया था।

१८८४ ई० मे पिता की मृत्यु के परिणाम स्वरूप उत्पन्न परिस्थितियो से घबराकर नरेन्द्र ने निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहा किन्तु कर्म क्षेत्र से भागने की अनुमति गुरुदेव ने नही दी।

परिव्राजक विवेकानन्द—१५ अगस्त १८८६ ई० को श्री रामकृष्ण परमहस ने अपनी नर-लीला सवरण की। तत्पश्चात् इन्होने २५ वर्ष की अवस्था मे सन्यास के काषाय वस्त्र धारण कर लिये। परिव्राजक बन देश भ्रमणार्थ चल पडे। उत्तर मे श्री अमरनाथ से लेकर भारत के सभी तीर्थ-स्थलो की यात्रा की, जिसमे कन्या कुमारी की यात्रा का इनके जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् शिव की प्राप्ति हेतु तपस्विनी कन्या कुमारी की एक तपशिला है जो समुद्र के तट से दो फर्लांग दूर, समुद्र के भीतर आज भी विद्यमान है। कन्या कुमारी के श्रीचरणो से अंकित इस शिला का नाम श्रीपादशिला है। इस शिला पर स्वामी जी दो दिन, दो रात अटूट समाधि में लीन रहे थे।

शिकागो मे—वसुधैव कुटुम्बकम् के अनुयायी स्वामी विवेकानन्द ने १८९३ ई० में शिकागो (अमेरिका) नगर में होने वाले विश्व धर्म सम्मेलन मे भारतीय सस्कृति का शखनाद करने की इच्छा से भौतिकवादी देश अमेरिका के लिये प्रस्थान किया। विश्व-धर्म-सम्मेलन मे जब प्रवेश किया तो देश-देश के धर्म-प्रतिनिधि उनके दिव्य सौन्दर्य को देख विमुग्ध हो गए। जिस समय उन्होंने उपस्थित जनता को बहिनो और भाइयो के रूप मे सम्बोधित किया तो उस समय अमेरिका का मस्तक भारतीय सस्कृति और आध्यात्मिक ज्योति के मूर्तिमान् स्वामी विवेकानन्द के चरणो पर श्रद्धा और भक्ति से प्रेम और आदर से विनत हो गया। उन्होने अपने सक्षिप्त भाषण मे धर्म का विचार प्रकट किया। परमहस श्री रामकृष्ण के शब्दो में उन्होंने दुहराया कि सभी धर्म सत्य हैं और वे ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न उपाय मात्र है। आज से धर्म

ध्वजाओ पर लिख देना चाहिये कि युद्ध नही सहयोग, भेद नही सामजस्य। उन्होने अमेरिका मे सिंहनाद किया कि हिन्दू धर्म विश्व धर्म है। ससार के सभी उपस्थित दार्शनिक और तत्वज्ञानी विद्वान् उन पर मुग्ध हो गये। उन्ही का व्यक्तित्व था जिसने भारत एव हिन्दू धर्म के गौरव को प्रथम बार विदेशो मे जागृत किया।

अमेरिका के अग्रणी दैनिक न्यूयार्क हैरल्ड ने लिखा कि शिकागो धर्म सभा मे विवेकानद ही सर्वश्रेष्ठ धम व्याख्याता हैं। धर्म-मार्ग मे इस प्रकार के समुन्नत राष्ट्र भारत में यहाँ से धर्म-प्रचारको को भेजना निरी मूखता है। प्रेस ऑफ अमेरिका ने लिखा कि हिंदू धर्म व दर्शन के आचार्य स्वामी विवेकानन्द सभी सभासदो मे अग्रगण्य है। उनकी वाणी में जादू का सा प्रभाव है। तथापि ईसाई धर्म के अनेक धर्माचार्य वहा उपस्थित थे। उन सभी के भाषण स्वामी जी के व्याख्यानो के सामने फीके पड गये। स्वामी जी ने धर्म तत्त्वो की ऐसी प्रस्थापना की कि वे श्रोता-मण्डली के हृदय पर गभीरता से अ कित हो गये।

अमेरिका तथा इ ग्लेंड मे इनके कई अनुनायी वन गये। प्रसिद्ध कुमारी मार्गरेट नोवल विदुषी महिला स्वामी जी की शिष्या वनकर भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुई। १८९६ ई० मे योरुप होते हुए भारत लौटे। जर्मनी मे वे वेदो के विद्वान मैक्समूलर से भी मिले।

भारत मे—सेवियर दम्पति सहित स्वामी जी अपनी जन्मभूमि भारत लौटे। भारत मे स्थान-स्थान पर उनका भव्य स्वागत हुआ। उन्होने केवल अध्यात्मवाद की ओर ही भारतीय लोगो का ध्यान आकर्पित नही किया वल्कि भारत की सामाजिक अवस्था सुधारने का भी प्रयत्न किया। उनका कथन था भारत का जीवन उसकी आध्यात्मिकता मे निहित है।

भारत की मुक्ति सेवा और त्याग पर अवलम्वित है। दरिद्रनारायण के प्रति देश की उपेक्षा पर जनता को फटकारते हुए उन्होने कहा कि दरिद्रनारायण की उपेक्षा राष्ट्रीय पाप है। ईश्वर तो इन्ही पीडित जनो में निवास करता है। धर्म एव तत्त्व ज्ञान के समान भारतीय स्वतत्रता की प्रेरणा का भी उन्होंने नेतृत्व किया। वे कहा करते थे, मैं कोई तत्त्ववेत्ता नही हूँ, न तो सत या दार्शनिक ही हूँ। मैं तो गरीव हूँ और गरीवो का अनन्य भक्त हूँ। मैं तो सच्चा महात्मा उसे कहूँगा, जिसका हृदय गरीवो के लिए तडफता हो। इस प्रकार भारत मे, अशिक्षा, अज्ञान, अकर्मण्यता और दैन्य को दूर भगाना चाहते थे। वे युग प्रवर्तक थे। "वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय" ही उनकी मत्र-दीक्षा थी। पिण्ड मे ही परमेश्वर का साक्षात्कार करते थे। उन्होंने सर्वात्मभावेन अपने को गुरु कार्य के लिये समर्पित किया था। उनके जीवन में कम, भक्ति और ज्ञान की

त्रिवेणी प्रवाहित हुई थी। इस प्रकार कई भाषणो द्वारा अपने भारत में एक नयी चेतना का सृजन किया। उन्होने हमारी सोयी हुई आत्मा को प्रवुद्ध किया। स्वामी जी हमारे धम और सस्कृति के अथक साधक थे।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना—१८९७ मे, परमहस के सिद्धान्तो के स्थाई प्रचार हेतु एव मानव मात्र के कल्याणाथ, रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई। मानव की शारीरिक, मानसिक एव पारमार्थिक उन्नति करना मिशन का उद्देश्य निश्चित हुआ। सवधम, सम भाव इसका व्रत निश्चित हुआ। सवसम्मति से प्रथम सभापति स्वामी विवेकानन्द वने। भारत मे तथा अमेरिका मे रामकृष्ण मिशन की अनेक शाखायें स्थापित हुई।

स्वामी रामतीथ से भेंट—आपकी लाहोर मे गणित के प्राध्यापक तीथराम से भेंट हुई। उन्होंने प्रभावित हो आपको एक घडी भेंट की। स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर वापिस उनकी जेव म रखते हुये वेदान्त की भाषा मे कहा मित्र, इस घडी का उपयोग मैं इसे इस जेव मे ही रखकर करूँगा। पश्चात् सव कुछ त्याग तीथराम सन्यासी का जीवन स्वीकार कर स्वामी रामतीथ नाम से प्रसिद्ध हुए।

निर्वाण—४ जुलाई, १९०२ को ३० वष की अल्पायु मे भारतीय धम एव सस्कृति के प्रणेता, कुशल प्रचारक, सरक्षक, योगिराज, महासमाधि मे लीन हो गए।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

साधारणतया देवी सरस्वती और लक्ष्मी की कभी भी नहीं पटती, परन्तु वगाल के ठाकुरो का एक परिवार इसका अपवाद था। जिसमे ऐश्वय के साथ-साथ दाशनिक चिन्तन साहित्य-साधना, कला सेवा, समाज सेवा आदि के शुभ काय सदैव सुचारु रूप मे चलते थे। रवीन्द्र ने ऐसे कुल मे १७ मई १८६१ को जन्म लिया। उनके शैशव काल मे ही कविता को प्रोत्साहित करने वाले भाई-बहनो के रूप मे कला विनोदियो तथा साहित्य प्रेमियो की गोष्ठिया होती रहती। पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ जी तथा राममोहन राय हाफिज की फारसी की कवितायें प्रेमपूवक गाते रहते थे।

*हाफजागर वस्ल ख्वाही, सुलह कुल वाखासो आम।
वा मुसलमा अल्लाह अल्लाह, वा ब्राह्मण राम राम॥

---

*हाफिज अपने आप को कहते हैं कि यदि तुम्हें आत्मसाक्षात्कार करना है तो हर एक से मेल मिलाप रख। मुसलमानो को अल्लाह और ब्राह्मणो को राम राम कहा कर।

अर्थात् यदि प्रभु से मिलना चाहते हो तो सबसे शान्ति और प्रेम का व्यवहार रखो।

रवीन्द्र को यह सारा वैभव बधन-सा महसूस होता। वे गम्भीर और चिन्तन-शील बनते गये और उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती गयी। एकान्त-प्रियता बढती गयी। गाव की निस्तब्धता तथा उन्मुक्त आकाश की मेघ-मालाओ से वे सतत प्रेरणा लेते रहते। जब उपनयन सस्कार के बाद पिता डलहोजी ले गये तो वहा प्रकृति की नैसर्गिक शोभा से प्रभावित होने पर उनकी आत्मा से कविता प्रस्फुटिक हो पडी। चार-पाच वर्षों ही मे इतना कुछ रचा कि बगला प्रेमियो के तो वे आकर्पण केन्द्र ही बन गये।

इनकी विदेश यात्राओ का प्रारम्भ लन्दन से हुआ, जहा के विश्वविद्यालयो से कानून की डिग्री लेने के साथ-साथ इन्होने अग्रेज़ी कवियो का अध्ययन भी किया।

रचनाएँ— बगला एव अग्रेजी भाषा मे लिखित उनकी अनेक रचनाए हैं। कवि कामिनी, पृथ्वीराज-पराजय, भग्न हृदय, सध्या तथा प्रभात-सगीत, मायार खेला, विसर्जन, चित्रांगदा, पोस्टमास्टर आदि लिख कर बगला साहित्य को खूब सजाया। साहित्य के हर क्षेत्र मे उनकी पहुँच है। उनकी सर्वश्रेप्ठ रचना गीताजलि मानी गई है। जब फिर १९१२ मे महाकवि ने विलायत यात्रा की तो आयरलैण्ड के कवि यीट्स ने पाश्चात्य विद्वानो का ध्यान उनकी गीतांजलि की ओर आर्कपित किया जिसके फलस्वरूप गीताजलि विश्वविश्रुत नोबल-पुरस्कार से सम्मानित हुई। विश्व ने भारत के इस रत्न रवीन्द्रनाथ को "विश्व कवि" स्वीकार किया। भारत के सपूत ने इस प्रकार मातृभूमि का मान बढाया।

विश्व-बन्धुत्व की भावना— भारत-भूमि से उन्हे बहुत अनुराग था तभी जलियावाला बाग के काण्ड के विरोध मे "सर" की उपाधि लौटा दी थी, पर उन्हे सकुचित राष्ट्रीयता से घृणा थी। उनका परम ध्येय मानव-मात्र का कल्याण था। तभी तो उन्होने अनेक बार विदेश यात्राओ का कष्ट सहर्प उठाया जिनका महत्व उनकी रचनाओ के महत्व के समान ही है। इनकी यात्राओ का उद्देश्य — विश्वबन्धुत्व — 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावना का प्रसार तथा पूर्व पश्चिम का मिलाप कराना था। सारा विश्व एक परिवार है, ऐसी उनकी मान्यता रही, और इसी भावना को जगत् भर मे जाग्रत करना चाहते थे।

कवीन्द्र रवीन्द्र भगवान् को सर्वोत्कृष्ट कलाकार मानकर इस ससार को उनकी कला की सर्वोत्तम कृति समझते रहे। इसी मे भगवान् के सौंदर्य का दर्शन करते और इसी सौंदर्य के पुजारी बनकर अपने भावो को काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त करने मे आनन्द लेते। वे इसी सौंदर्य को सत्य तथा शिव का अविभाज्य अङ्ग मानकर दर्शन करके प्रसन्न होते थे।

विश्व को देन—सन् १९०७ मे सपत्नीक वे अपने पूर्व पुरुषो की तपोभूमि "शान्ति निकेतन" में पहुँच गये जहा उन्होने भारतीय प्रणाली पर वोलपुर ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना की। थोडे ही समय बाद वह विश्व भारती जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था बन गयी। उसे सुचारु रूप से चलाने मे आर्थिक कठिनाई को दूर करने के लिये इसीपर उन्होने अपनी सारी चल, अचल सम्पत्ति सहर्ष लगा दी। भगवान जिस पर अति कृपा करते हैं उसके सारे बाह्य प्रसन्नता के केन्द्र हरण कर लेते हैं। एक ही वर्ष मे अर्द्धांगिनी, दो बच्चे, पूज्य पिता और एक मित्र स्वर्ग सिधारे। यह सारे आघात इस स्वर्ण के पुतले को तपा कर कुदन ही बनाते चले गये। पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त शान्तिनिकेतन विश्वविद्यालय मे आज विश्व के कोने-कोने से कई ज्ञान पिपासु विद्या पाने के हेतु प्रवेश पाकर अपनी जिज्ञासा को तृप्त कर गौरव अनुभव करते हैं।

'महात्मा' और 'गुरुदेव' की उपाधियो का आदान-प्रदान— कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ जब गाधी जी का परिचय हुआ तो देश के भविष्य के बारे मे बात चल पडी। गांधी जी ने कहा—'मेरी यह तपस्या केवल हम लोगो के लिये नही है, मैं चाहता हू कि यह स्वाधीनता सबके लिये हो। भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर भी यदि पृथ्वी के अन्य देश पराधीन बने रहे तो मुझे चैन न मिलेगा, और मै समझूगा कि अभी हमें स्वाधीनता नही मिली। इसलिये मेरी साधना सबकी मुक्ति की साधना है।"

रवीन्द्र ने उत्तर दिया—"इसलिये तो आप महात्मा हैं। उपनिषद् मे लिखा है—जो समग्र विश्व की साधना करते हैं वे ही तो यथार्थ महात्मा हैं, बोधिसत्व लोग तब तक स्वयं बोध पाने की इच्छा नही रखते, जब तक समस्त प्राणियो को बोधिलाभ न हो जाय, भक्तों ने भी अकेले मुक्त होने को ग्रहणीय नही माना है। आपने जो सकल्प किया है, वह इस महान् परम्परा के अनुकूल ही है।"

गाधी जी ने कहा—"आपने मुझे 'महात्मा' कहा, लेकिन मैं जानता हू कि मैं अभी इस पद को प्राप्त करने योग्य नहीं हुआ। आपको ऐण्ड्रूज साहब व मित्र-गण 'गुरुदेव" कहा करते हैं आज से मैं भी आपको गुरुदेव ही कहूगा। मुझे आशा है कि आप सदैव हमारी भूल-चूक बताते रहेंगे और हमे रास्ता दिखाते रहेंगे। आज से मैं आपको परम आत्मीय रूप मे ग्रहण करता हू।"

रवीन्द्र का उत्तर था—"यहा के लोग मुझे 'गुरुदेव' कहा करते हैं, मैं उन्हें रोक नही पाता, लेकिन उनके साथ आप क्यों इस सम्बोधन से मुझे बुलायेंगे? यहाँ चारो ओर जो दुर्गति और प्रतिकूलता वर्तमान है उसके उन्मूलन के लिये हमे एक दूसरे की आवश्यकता है।"

अन्तिम सदेश— ८१ वर्ष की अवस्था मे रोग शय्या पर पडे-पडे भी उन्होंने मानवता के नाम "सभ्यतार सकट" शीर्षक का एक ओजस्वी, प्रेरणादायक सदेश देश के नाम लिखा। अन्त मे ७ अगस्त १९४१ को विश्व-कवि गुरुदेव ने कलकत्ता महानगरी मे इस पार्थिव शरीर को छोडा। तब अकेले बगाली नहीं रोये, भारतीय नहीं रोये परन्तु विश्व-भर की सारी मानवता ही रोयी।

एनी बेसेंट

बीसवी शती के आरम्भ मे जिस समय भारतीय नवयुवक पाश्चात्य सस्कृति का अ धानुकरण कर रहे थे और भारतीय नेताओ के पथ प्रदर्शित करने पर भी नहीं मानते थे, ठीक उसी समय देव-कृपा से श्री एनी बेसेंट का लन्दन से भारत मे आगमन हुआ। इन्होने सशक्त स्वरो मे घोपणा की कि जहा पाश्चात्य देशो मे धार्मिकता का दिवाला निकल रहा है, वहाँ उपनिपदो पर आधारित भारतीय सस्कृति अपनी चरम सीमा पार कर चुकी है।

भारतीय सस्कृति के प्रति अटूट प्रेम रखने वालो मे एनी बेसेंट का नाम अत्यन्त श्रद्धा और आदर से लिया जाता है। आप उच्च कोटि की भगवद्-भक्त एव आस्तिक महिला थी।

यद्यपि आप का जन्म आयरलैण्ड मे एव पालन-पोपण इगलैंड मे हुआ था, फिर भी इनके जीवन का दो-तिहाई भाग भारत मे ही बीता।

लन्दन की थियोसाफिकल सोसाइटी मैडम ब्लैवेटस्की से उनकी जब भेंट हुई तो वह थियासाफी के सिद्धान्तों की ओर पूणतया खिच गयी। सोसाइटी की सेवा ही उनके जीवन का एकमात्र ध्येय हो गया।

भारत के वसुधैव कुटुम्बकम् की नीति के अनुसार एनी बेसेंट ने भारत का अपना कार्यक्षेत्र चुना। विश्व भर का कल्याण करना इस सोसाइटी का उद्देश्य था। सन् १९२१ में इन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Hinduism लिखी और जनता-जनार्दन की सेवा मे उतर पडी। इन्होने इसी को भगवद् सेवा माना। इनका जीवन भारतमय रहा। उनका भारत श्री भगवान का दिव्य-विग्रह था। उसकी सेवा वह ईश्वर की आराधना और उपासना के रूप मे करती थीं।*

वास्तव मे वे एक भौगोलिक भूल थी। उनका जन्म भारत मे होना चाहिए था क्योंकि मन से वे भारतीय थी।

---

* I love India as my own Mine is India with whom all my hopes of future and memories of the past are bound up —A Besant

धार्मिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में उन्होंने भारत भूमि के उन्नति के लिये शुभ प्रयत्न किया। संसार को भारतीय और ईश्वर भक्ति के रंग में रंग देना उनके जीवन का पवित्र उद्देश्य बन गया।

भारतीयों की शिक्षा की उन्नति के लिये इन्होंने काशी में सैण्ट्रल हिन्दू कालेज खोला जिसे बाद में विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये श्रीमदनमोहन मालवीय जी के चरणों में श्रद्धापूर्वक समर्पित कर दिया। उन्होंने भारतीयों को स्वशासन, आत्मसम्मान और आत्म ज्ञान की शिक्षा दी।

इन्होंने भारतीय अध्यात्म-विद्या के प्रचार के लिये भारत और योरुप के कोने कोने का भ्रमण किया। वे नवीन भारत की जननी थीं।

बड़े-बड़े त्यागी और कर्मठ विद्वान् आपके सेवा-भाव से प्रभावित होकर आप के अनुगामी हो गये थे। आपकी सात्विकता, प्रेममय जीवन की पवित्रता को देख जनता आप में माँ की भाँति श्रद्धा रखने लगी थी। आपका खानपान पूर्णतया निरामिष था।

आप प्रवीण वक्ता, सुन्दर लेखिका, प्रभावशाली नेता, सफल सुधारिका, कुशल प्रबन्धकर्त्री थीं। आपके विचार और कर्मों की उच्चता में समानता थी। आपमें असाधारण नैतिक बल था। गीता पर आधारित उनका कर्मयोग आसक्ति-रहित था। उनकी लिखित भगवद्गीता अनुवाद सदैव उनकी स्मृति बनाये रखेगी।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही आपने भारत के राजनीति क्षेत्र में भाग लेना आरम्भ कर दिया था, क्योंकि भारत की दासता उनके लिये असह्य थी। महात्मा गांधी ने आपके विषय में अपने ये उद्गार प्रकट किये थे—

"जब तक भारतवर्ष जीवित है, लोग श्री एनी बेसेंट की गौरवपूर्ण सेवाओं और कार्यों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते रहेंगे।*

रवीन्द्रनाथ टैगोर भारत के प्रति आपके अद्वितीय प्रेम को एवं आपकी निर्भयता को सराहते नहीं अघाते थे।

---

*डा० ए० बेसेंट के महान् गुणों का अपने में विकास कीजिए। वे जिस बात में विश्वास रखती थीं उसी को कहती थीं और जो कुछ कहती थीं तदनुसार करती भी थीं, यही कारण है कि वे विश्व के श्रेष्ठ वक्ताओं में गिनी जाती हैं। अपनी धारणाओं में उन्हें आस्था थी। उन्होंने सदैव अपने वचनों को कार्य रूप में परिणत किया। उनके जीवन की सादगी एवं संकल्पों की दृढ़ता का अनुकरण कीजिए।

—मो० क० गांधी

२ जीवन प्रदान करने वाली शक्ति सवव्यापी और सदा कल्याणकारी है।

३ मनुष्य अपने सुख दुख का स्वय निर्माण करता है।

उपर्युक्त तथ्यो को सामने रख कर पुनर्जन्म, युगधर्म तथा विकास क्रम भगवद् लीला, सद्गुरु की प्राप्ति के साधन, मृत्यु के पश्चात् जीवन सम्बन्धी विषयो पर इस सोसाइटी के द्वारा प्रकाशित साहित्य विशद और गहन हैं।

विश्व को देन—पूव पश्चिम को एक दूसरे को समझने तथा समीप लाने का श्रेय इस सोसाइटी को है। भारतीय आध्यात्म ज्ञान के पाश्चात्य देशवासियो की क्षमता तथा रुचि के अनुसार ढालकर उनमे इसके अध्ययन की रुचि उत्पन्न करने का महत् कार्य इसी सस्था द्वारा हुआ।

मुद्रा लेख—इस सोसाइटी का मुद्रा लेख है—"सत्यान्नास्ति परो धम" अर्थात् सत्य से बड़ा और कोई धम है ही नही। सत्य के प्रति आस्थावान बनने के लिए किसी को वाध्य करने की आवश्यकता नहीं। इस सत्य की खोज तथा साक्षात्कार प्रत्येक मानव को इस जीवन मे स्वय करनी है, समाज केवल प्रेरणा दे सकता है।

महत्व—विश्व-मानव के हृदय को जडवाद तथा नास्तिकवाद से निवृत्त करने के महत्वपूण काय मे रत रहने का श्रेय इस सोसाइटी को है। इस सोसाइटी की कल्पना पश्चिम के उन लोगों ने की जिन्हें भारतीय ज्ञान का साक्षात्कार हुआ था। न केवल वे भारतीय ज्ञान को समझने लगे, अपितु श्रद्धापूवक तत्कथित नियमो को व्यवहार मे लाकर, अपने जीवन मे स्वय उतारकर दूसरों को अनुकरण की प्रेरणा देने लगे। ससार का वर्तमान स्थिति मे इस सोसाइटी के द्वारा बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हुई है। भले ही लोग मनुष्य की गुप्त शक्तियो को तथा प्रकृति के सामथ्य को न समझें, अस्तित्व को तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। डा० एनी वेसेंट की सदैव यही इच्छा रही कि सारा देश आपस में मिल जुलकर रहे। मानव के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए सेवक तैयार करने में उन्होंने कोई भी कसर न उठा रखी।

स्वामी रामतीर्थ

जन्म—आपका जन्म पाकिस्तान मे स्थित पश्चिमी पजाब के गुजरा वाले जिले के मुरारी वाला ग्राम मे एक उत्तम गोस्वामी ब्राह्मण कुल मे १८७३ ई० की दिवाली के शुभ दिन हुआ। आपका नाम तीर्थराम रखा गया।

बाल्यकाल—आपके जन्म के कुछ दिवस पश्चात् माता चल बसीं। पालन पोषण का भार उनकी बुआ पर पड़ा। वे परम भक्त थीं। वे इनको अपने साथ ही मन्दिरो मे कथा कीतन-श्रवणार्थ ले जाती थीं। प्रारम्भिक परीक्षा पास कर चुकने पर छात्रवृत्ति

का उपयोग गुजरा वाले के एक हाई स्कूल में पढकर करने लगे जहा इनके पिता के परम मित्र, भक्त श्री धन्नाराम जी इनकी देख-रेख करते थे। शिक्षा काल मे लैम्प के तेल के लिए पैसे न होते तो सडक के खम्भो की रोशनी मे पढ लेते। कभी कभी तो उदर-पूर्ति भी समस्या का रूप धारण कर लेती थी। अनेक आर्थिक तथा अन्य सकटों के होने पर भी वे लाहौर पहुचकर मिशन कालेज से गणित मे एम० ए० पास करके वही प्रोफेसर नियुक्त हो गए।

लाहौर के पास रावी नदी के तट पर प्रतिदिन प्रात काल जाते, एकान्त का आनन्द लेते और उनका श्रीकृष्ण विरह जाग्रत् हो उठता। यदि काला नाग रास्ते मे आ जाता तो 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहकर गले लगा लेते। छुट्टियो मे वृन्दावन आ जाते और श्रीकृष्ण भक्ति का रस लेते।

कुछ समयोपरान्त उपनिषदो और वेदान्त के अन्यान्य ग्रथो के अनुशीलन के साथ-साथ उत्तराखड मे जाकर एकात सेवन करने लगे। उनके दृढ वैराग्य और अपार प्रेम मे गगा और यमुना का अद्भुत मिलन था। उनकी इस उन्मत्त अवस्था का क्या कहना। उसका वर्णन लेखनी तो कर ही नही सकती।

१६०० ईसवी मे नौकरी और घरबार त्याग कर हिमालय की चाटियों पर चले गए। अब स्वामी रामतीर्थ अपने को बादशाह मानते थे। उन्मुक्त होकर सदा ॐ रटते रहते थे।

लोगों के विशेष आग्रह पर विश्व-धर्म सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए जापान और वहा से अमेरिका गये, जहा इन पर विदेशी जनता लट्टू हो गई और इन्हे Living Christ कहने लगी।

ढाई वर्ष के बाद वे उत्तराखड लौटे। १६०६ की दिवाली के रोज ॐ ॐ कहते गगा-माता को अपना शरीर भी अर्पण कर दिया।

इनको उर्दू, फारसी, अग्रेजी हिन्दी आदि भाषाओ पर पूर्ण अधिकार था। इनकी रचनाओ को इनके शिष्य सग्रहीत करके 'रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग' लखनऊ के द्वारा इनके उपदेशों का सुन्दर प्रचार कर रहे है। इन्होंने न केवल भारत मे वेदान्त का झण्डा ऊचा फहराया, अपितु विदेशियों के हृदयो मे भी भारतीय दर्शन और वेदान्त के महत्त्व की छाप लगाई।

योगी ऋषि अरविंद

जन्म तथा शिक्षा—श्री अरविन्द का जन्म कलकत्ता म १५ अगस्त १८७२ को हुआ।

यह तिथि भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखी जायेगी, केवल इस लिये नही कि इसी तिथि को हमने हजार वर्ष बाद स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वातावरण मे सांस ली परन्तु इसलिए कि इस तिथि को परमहस रामकृष्ण ने महासमाधि ली और श्री अरविंद के रूप मे भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रा से भी महान विश्व को आध्यात्मिक चेतना प्रदान करने को प्रकटे।

आपके पिता सिविल सर्जन थे। वह न केवल अग्रेजी सभ्यता मे रगे थे अपितु भारतीयता की गध से भी दूर रहना पसद करते थे। तभी तो सात वर्ष की आयु मे ही इनको शिक्षा के लिये इग्लैंड भेज दिया। वहा उन्होने १४ साल बाद आई० सी० एस० की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की परन्तु घुडसवारी के क्रियात्मक परीक्षा मे सम्मिलित न हो सके क्योकि उन्हे तो अग्रेजी राज्य की नौकरी तो करनी ही न थी। इसके विपरीत उससे टक्कर लेनी थी।

वापसी—भारत लौटने पर पहिले बडौदा कालेज के प्रोफेसर बाद मे कुछ समय तक उसी कालेज के प्रिंसिपल रहे। इधर बगाल विभाजन देश की पुकार के उत्तर मे राजनीतिक क्षेत्र मे उतर पडे। फलस्वरूप कलकत्ता जेल की काल कोठरी मे पहुँच गये।

नया मोड—उन्हें गीता के कृष्ण ही उस काल-कोठरी मे, उसके दरवाजो की सींखचो मे, पहरेदारो मे, और फिर मैजिस्ट्रेट और सरकारी वकील के रूप मे दिखाई देने लगे। सर्वत्र उन्ही के दर्शन होते। वृन्दावन की गोपियो की भाति उनके लिए ससार कृष्णमय हो गया। यह कारागार-जीवन उनके लिए वरदान बन गया। उनकी निष्ठा यह हो गयी कि वह यन्त्री के हाथ मे केवल यत्र ही बनकर रह गये हैं। वह सर्वत्र भगवान् के दर्शन और उनका सरक्षण पाते अब उन्हे जगत के सामने सृष्टि के सत्य को भगवान् की वाणी को, रखना था।

इधर ब्रिटिश सरकार द्वारा पीछा किये जाने से तग आकर आप अग्रेजी राज्य की सीमा से बाहर फ्रांसीसी राज्य सत्ता के अधीन, भारत मे स्थित पाडेचरी नगरी मे १९१० ई० मे जा पहुचे। वहा उनका आश्रम आज भी अनेक जिज्ञासुओ के लिए प्रेरणाप्रद बना हुआ है। अपना समस्त जीवन भगवान् की इच्छा की पूर्ति मे और उनकी सेवा मे लगाकर सन् १९५० के दिसम्बर की पाचवी तारीख को इस महान् योगी ने इहलीला समाप्त की।

का उपयोग गुजरा वाले के एक हाई स्कूल में पढकर करने लगे जहा इनके पिता के परम मित्र, भक्त श्री धन्नाराम जो इनकी देख-रेख करते थे। शिक्षा काल मे लैंम्प के तेल के लिए पैसे न होते तो सडक के खम्भो की रोशनी मे पढ लेते। कभी कभी तो उदर-पूर्ति भी समस्या का रूप धारण कर लेती थी। अनेक आर्थिक तथा अन्य सकटो के होने पर भी वे लाहौर पहुचकर मिशन कालेज से गणित मे एम० ए० पास करके वही प्रोफेसर नियुक्त हो गए।

लाहौर के पास रावी नदी के तट पर प्रतिदिन प्रात काल जाते, एकान्त का आनन्द लेते और उनका श्रीकृष्ण विरह जाग्रत् हो उठता। यदि काला नाग रास्ते मे आ जाता तो 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहकर गले लगा लेते। छुट्टियो मे वृन्दावन आ जाते और श्रीकृष्ण भक्ति का रस लेते।

कुछ समयोपरान्त उपनिषदो और वेदान्त के अन्यान्य ग्रथो के अनुशीलन के साथ-साथ उत्तराखड मे जाकर एकान्त सेवन करने लगे। उनके दृढ वैराग्य और अपार प्रेम मे गगा और यमुना का अद्भुत मिलन था। उनकी इस उन्मत्त अवस्था का क्या कहना। उसका वर्णन लेखनी तो कर ही नही सकती।

१९०० ईसवी मे नौकरी और घरवार त्याग कर हिमालय की चाटियो पर चले गए। अब स्वामी रामतीर्थ अपने को वादशाह मानते थे। उन्मुक्त होकर सदा ॐ रटते रहते थे।

लोगों के विशेष आग्रह पर विश्व-धर्म सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए जापान और वहा से अमेरिका गये, जहा इन पर विदेशी जनता लट्टू हो गई और इन्हे Living Christ कहने लगी।

ढाई वर्ष के वाद वे उत्तराखड लौटे। १९०६ की दिवाली के रोज ॐ ॐ कहते गगा-माता को अपना शरीर भी अर्पण कर दिया।

इनको उर्दू, फारसी, अग्रेजी हिन्दी आदि भाषाओ पर पूर्ण अधिकार था। इनकी रचनाओ को इनके शिष्य सग्रहीत करके 'रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग' लखनऊ के द्वारा इनके उपदेशों का सुन्दर प्रचार कर रहे हैं। इन्होने न केवल भारत मे वेदान्त का झण्डा ऊचा फहराया, अपितु विदेशियो के हृदयो मे भी भारतीय दर्शन और वेदान्त के महत्त्व की छाप लगाई।

योगी ऋषि अरविंद

जन्म तथा शिक्षा—श्री अरविंद का जन्म कलकत्ता मे १५ अगस्त १८७२ को हुआ।

यह तिथि भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखी जायगी, केवल इस लिये नही कि इसी तिथि को हमने हजार वर्ष बाद स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वातावरण मे साँस ली परन्तु इसलिए कि इस तिथि को परमहंस रामकृष्ण ने महासमाधि ली और श्री अरविंद के रूप मे भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता मे भी महान [illegible] आध्यात्मिक चेतना प्रदान करने का प्रकटे।

आपके पिता सिविल सर्जन थे। वह न केवल अंग्रेजी सभ्यता मे रंगे थे अपितु भारतीयता की गंध से भी दूर रहना पसद करते थे। तभी तो सात वर्ष की आयु मे ही इनको शिक्षा के लिये इंग्लैंड भेज दिया। वहा उन्होने १८ साल बाद आई० सी० एस० की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे पास की परन्तु घुडसवारी के क्रियात्मक परीक्षा मे सम्मिलित न हो सके क्योकि उन्हे तो अंग्रेजी राज्य की नौकरी तो करनी ही न थी। इसके विपरीत उससे टक्कर लेनी थी।

वापसी – भारत लौटने पर पहिले बडौदा कालेज के प्रोफेसर बाद मे कुछ समय तक उसी कालेज के प्रिंसिपल रहे। इधर बंगाल विभाजन देश की पुकार के उत्तर मे राजनीतिक क्षेत्र मे उतर पडे। फलस्वरूप कलकत्ता जेल की काल कोठरी मे पहुँच गये।

नया मोड़—उन्हें गीता के कृष्ण ही उस काल-कोठरी मे, उसके दरवाजो की सींखचों मे, पहरेदारो में, और फिर मैजिस्ट्रेट और सरकारी वकील के रूप मे दिखाई देने लगे। सर्वत्र उन्ही के दर्शन होते। वृंदावन की गोपियो की भाति उनके लिए ससार कृष्णमय हो गया। यह कारागार-जीवन उनके लिए वरदान बन गया। उनकी निष्ठा यह हो गयी कि वह यन्त्री के हाथ मे केवल यंत्र ही बनकर रह गये हैं। वह सर्वत्र भगवान् के दर्शन और उनका सरक्षण पाते अब उन्हें जगत् के सामने सृष्टि के सत्य को भगवान् की वाणी को, रखना था।

इधर ब्रिटिश सरकार द्वारा पीछा किये जाने से तग आकर आप अंग्रेजी राज्य की सीमा से बाहर फ्रांसीसी राज्य सत्ता के अधीन, भारत मे स्थित पांडेचरी नगरी में १९१० ई० मे जा पहुचे। वहा उनका आश्रम आज भी अनेक जिज्ञासुओ के लिए प्रेरणाप्रद बना हुआ है। अपना समस्त जीवन भगवान् की इच्छा की पूर्ति में और उनकी सेवा मे लगाकर सन् १९५० के दिसम्बर की पाचवीं तारीख को इस महान् योगी ने इहलीला समाप्त की।

अब पांडिचरी मे स्थित अरविन्द आश्रम की शक्ति सचारिणी माता जी एक योरोपियन महिला है जो आश्रम के कार्यों को उनके आदर्शों पर सुन्दरता से चलाते हुए विश्व की कल्याण कामना मे निरत हैं।

विश्व को देन--श्री अरविन्द विश्व के इतिहास मे जिस चीज का प्रतिनिधित्व करते हैं वह कोई शिक्षा नही है, न कोई अत प्रेरणा द्वारा प्राप्त ज्ञान ही है, वह तो एक सुनिश्चित कार्य है जो सीधे परस्पर प्रेम से उद्भूत हुआ है—उन्होने अध्यात्म क्षेत्र मे दिव्य क्रान्ति उपस्थित की और विश्व को अपने दिव्य सिद्धान्त के सरक्षण मे योग प्रदान किया। उन्होने परमात्मा की पूणता का साक्षात्कार किया और उससे विश्व को अध्यात्म-चेतना प्रदान की। आप ने पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक विचारधाराओं का यौगिक स्तर पर समन्वय किया। वे आध्यात्मिक क्रान्ति के सफल स्रष्टा रहे वे। मानवता के अमर दिव्य दूत थे। परमात्म-तत्व के विशेपज्ञ होने के कारण वे विश्व को शाश्वत आत्म चैतन्य सम्पूर्ण दिव्य ज्ञान और भगवद प्रेम प्रदान कर गये।

अरविंद युग से पूर्व जितनी भी आध्यात्मिक साधनायें भारतीय दर्शन मे निर्धारित की गई हैं उनमे वैयक्तिक साधना और वैयक्तिक मोक्ष पर ही अधिक वल दिया है। किन्तु अरविंद के योग मे ऐसी वात नही है। उन की यह मान्यता है कि मानवी चेतना अब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी है। अब वह समय आ गया है जव इसी मानव शरीर मे एक अति मानवी चेतना का अवतरण होगा। आज मनुष्य को उस चेतना के अपने मे अवधारण करने के लिए अपने को योग-पात्र वनाने की आवश्यकता है जिसकी पूर्ति के लिये उन्होने तीव्र उत्कठा (आत्मिक पुकार) तथा मा अथवा किसी उच्चतर शक्ति के गीत नि शेप आत्म-समर्पण को साधन रूप मे माना है।

महात्मा गाधी

किसी ने सच कहा है कि प्रत्येक महापुरुप अपने युग का परिणाम होता है।

सम्भवत भगवान् यह सिद्ध करना चाहते थे कि आध्यात्मिक वल ससार की शेप सव शक्तियो से प्रवल है। अस्थि-पजर-मय इस क्षीणकाय शरीर मे स्थित, आध्यात्मिक-शक्ति के आगे शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार, जिसके राज्य मे कभी सूर्य अस्त नही होता था, कापने लगी, भयभीत हो उसे घुटने टेकने पडे।

जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन— २ अक्तूवर सन् १८६६ को गुजरात प्रात के पोरवदर नगर मे हुआ। इनके पिता कर्मचद्र गाधी एक रियासत के प्रधान मत्री थे।

उनकी माता पुतली बाई एक साध्वी महिला थीं। माता की धर्म निष्ठा आपके जीवन का प्रधान अग बन गई। माता से प्राप्त 'रघुपति राघव राजा राम' तथा रामायण एव नरसी के पदो का वीज इसी समय अकुरित एव पल्लवित हुआ। "वैष्णव जन तो तैने कहिए जे पीर पराई जाने रे" यह पद वापू के हृदय मे आजीवन वोलता रहा।

१३ वप की आयु मे आप तेरह वर्षीय कस्तूरवा के साथ विवाह वधन मे वध गये। मोहन दास को महात्मा और वापू वनाने मे आपका वहुत हाथ रहा।

शिक्षा इग्लैण्ड मे— १८८५ मे आपके पिता का देहान्त हो गया, जिनकी वीमारी पर घर की पू जी भी समाप्त हो गई। येन केन प्रकारेण आप इ ग्लैण्ड मे वैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने गये। वहा आपने माता के द्वारा दिये गये तीन व्रतो का अक्षरश पालन कर अपने सयमी जीवन का परिचय दिया। इस शाकाहारी ने, न कभी मास छुआ, न ही मदिरा-पान किया तथा भारतीय आदश के अनुसार 'मातृवत् परदारेपु' का सदैव पालन किया।

अफ्रीका में— भारत लौटने पर एक मुस्लिम फम के मुकदमे की पैरवी के लिये आप दक्षिण अफ्रिका मे गए। गोरा शाही शासन के रगभेद की नीति के कारण 'रेलगाडी से उतार देने' वाली घटना घटी। उन्होंने इसे मानवता तथा भारत का अपमान जान सहन न किया। क्योंकि उनके विचार मे जहाँ अन्याय करना पाप है उससे वडा पाप चुपचाप अन्याय सहने मे है। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयो के साथ वहुत वुरा व्यवहार किया जाता था। आपने अन्याय का डटकर विरोध करते हुए भी अन्यायी के प्रति सद्भावना रखकर सच्ची मानवता का परिचय दिया। वापू के इन विचारो ने इन्हें विश्व-वद्य वनाया।

दक्षिण अफ्रीका मे ही उनके अन्याय का प्रतिकार करने के नूतन अस्त्र 'सविनय अवज्ञा' का जन्म हुआ, जिसने आगे चल कर उनके जीवन मे 'असहयोग' और 'सत्याग्रह' का रूप लिया। अन्ततोगत्वा गाधी जी के अहिंसा एव सत्य मूलक प्रयत्नों के फलस्वरूप अफीका की सरकार को अपमानजनक कानूनो को हटाना पडा। यह सत्य और अहिंसा की प्रथम विजय थी। क्योंकि इनका कहना था कि 'सत्याग्रह दुर्वल एव कायर का शस्त्र नही वह सवल एव मनस्वी का अमोघ कवच है।"

भारत मे— राजनीतिक एव सामाजिक विपमताओं से उत्पीडित देश की दशा देख गाधी जी ने भाप लिया कि इसका मूल कारण है—विदेशी सत्ता का

अधिकार और दृढ निश्चय कर लिया कि जब तक विदेशी राज्य का उन्मूलन नही कर दिया जाता तब तक भारत में आराम और शान्ति असम्भव है। इस कार्य को प्रमुखता दे इस काम मे जुट गए। भारत की स्वतंत्रता उनकी सतत साधना का फल है जो उन्होने उसे अहिंसापूर्ण सत्याग्रह के अस्त्र से जीती। किसी ने सच ही कहा है —भारत गाधी है और गाधी भारत है।

हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए उन्होंने कई बार अपने प्राणो की बाजी लगा दी। इस मानवता के प्रेमी ने हरिजनो के उद्धार के लिए आमरण व्रत रक्खा। भारत, ग्रामो का देश है। अत उन्होंने ग्रामीणो को शिक्षित करने एव उनकी निर्धनता को दूर करने के लिए घरेलू दस्तकारियों पर बल दिया। गाधी जी ने आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के दोषो को दूर करने के लिए बुनियादी शिक्षा पर जोर दिया जिसमे दिमाग, आत्मा और हाथ तीनों काम करते है।

गांधी के प्रेरणादायक विचार —

सत्य— सत्य का अर्थ केवल सच बोलना मात्र नही है। विचार मे, वाणी मे और आचार मे सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को पूर्णतया समझने वाले के लिए अन्य कुछ समझना बाकी नही रह जाता।

सत्य की प्राप्ति "अभ्यास और वैराग्य" के द्वारा हो सकती है। सत्य ही परमात्मा है।

सत्य की आराधना भक्ति है, इस पथ पर चलने के लिए सिर हथेली पर रखना पड़ता है। यह खाडे की धार है। यह तो "मर कर जीने" का मत्र है। गाधी जी कहते हैं "मेरे लिए सत्य रूपी परमेश्वर-रत्न चिंतामणि सिद्ध हुआ है।"

अहिंसा— सत्य के सिक्के के दूसरे पहलू का नाम 'अहिंसा' है। किसी को न मारना अहिंसा है ही, पर अहिंसा का वास्तविक अर्थ है मन मे कुविचार का न लाना, उतावली न करना, मिथ्या भाषण न बोलना, द्वेष न करना, किसी का बुरा न चाहना, क्रोध न करना। किसी को वाणी द्वारा कष्ट न पहुंचाना। दुराग्रह हिंसा है। सत्य साध्य है और अहिंसा उसका साधन। तभी तो यह परम धम माना गया है। जहाँ साध्य शुद्ध है वहाँ साधन भी सत्य पूर्ण होना अत्यावश्यक है। वह स्वाधीनता जैसा रत्न भी अहिंसा को गवा कर नही लेना चाहते थे। उनके आदोलन सदा अहिंसात्मक रहे। अहिंसा का प्रयोग सामूहिक कार्यो मे करने का श्रेय इनको ही है। 'अहिंसा' गाधीवाद का निचोड है। अहिंसा शक्तिशाली व्यक्ति

का गुण है, कायर का नही। सच्ची अहिंसा भय से नही प्रेम से जन्म लेती है निस्सहायता से नही, सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता मे क्रोध नही, द्वेष नही, और निस्सहायता का अभाव है उसके समक्ष वडी से वडी शक्तियो को भी झुकना पडेगा। उनके सत्याग्रह की नीव इसी अहिंसा पर थी। उनकी अहिंसा कायिक, वाचिक होने के साथ साथ वौद्धिक भी थी। इसी वौद्धिक अहिंसा ने उनको ससार भर का श्रद्धा पात्र वना दिया। महात्मा वुद्ध द्वारा प्रचारित अहिंसा गाधी जी द्वारा प्रसारित हुई।

धर्म— गाधी मत मे धर्म सदाचार मे निहित है। जो सदाचारी नही वे धार्मिक नही। उनके शब्दो मे —"धम कहते हैं, जीवन के स्थान पर ईश्वर को स्वीकार करने को। ईश्वर की स्वीकृति का अथ प्रेम है। धम और नैतिकता परस्पर अविच्छिन्न है।" गाधी जी ने 'धम' को जीवन-व्यापी वनाया। मनुष्य मात्र की पीडा उसके अन्दर की धार्मिक भावना को जगाने से ही दूर हो सकती। उनके शब्दों मे —"मेरा उद्देश्य धार्मिक है किन्तु मानवता से एकाकार हुये विना मैं धर्म पालन का माग नहीं देखता। इसी काय के लिए मैंने राजनीति का क्षेत्र चुना क्योकि इस क्षेत्र मे मनुष्यों से एकाकार होने की सम्भावना है। मनुष्य की सारी चेष्टाए उसकी सारी प्रवृत्तियां एक हैं। समाज और राजनीति से धम अलग रखा जाए, यह सम्भव नही है। मनुष्य मे जो क्रियाशीलता है वही उसका धम भी है। जो धर्म मनुष्य के दैनिक कार्यो से अलग होता है उससे मेरा परिचय नही है।'

राजनीति— गाधी जी के अनुसार "मेरी दृष्टि मे राजनीति धर्म से भिन्न नही हो सकती। राजनीति को सदैव धम की अधीनता में चलना चाहिए। धम-हीन राजनीतिक मृत्यु-पाश के समान है क्योकि उसमे आत्मा का हनन होता है।" गाधी जी की राजनीति का आधार धम होने के कारण कूटनीति, छल, कपट, दाव-पेंच से कोसो दूर है। उन्होंने राजनीति और अथनीति को भी नैतिकता का अग माना। वह राजनीतिज्ञो मे सन्त और सन्तों मे राजनीतिज्ञ थे।

प्राथना— महात्मा जी का जीवन प्राथनामय था। इसी अलौकिक आधार पर उन्होने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक गुत्थियो को सुलझाया। उनके मतानुसार—"प्राथना धम का निचोड है। प्रार्थना याचना नही है। यह तो आत्मा की आकाक्षा का नाम है। प्रार्थना दैनिक दुर्वलताओ की स्वीकृति है, हृदय के भीतर चलने वाले अनुसन्धान का नाम है। यह आत्म शुद्धि का आह्वान है, यह विनम्रता को निमत्रण देना है। यह मनुष्यो के दुख मे भागीदार वनने की भी तैयारी है।"

"प्रार्थना-रहित मनुष्य के काम आसुरी होगे, उसका व्यवहार अशुद्ध होगा, अप्रामाणिक होगा ।"

"प्रार्थना सुख, शान्ति देने वाले साधन हैं" अतएव यदि हमे मनुष्य बनना है तो हमे चाहिए कि जीवन को प्रार्थना द्वारा रसमय एव सार्थक बना डालें ।

रामनाम निष्ठा— गाधी जी की नाम-कीर्तन मे अगाध निष्ठा थी । वे भगवद् भक्त थे । राम-नाम श्रद्धा से जपने से पाप तो क्या शारीरिक रोग भी छूट जाते हैं । उनका कहना था —

(क) मनुष्य चाहे जिस रोग से भी ग्रस्त हो गया हो, हृदय के भीतर से वह राम का नाम ले तो उसके सभी रोग दूर हो जायेंगे ।

(ख) "केवल राम नाम बोलकर भी प्रार्थना की जा सकती है ।" आपने— "रघुपति राघव राजा राम" की धुन को अपना महामत्र माना ।

(ग) "करोडो हृदयो का अनुसधान करने और उनमे ऐक्य भावना पैदा करने के लिए एक साथ राम-नाम की धुन जैसा कोई सुन्दर सबल साधन नही है" ।

(घ) "मैं बिना किसी हिचकिचाहट के कह सकता हूँ कि लाखो व्यक्तियो द्वारा सच्चे दिल से एक ताल और लय के साथ गाई जाने वाली रामधुन की शक्ति, सेनाओ की शक्ति से बिल्कुल अलग और कई गुना बडी है ।"

३० जनवरी १९४८ को अन्त समय तभी तो उनके मुख से 'हे राम!' निकला । यह उनके सतत राम नाम जपने का फल था क्योकि अन्त मे मुख से राम का उच्चारण बडे पुण्यो का फल है । कहा भी है —

"जनम जनम मुनि जतन कराहिं ।
अन्त राम कहि आवत नाहिं ।।"

श्रीमद्भगवद्गीता मे अटल विश्वास— उनका कहना था कि जब कोई असाध्य समस्या उनके सम्मुख आती तो गीता से ही प्रेरणा लेकर उसका समाधान करते ।

अपने धर्म के व्यावहारिक रूप को सत्य, अहिंसा, सदाचार आदि को अपने जीवन में उतार, ससार के सम्मुख अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया । उन्होने जनता-जनादन की सेवा को ईश्वर सेवा माना । उनका कहना था —"बिना राम-राज्य के अवतरण के जनता, सुखी शान्त और सतुष्ट नही हो सकती" उनके राम-राज्य का प्रधान अग जनसेवा मे निहित है । हमारी स्वाधीनता उन्ही की साधना, तप,

त्याग मार्ग-दर्शन और लोकोत्तर व्यक्तित्व का पुरस्कार है। विश्व को, शान्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए ईश्वर विश्वास, भगवन्नाम, सत्य, अहिंसा का प्रशस्त मार्ग दिखाया जिनके बिना गति नहीं। धर्म का उन्मूलन कोई भी शक्ति नहीं कर सकती।*

---

*The very existence of the world, in a broad sense, depends on religion All attempts to root it out will fail

—*Gandhi*

अध्याय १६

समस्त धर्मों की मौलिक एकता तथा स्वामी शिवानन्द का सम्पूर्ण योग

धर्म का कार्य—धर्म मोक्ष अथवा परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग दर्शाता है। जन्म मरण के चक्कर से छुटकारा दिलाता है धर्म कोई मेज पर बहस का विषय नही अपितु जीवन के क्षण-क्षण मे प्रयोग मे लाने की वस्तु है। धर्म के बिना जीना मृत्यु तुल्य है।

समावेश—धर्म मे पाच मुख्य विषय रहते हैं—श्रुति, नैतिकता, पौराणिक गाथा-दर्शन तथा साधन धर्म का मौलिक सिद्धान्त यदि दर्शन मे है तो यो कह लीजिये दर्शन का प्रयोगात्मक पहलू धर्म है। जिस-जिस मनुष्य की जैसी प्रकृति रहती है उसी पहलू को रुचि अनुसार अपना लेता है।

आदि स्रोत—सभी धर्मों का आदि स्रोत श्रुति है। श्रुति ही वह ज्ञान की झील है जिससे सभी धर्मों की नदियाँ निकली हैं।

धर्म से अग्नि-पूजा पर बल देने वाला पारसी धर्म निकला—इन दोनो धर्मों के देवताओ के नामो मे बडी समानता पायी जाती है। पारसी धर्म से यहूदी धर्म ने प्रेरणा ली और यहूदी धर्म मे जब धन अधा होकर अन्याय और अत्याचार करने लगा तो पहिले ईसाई मत और ६०० वर्ष उपरान्त इस मे पूर्ववत् विकृति आ जाने पर इस्लाम प्रकट हुआ। अत मूल तत्त्व सभी के एक से रहे। समयानुसार बुराई के दूर करने पर सुधार के उद्देश्य से परिवर्तन होता गया। ऊपरी अनावश्यक उपचारो मे अतर आता गया—सत्य को पुन स्थापित करने के लिये परमात्मा के पुत्र पैगम्बर तथा सदेशवाहक के रूप में प्रकट हुए।

सार—यह रहा कि धर्म एक है और यह धर्म है—सत्य का, दिल का, प्रेम का, हृदय के मौन का, मन-इद्रियो से ऊपर का, तुच्छ रीति-रिवाजो अथवा कृत्रिम-मान्यताओ से बिलकुल ऊँचा—जहाँ सब अतर मिट जाते हैं और केवल एक सत्य की रट लगाते हैं—हाँ, उसका रूप भिन्न-भिन्न देते हैं।

वैदिक धम ने धर्म का रहस्य यदि विश्व-प्रेम, विश्व शांति बतलाया तो बुद्ध ने अहिंसा इस्लाम ने वाणी तथा कम की पवित्रता। सार यह है कि परम सत्य पर बल देते हुए परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान माना। आवश्यकता है इन मौलिक एकता के ज्ञान की।

सितारे तो अनेक है परन्तु आकाश एक है।
किरणें तो अनेक ह परन्तु सूय एक है।
फूल तो अनेक हैं परन्तु उद्यान एक है।
लहरें तो अनेक हैं परन्तु समुद्र एक है।
जीव तो अनेक हैं परन्तु दिव्यात्मा एक है।
पीर पैगम्बर तो अनेक हैं परन्तु उनका अमर सदेश एक है।

इस विश्व समता के सूर्योदय होने से जो भेद भाव का घटा टोप अधेरा छाया है नाश हो सकता है, और होता है पूण प्रकाश का उदय। हमे इस प्रकाश से मिल जुल कर प्रेम भाव से रहना है। मौलिक शिक्षाओ को जैसे बोयेंगे वैसा ही काटेंगे। सत्य, त्याग, सरलता आदि को अपनाते हुए तमाम बुराइयो से बच कर हमे निकलना होता है। इतनी सावधानी अवश्य वरतनी पड़ेगी कि हमारे किसी भी व्यवहार से वह खाई जो ऊपरी सतह पर दीखती है बढने न पावे। विश्व शांति का रहस्य अथवा मनुष्य जीवन की साथकता इसी मे है।

सामान्य सिद्धान्त—सब धम मूलत नैतिक पूणता पर ही बल देते हैं। उपनिषदों ने यदि धम मे दया, दान, दम, शम, सत्य, स्वाध्याय आदि का समावेश किया तो मनु, पराशर, याज्ञवल्क्य, पतजलि आदि ऋषियो ने यम नियम पर बल दिया। आगे चलकर इन्ही तथ्यो को महात्मा बुद्ध ने अष्टाग मार्ग का रूप दे दिया। उधर यहूदियो ने दस आज्ञाओं (Ten Commandments) मे यही मौलिक सिद्धान्त गिनवा दिये। सब धर्मो ने मनुष्य के आध्यात्मिक तथा नैतिक उत्थान को ही बढावा देना चाहा। आश्चय तो इस बात पर करना चाहिये कि इन सब धर्मों के मिले जुले प्रयत्नो के निरन्तर रहने पर भी मनुष्य अनाचार और अत्याचार के गढ़े मे धसता चला गया है। यहाँ तक कि धम के नाम पर लडाइया हो गयी। कोई भी धम, ईर्ष्या, द्वेष सामूहिक हत्याओ और मारधाड की शिक्षा नही देता है। दोष तो अनुयायियो का है जो अपने स्वाथ के लिए धम सकटापन्न है—जैसे झूठे उद्घोष लगा कर अपने धर्म को कलकित करते रहे।

"मजहब नहीं सिखाता आपस म वैर रखना।" शांति ही धम का लक्ष्य है और जिस धम मे ऐसा नही वह धम कहलाने का अधिकारी नही। ईश्वर मे विश्वास करते हैं तो आप मानव-मानव मे भेद भाव की सृष्टि कर ही नहीं सकते। जब सब

धर्म उस एक ही परमात्मा को परम पिता मानते हैं तो स्वत एक पिता के पुत्र होने के नाते सब मनुष्य आपस मे भाई-भाई हैं अत कैसे माना जाए कि पुत्रो का हनन होते देख हम पर पिता प्रसन्न होगे। उनकी प्रसन्नता के लिए हमे आत्म-सयम, आत्म-बलिदान आत्म-निर्भरता को अपनाना होगा और दैवी सम्पदा के सभी गुणो—निर्भयता, करुणा, मैत्री, सत्यता, सहिष्णुता को जीवन मे उतारना होगा। विश्व-प्रेम भ्रातृ भाव तथा विश्व शाति पर सब धर्मों की शिक्षाओ की समानता निम्नलिखित उद्धरणो से सिद्ध हो जाती है—

वैदिक धर्म—ईशावास्यमिद सर्वम्—सारे जगत में ईश्वर ही रह रहा है। (ईशोपनिषद)

बुद्ध—जो अन्य प्राणियो पर दया न करके उनकी हिंसा करता है वही नीच है।

ईसाई—अपने पडोसियो से वैसे ही व्यवहार करो जैसा अपने लिए चाहते हो। (बाइबल)

इस्लाम—तुम्हें, जगत् भर को एक ही खुदा ने पैदा किया, पाला पोसा और फिर प्रलय के दिन तुम मे रुह फूकी। (कुरान शरीफ)

जैन—सब जीवो पर दया करो। (जैन सूत्र)

सिक्ख—दूसरों को भी अपने जैसा समझो। (गुरु ग्रथ साहब)

उदाहरणो के लिए अहिंसा पर विभिन्न धर्मो के वाक्य देखिये।

धर्म	वाक्य
हिन्दू	अहिंसा परमो धर्म
इसाई	किसी की जान कदापि न लो।
बुद्ध	हमे प्राणि मात्र से प्रेम करना चाहिये
जैन	अहिंसा परमो धर्म

विश्व के प्रमुख धर्मो के मौलिक सिद्धात

हिन्दू—आत्म ज्ञान प्राप्त कर मुक्त बनो

पारसी—विचार वाणी और कम मे पवित्रता ही सार है।

यहूदी—सो ह हस (मैं हू, वह मैं हूँ)

ईसाई—स्वर्ग का साम्राज्य आपके अन्दर ही है।

इस्लाम—अल्लाह के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नही, मुहम्मद उसका पैगम्बर है।

जैन—अहिंसा परमो धर्म

बौद्ध—अखिल विश्व के लिये यह एक ही नियम है कि ये सब कुछ क्षणिक हैं।

जैसा दूसरो पर दोषारोपण करते हो वैसा ही अपने को दोषी ठहराइए। जैसे अपने को क्षमा करते हो वैसे ही दूसरो को क्षमा कीजिए—'कन्फ्यूशस'

एक सत् ओकार—'वाहे गुरु 'सिक्ख'

अनलहक—'सूफी'

बुराई देखिये नही बुराई सुनिए नही, बुराई कहिये नही—'शिटो'

सभी धर्म एक है। वे दिव्य जीवन का उपदेश देते हैं। सबसे प्रेम कीजिये। सबकी सेवा कीजिये। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य का पालन कीजिये निःस्वार्थ बनिए। अमर तत्व की खोज कीजिए

एक ही धर्म है—और वह है प्रेम का धर्म अथवा हृदय का धर्म। आप अपने प्रति जैसा अनुभव करते हो वैसा ही दूसरों के प्रति भी अनुभव कीजिए। इस सार्वभौम धर्म से विश्व शांति और आनन्द का अवतरण होगा।

स्वामी शिवानन्द

(१८८७-१९६३)

बीसवी शती मे भारत को शिवानन्द के रूप मे एक सर्वगुणसम्पन्न संत मिला था। ये संस्कृति के रक्षक एव पोषक थे। आप मे श्री चैतन्य महाप्रभु और मीरा की सी भक्ति विह्वलता, बुद्ध की करुणा, शंकर का ज्ञान, जनक की उदारता थी। अस्पृश्यता निवारण, सामाजिक नवनिर्माण और जाति-पाँति के उन्मूलन कार्य मे गाधी जी के समान थे। आप दार्शनिक होते हुए भी एक महान संत थे—और संत होते हुए भी महामानव। भक्ति योग, वेदांत की वह समन्वयात्मक मूर्ति थे।

जन्म—८ सितम्बर सन् १८८७ को शिवानन्दजी का आविर्भाव विश्व विश्रुत संस्कृतज्ञ दक्षिण निवासी अप्पय दीक्षितार के कुल में पट्टामडाई नामक स्थान मे एक धर्मपरायण ब्राह्मण दम्पति—वेंगु अय्यर एव पार्वती अम्मल के यहाँ हुआ। माता पिता की इस सबसे कनिष्ठ संतान का नाम कुप्पू स्वामी था। बचपन से ही आप माता पिता की धार्मिक निष्ठा से प्रभावित हो उनकी पूजा, अर्चा कार्य में सहायक होते थे।

प्रारम्भिक जीवन एव शिक्षा—आप बचपन से ही विनम्र किन्तु निर्भीक स्वतत्र मना किंतु आज्ञाकारी दृढ परन्तु सबके प्रेम पात्र थे। क्या खेल व्यायाम, क्या नाटक, क्या वादविवाद, क्या शिक्षा, आप सभी क्षेत्रो मे सम्मिलित हो पुरस्कृत होते रहे। मानव मात्र की सेवा करने की उत्कट भावना ने ही इनको डाक्टर बना दिया। वे चाहते थे कि सभी मनुष्य हृष्ट पुष्ट हो। युवा डाक्टर कुप्पू स्वामी ने एक पत्रिका प्रकाशित की जिसका नाम था 'अम्ब्रोसिया' जो पाठको के लिये सुधा के तुल्य थी।

मलाया मे—दुखियो की पुकार ने उन्हें मलाया बुला लिया। विचित्रता यह है कि रोगी को नारायण मान, उसकी पूर्ण रूपेण सेवा करते पैसा देकर विदा करते। डाक्टर मे ऐसी दयालुता वहा अज्ञात थी।

वैराग्य—१९२३ मे अपनी समस्त सम्पत्ति वितरण कर भारत लौट आए और वाराणसी होते हुए, हिमालय मे स्थित ऋषिकेश मे गगा पार स्वर्गाश्रम की एक कुटिया मे कठोर साधना आरम्भ कर दी।

साधना काल—श्री स्वामी विश्वानद जी से १ जून १९२४ को सन्यास की दीक्षा ले सात वर्षों तक कठोर तपस्या मे रत रहे जिसके फलस्वरूप आत्म-साक्षात्कार किया। वे पूस की कडाके की सर्दी में भी गगा में सूर्योदय से पहिले खडे होकर साधना करते। बीमारो की सेवा यहाँ भी खूब चलती रही। डाक्टर सन्यासी की प्रेममयी दृष्टि मार्ग से ही रोगी प्रसन्न एव चगा हो जाता।

प्रचारक रूप मे—उत्तरी भारत मे सीतापुर, अलीगढ, लखीमपुर, जम्मू, रावलपिंडी, लाहौर आदि नगरो मे सकीर्तन सम्मेलनो मे सम्मिलित होते। कीर्तन करते, प्रवचन देते, नृत्य करते तथा योगासनो का प्रदर्शन कर अनेक नर-नारियो का आध्यात्मिक मार्ग प्रदर्शन करते।

विश्व शिक्षक—आप एक मौलिक विचारक थे। आपने अपनी विस्तृत रचनाओ मे प्रशसनीय रीति से परम्परागत योग-वेदान्त की साधना एव ज्ञान को आधुनिक क्रियाशील विश्व के साथ सयोजित करके उपस्थित किया। इसका सन्देश विश्व प्रेम था जो कि समस्त धार्मिक विश्वासो एव सच्चाइयों का आधार है।

व्यक्तित्व—अपूर्व उत्साह, अगाध प्रेम, स्वलक्ष्य के प्रति आत्म-समर्पण अदम्य समदर्शी, सेवाभाव, अक्षय धैय, अद्भुत सहनशीलता, असीम अनुकरण और क्षमा —ये सभी श्री स्वामी जी के जन्म जात सद्गुण थे। जीवन के जिस किसी क्षेत्र मे स्वामी जी ने पदार्पण किया उनकी प्रवृत्तियो की आधार शिला ये ही सद्गुण थे।

आपका व्यक्तित्व अद्वितीय था। आप दीर्घकाय सुन्दर स्वस्थ एवं आपक थे। आप हसमुख, प्रसन्न सरल हृदय एव विनोदी स्वभाव के थे।

आप प्रकृति प्रेमी, सौन्दय, कला गायन नृत्य और काव्य के रसिक थे। दयालु सेवा-परायण अनासक्त थे। आप सहज ज्ञानी प्रतिभाशाली स्फूर्तिदायक प्रेरणा-दायक लेखक प्रभावशाली वक्ता एव दिव्य ज्ञान के स्पष्ट ज्ञाता थे। आध्यात्मिक स्वाधीनता के स्रोत थे। आपमे ऐसी अद्भुत चुम्बकीय शक्ति थी, जो दूर दूर से भारत के ही नहीं, विदेश के भी अगणित जिज्ञासुओ को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी।

दिव्य जीवन-सघ की स्थापना—आपने सन् १९३६ मे आनद कुटीर शिवानद नगर ऋषिकेश मे दिव्य-जीवन सघ की स्थापना की। इसके चार सूत्र शब्द हैं — सेवा, प्रेम, ध्यान और साक्षात्कार। इसके प्रधान उद्देश्य भी चार ही हैं।

आस्तिकता, आध्यात्मिकता एव सास्कृतिकता का सवर्द्धन।

विभिन्न वादो और भेदो को भुलाकर भौतिकवाद से हटा कर प्राणी-मात्र को परम तत्त्व की प्राप्ति के पथ पर लगाना।

आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करने के लिये—भक्ति, योग, ज्ञान, वेदात-विषयक पुस्तकें लिखना, क्रियात्मक शिक्षा देना और नर नारायण की सेवा के आदर्श की पुन प्रतिष्ठा।

लिंग, धर्म-जाति और देश के भेद भावो से ऊपर उठकर सब प्रकार की एकता व समता के लिये सतत प्रयत्न करना। सभी के लिये एक दिव्य-जीवन का पथ निर्देशन। चाहे वह ईसाई मुसलमान सिक्ख, पारसी, जैन, बौद्ध हो अथवा सनातन धर्मी, आर्य समाजी, शैव, शाक्त या कोई भी धर्मावलम्बी हो। साम्प्रदायिकता से दूर सबके लिए भाषण, सकीर्तन और ज्ञान प्रसार के लिये एक सार्वभौमिक मच बनाना।

शाखा—भारत में तो इस सघ की अगणित शाखायें हैं ही परन्तु यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशो के बडे-बडे नगरो मे दिव्य-जीवन सघ के अनेक केन्द्र स्वामी जी के उपदेशो एव आदर्शों के प्रचार का कार्य कर रहे हैं।

शिवानन्द प्रकाशन मडल—सन् १९३८ में शिवानन्द प्रकाशन मडल की स्थापना की गई। इसके द्वारा स्वय स्वामी जी द्वारा रचित १०० पुस्तकों का प्रकाशन हुआ जिससे ससार भर को ज्ञान का प्रकाश मिला।

रचनाएं—स्वामी जी ने भारतीय सस्कृति के मूलभूत तत्त्वो व ग्रथो को सरल एव प्रभावमयी प्रचलित अग्रेजी भापा मे सबके सम्मुख उपस्थित किया। आपकी रचनायें भक्ति योग वेदान्त के ओत प्रोत हैं। ज्ञान, धर्म, कर्म, भक्ति का कोई ऐसा विपय नही जो अछूता रह गया है।

आपकी रचनायें वर्तमान भेद-भाव-ग्रस्त मानवता के लिए औपधि एव अमृत के समान हैं। केवल उनकी रचनायें ही आने वाली शताब्दियो के लिए पर्याप्त सन्तोपप्रद हैं। अग्रेजी मे डिवाइन लाइफ, हिन्दी मे योग वेदान्त ये दो मासिक पत्रिकायें शिवानन्द नगर से प्रकाशित हो दिव्य सदेशो से ससार को लाभान्वित कर रही है।

योग वेदान्त आरण्य अकादमी की स्थापना—इनका मुख्य कार्यालय ऋषिकेश से १½ मील दूर गगा के पावन तट पर आनन्द कुटीर शिवानन्द नगर मे स्थित है। मानवता के प्रसार और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचारार्थ, वेदान्त तत्त्वोपदेश के लिये ३ जुलाई १६४८ को योग वेदान्त आरण्य अकादमी सस्था की स्थापना की जो विश्व मे अद्वितीय है।

भारत यात्रा—१६५० में स्वामी जी ने दो महीने के लिये भारत एव लका की यात्रा की। अनेक स्थानो पर जनता-जनार्दन को वचनामृत पिलाया। भगवन्नाम तथा दिव्य जीवन सघ के सदेश का प्रचार सारे भारत मे हुआ। इस यात्रा द्वारा शताब्दियो के विशाल अन्धकार के उपरान्त धर्म-चक्र-प्रवर्तन की पुनरावृत्ति हुई। जन-जन मे पवित्रता के भावो को जगाया तथा ज्ञान की शुभ ज्योति प्रकाशित की।

विश्व धर्म सम्मेलन—१६५३ मे स्वामी जी ने शिवानन्द नगर ऋषिकेश मे विश्व धर्म-सम्मेलन बुलाया जिसमे विश्व के सारे भागो से प्रतिनिधि गण आये। उनके धर्मो के नेताओ ने स्वामी जी के नेतृत्व मे सारे धर्मों की एकता की घोपणा की।

दर्शन समन्वय—उनके दर्शन के पीछे अनुभूति के आधार-शिला है जो कुछ लिखा है वह दार्शनिक तथ्य होते हुए भी क्रियात्मक कसौटी पर पूरी तरह कसा जा सकता है।

आध्यात्मिक जीवन यापन के लिए किसी वाह्य वेश-भूपा को आवश्यक नही माना

किसी धर्म अथवा जीवन विशेष के अपनाने मे ही मनुष्य मोक्ष भागी हो सकता है—यह उनकी मान्यता नही थी

भारतीय दशन की किसी भी शाखा को मनुष्य अपनी मानसिक क्षमता, सहज प्रवृत्ति तथा सामाजिक परिस्थिति के अनुसार अपना करके परम पद प्राप्त कर सकता है।

आध्यात्मिक जीवन मे गुरु (पथ-प्रदशक) को अपरिहाय मानते हुये भी साधना मे स्वप्रयास पर वल दिया है।

आचार तथा व्यवहार मे शुद्धि और शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को आवश्यक माना है।

आध्यात्मिक जीवन मे किसी कर्ता, लिग, देश, धम, भाषा, सम्प्रदाय को वाधक तत्त्व नही माना

सम्पूण योग—सेवा, प्रेम, ध्यान और साक्षात्कार—ये स्वामी जी के दिव्य जीवन रूपी विशाल भवन के चार आधार स्तम्भ हैं—सेवा और प्रेम का सम्मिश्रण है दान। यद्यपि यह वहुत छोटा है किन्तु यह दान धम का एक महत्त्वपूण भाग है। इन चारो के सयुक्त सृजन का पूण लाभ है "शिवानन्द का सम्पूण योग"। तत्त्व-साक्षात्कार के लक्ष्य तक पहुँचने के लिये ये चार पथ है। सेवा (Serve) से कमयोग का निर्देशन होता है। प्रेम शब्द हृदय, मन तथा आत्मा से प्रभु प्रीति का स्मरण दिलाता है, पराभक्ति की प्रेरणा देता है। ध्यान पतजलि के अष्टाग योग या राजयोग के साचे मे ढलने का आदेश देता और साक्षात्कार (Realise) आनन्दमय सुख-शान्ति के शाश्वत स्रोत परमात्मा की प्राप्ति के लिये उदवुद्ध करता है।

स्वामी जी की सदैव यह उत्कठा रही कि हम सभी सम्पूण योग का आचरण कर पूण योगी वनें। उनका अपना सम्पूण जीवन ही भक्ति, योग और वेदान्तमय रहा।

महत्त्व—अर्वाचीन काल के लिये केवल यहा सम्पूण योग ही उपयुक्त है। चारो योगो को पृथक नही किया जा सकता। सेवा हृदय को स्वच्छ और विशाल वनाती है। प्रेम एकीकरण करता है। विना सेवा और प्रेम के करोडो जन्मो मे भी आध्यात्मिक मिलन एव एकीकरण का स्वप्न नही देख सकते। सेवा प्रेम का व्यक्तिकरण मात्र है। ज्ञान विस्तृत प्रेम है और प्रेम केन्द्रित ज्ञान है। कम, भक्तियोगी का कथन है कि सव जीवधारियों की सेवा ही ईश्वर की सेवा है—मैं तो साधन मात्र हू। कमयोगी ज्ञानी का कथन है कि मैं स्वय ही सेवा करता हू। भगवान एक है—क्या तुम इसका अनुभव करते हो? क्या तुम्हें सभी के साथ एकात्मीयता का अनुभव होता है? तुम्हारा हृदय तो घृणा, ईर्ष्या अविश्वास, दुर्भावना और आसक्ति से आच्छन्न है। इन सव का सवथा निर्मूलन करना होगा तभी तुम उस परम ऐक्य का आस्वादन कर सकोगे।

महासमाधि—उन्होंने पूर्व नियोजित महासमाधि १४ जुलाई १९६३ को लेकर अपनी देह लीला को समाप्त किया।

आपका प्राकट्य ऐसे समय मे हुआ जब भारत भी पश्चिमी शिक्षा एव सभ्यता के रग रहा था। पश्चिमी देश भौतिकता मे अन्धे हो रहे थे। ऐसे भौतिक वादी लोगो के आप सच्चे पथ प्रदर्शक बने और उनकी भाषा मे ही उन्हे आत्मबोध कराया एव उनका साहित्य आगे भी कराता रहेगा।

परिशिष्ट

भारत की शिक्षा-पद्धति

श्री स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती

शिक्षा मानव मे निहित पूणत्व सिद्धि की प्रवृत्ति के क्रमिक एव व्यवस्थित एकत्रीकरण की प्रक्रिया है। प्रारम्भिक व्यवस्था मे पूणत्व की धारणा अस्पष्ट होने के कारण इस दिशा मे जनमानस तक पहुँचने के प्रयास मे अत्यधिक धैय एव सावधानी अपेक्षित है। व्यक्तियो से व्यवहार करते समय हमारा सम्बन्ध वस्तुत 'मनम' से रहता है। अत जीवन के समस्त सफल अभिगमन (approach) मनोवैज्ञानिक होते हैं।

हमे सवप्रथम स्वय को एक ऐसी स्थिति मे रखना होगा जहा से हम व्यक्तियो के सवेदनशील विचारो और भावनाओ का मूल्याकन कर सकें। इस उद्देश्य हेतु हम समाज को तीन वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं (१) छात्र वग, जिसमे वालक एव किशोर वग आता है। (२) सासारिक अथवा सक्रिय सामाजिक व्यक्ति, जिसके अन्तगत युवा एव प्रौढ वर्ग आता है। (३) अवकाश-प्राप्त व्यक्ति, जो सक्रिय जीवन व्यतीत नहीं कर रहे हैं, जिनके जीवन की सान्ध्य वेला है। सामाजिक पुनरुद्धार के द्वारा जीवन के इन सभी स्तरो को दृष्टि में रख कर यथाक्रम इनकी आन्तरिक मागो की पूर्ति करनी है।

सम्प्रति हम स्वय को नवविकसित पीढ़ी के मनस् तक ही सीमित रखेंगे—नवोदित पीढी अर्थात् छात्रवग। हमे सामाजिक सुधार एव पुनरुद्धार का कार्य छात्रावस्था से ही आरम्भ करना है, क्योकि इस समय मन शिक्षा प्रक्रिया के अनुरूप वनने और ढलने की स्थिति मे रहता है। यहाँ हमे शिक्षक को ही ध्यान मे रखकर नही चलना है, प्रत्युत् शिक्षार्थी को ध्यान मे रखना है। शिक्षा शिक्षक द्वारा छात्रो के मस्तिष्क में ज्ञान उंडेल कर निज के मस्तिष्क को रिक्त करने की प्रक्रिया मात्र

नही है, प्रत्युत् छात्रो की आवश्यकताओ की अनुभूति कर, तदनुरूप उचित विधि से समयानुकूल उपयुक्त वस्तुओ द्वारा उनका पूर्तिकरण है। अत शिक्षक को एक अच्छा मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। वह शिक्षण-कार्य को विद्यार्थियो के सङ्ग व्यवसाय जैसा कदापि न समझे। शिक्षक मे ऐसी क्षमता हो कि वह शिक्षार्थियो मे प्रियता पा सके। ज्ञान-प्रदान की यह सुखद प्रक्रिया ही शिक्षा है।

इन दिनो छात्र एव शिक्षक दोनों ही शिक्षा प्रणाली से सन्तुष्ट नही हैं। कारण, विभाग के सम्बन्धित अधिकारी यह भूल चुके हैं कि शिक्षक को एक साथ ही इस प्रकार शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक, नैतिक, क्रियात्मक एव आध्यात्मिक होना चाहिये कि वह भली-भाति व्यक्ति की परिस्थिति के अनुकूल हो सके। शिक्षण-पद्धति को, छात्रो की सामान्य बुद्धि-लब्धि (Intelligence-quotient) उनके स्वास्थ्य और सामाजिक परिस्थितियो आदि को ध्यान मे रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त शिक्षण पद्धति को, (१) व्यक्तित्व के विकास, (२) ससार के पर्याप्त ज्ञान, (३) समाज के साथ निज के सामञ्जस्य एव (४) जीवन के चिरस्थायी मूल्यो की उपलब्धि को प्रभावित एव सम्पादित करने वाली विधियो पर सकेन्द्रित होना चाहिये।

व्यक्तित्व के विकास से तात्पर्य व्यक्ति विशेष के हितकारी निर्माण से है, केवल शरीर, मन और बुद्धि की आन्तरिक अवस्थाओ के सन्दभ मे ही नही प्रत्युत् समाज के विभिन्न स्तरो द्वारा व्यष्टि तक पहुँचते हुए वाह्य जगत् के सम्बन्ध मे भी है। इस अर्थ मे सच्ची शिक्षा एक आन्तरिक "पैठ" और एक "वाह्य प्रसार" दोनो ही हैं। सासारिक ज्ञान, केवल तथ्यो का एक सग्रह मात्र अथवा भौतिक जगत् विषयक सूचनाओ का सङ्कलन ही नही है यह उसकी आन्तरिक क्रियाओ मे भी एक अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, कम से कम उस सीमा तक तो अवश्य ही जिस सीमा तक वाह्य और आन्तरिक जीवन उसके सङ्ग अविमोचनीय रूप से सम्बद्ध है। इस ज्ञान द्वारा उस कला को जानना सरल हो जाता है, जिसके द्वारा वह स्वय को समाज के अनुकूल ढाल सकता है। जिस व्यक्ति ने मानव समाज की सरचना के आध्यात्मिक सकेतो का ज्ञान कुछ अशो मे भी प्राप्त नही किया है। उसके लिए किसी श्लाघनीय अनुपात मे यह सामञ्जस्य सम्भव नही है। समाज के व्यक्ति की शिक्षा का उद्देश्य है जीवन के मूल्यो की चरितार्थता—एक सामान्य लक्ष्य द्वारा परस्पर सम्बद्ध एव निर्धारित तथा उसी लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट, जीवन के व्यक्तिगत, सामाजिक, नागरिक एव सार्वभौमिक मूल्यो का बोध।

सर्वोपरि तथ्य तो यह है कि शिक्षा का प्रयोजन समझे बिना हम छात्रो को शिक्षा देना आरम्भ नही कर सकते। उदाहरणार्थ, अनेक हिन्दू स्त्री पुरुषो ने भिन्न-भिन्न कारणो से धर्म-परिवर्तन अगीकार किया है जिनमे एक कारण आर्थिक

ानति और सामाजिक स्तर के उन्नयन की उन सम्भावनाओ मे निहित है, जिनका ाश्वासन धम-परिवतको द्वारा इन निरीह प्राणियो को दिया जाता रहा है जिन्हे ार्थिक दृष्टि से अपना सुधार कर सकने की सुविधाओ से वचित कर दुर्भाग्यवश हिन्दू समाज के अवाछित वग मे वहिष्कृत कर दिया गया है। दूसरा कारण अस्पृश्यता एव स्पश द्वारा अपवित्रीकरण की घातक प्रथा है जो कतिपय कट्टर वर्गों द्वारा दीघकाल से सर्वाद्धित होती रही है तथा आज भी पूर्णत विनष्ट नहीं हुई। अब प्रश्न उठता है यह सब घटित होने का क्या कारण है? मानव के चतुर्दिक परिवेश मे दमन एव अस्पृश्यादि क्यो हो? इसका उत्तर है, उचित शिक्षा का अभाव।

लेकिन उचित शिक्षा है क्या? ऊपर निदिष्ट प्रक्रिया के अनिवार्य तत्वो को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जाना चाहिए कि यद्यपि शिक्षा को अत्यधिक व्यावहारिक होना चाहिए तथापि हमे यह नही समझना चाहिए कि किसी वस्तु की व्यावहारिकता, जीवन मे (किसी राजनैतिक अर्थ मे) सफलता प्राप्त करने मे ही निहित है, क्योकि यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति युक्तिचातुर्य द्वारा कुछ समय तक चाहे सफल हो जाय, जैसा व्यापार मे होता है, परन्तु उस तथाकथित व्यावहारिक सफलता के उपरान्त भी अन्तर मे वह अत्यधिक दुखी हो, यह असम्भव नहीं। इसका कारण है कार्यों का नितान्त निर्जीव रूप से व्यावहारिक होना, जीवन की उस अन्त स्फूर्ति से रहित होना जो उन्हें सजीव रखती है। किसी घर मे निवास करते समय हम यद्यपि सदैव उसकी नीव के सम्बन्ध मे सचेत नही रहते, न वह नीव ही हमे दृष्टिगोचर होती है, तथापि यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्पूर्ण भवन नीव पर ही स्थित है। इसी भाँति जीवन मे मानवीय सफलता एक अलकृत एव सुसज्जित भवन की तरह रमणीक लग सकती है, परन्तु यदि यह किसी मजबूत आधार पर सुदृढ रूप से स्थापित नहीं होगी तो स्थित नहीं रह सकती। अत यहा हमारा प्रयोजन इस बात पर विचार करना है कि जीवन की शिक्षा का यह आधार कौन सा हो सकता है।

शिक्षा जीवन को सुखपूवक जीने के लिए है, उसे कष्टमय बनाने के लिए नहीं। वतमान शिक्षा पद्धति की दोषपूर्ण सरचना का कारण है जीवन के आधार की एक गलत धारणा। यह आवश्यक नही है कि धम अपने कट्टर अथ मे, अथवा जिस रूप में रूढिवादी समझते हैं, स्कूलो में उद्घोषित किया जाय। उचित प्रकार की शिक्षा का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक होना चाहिए तथा उसे सकीण धर्मो अथवा समाज के किसी भी सम्प्रदाय की परिधि को पार कर जाति, धम, मतों एव वणभेद के पूर्वाग्रहो से मुक्त होना चाहिए। शिक्षा की वतमान पद्धति पूर्णतया असन्तोषजनक है, क्योंकि जहा यह सभी धर्मो को 'धमनिरपेक्षता' के नाम पर अस्वीकार कर देती है, वहीं वह मानव अभीप्सा के अनिवार्य तत्वो को भी अस्वीकृत करके शिक्षा को एक ऐसा नि-

नही है, प्रत्युत छात्रो की आवश्यकताओ की अनुभूति कर, तदनुरूप उचित विधि से समयानुकूल उपयुक्त वस्तुओ द्वारा उनका पूर्तिकरण है। अत शिक्षक को एक अच्छा मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। वह शिक्षण-कार्य को विद्यार्थियो के सङ्ग व्यवसाय जैसा कदापि न समझे। शिक्षक मे ऐसी क्षमता हो कि वह शिक्षार्थियो मे प्रियता पा सके। ज्ञान-प्रदान की यह सुखद प्रक्रिया ही शिक्षा है।

इन दिनो छात्र एव शिक्षक दोनों ही शिक्षा प्रणाली से सन्तुष्ट नही हैं। कारण, विभाग के सम्बन्धित अधिकारी यह भूल चुके हैं कि शिक्षक को एक साथ ही इस प्रकार शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक, नैतिक, क्रियात्मक एव आध्यात्मिक होना चाहिये कि वह भली-भाँति व्यक्ति की परिस्थिति के अनुकूल हो सके। शिक्षण-पद्धति को, छात्रो की सामान्य बुद्धि-लब्धि (Intelligence-quotient) उनके स्वास्थ्य और सामाजिक परिस्थितियो आदि को ध्यान मे रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त शिक्षण पद्धति को, (१) व्यक्तित्व के विकास, (२) ससार के पर्याप्त ज्ञान, (३) समाज के साथ निज के सामञ्जस्य एव (४) जीवन के चिरस्थायी मूल्यो की उपलब्धि को प्रभावित एव सम्पादित करने वाली विधियो पर सकेन्द्रित होना चाहिये।

व्यक्तित्व के विकास से तात्पर्य व्यक्ति विशेष के हितकारी निर्माण से है, केवल शरीर, मन और बुद्धि की आन्तरिक अवस्थाओ के सन्दभ मे ही नही प्रत्युत् समाज के विभिन्न स्तरो द्वारा व्यष्टि तक पहुँचते हुए वाह्य जगत् के सम्बन्ध मे भी है। इस अर्थ मे सच्ची शिक्षा एक आन्तरिक "पैठ" और एक "वाह्य प्रसार" दोनो ही हैं। सासारिक ज्ञान, केवल तथ्यो का एक सग्रह मात्र अथवा भौतिक जगत् विषयक सूचनाओ का सङ्कलन ही नही है यह उसकी आन्तरिक क्रियाओ मे भी एक अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, कम से कम उस सीमा तक तो अवश्य ही जिस सीमा तक वाह्य और आन्तरिक जीवन उसके सङ्ग अविमोचनीय रूप से सम्बद्ध है। इस ज्ञान द्वारा उस कला को जानना सरल हो जाता है, जिसके द्वारा वह स्वय को समाज के अनुकूल ढाल सकता है। जिस व्यक्ति ने मानव समाज की सरचना के आध्यात्मिक सकेतो का ज्ञान कुछ अशो मे भी प्राप्त नही किया है। उसके लिए किसी श्लाघनीय अनुपात मे यह सामञ्जस्य सम्भव नही है। समाज के व्यक्ति की शिक्षा का उद्देश्य है जीवन के मूल्यो की चरितार्थता—एक सामान्य लक्ष्य द्वारा परस्पर सम्बद्ध एव निर्धारित तथा उसी लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट, जीवन के व्यक्तिगत, सामाजिक, नागरिक एव सार्वभौमिक मूल्यो का बोध।

सर्वोपरि तथ्य तो यह है कि शिक्षा का प्रयोजन समझे बिना हम छात्रो को शिक्षा देना आरम्भ नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, अनेक हिन्दू स्त्री पुरुषो ने भिन्न-भिन्न कारणो से धर्म-परिवर्तन अगीकार किया है जिनमे एक कारण आर्थिक

शिक्षा की कोई उपयुक्त विधि प्रवर्तित करने से पूव मानवीय मूल्यो का समुचित मूल्याङ्कन अनिवाय हो जाता है। शैक्षणिक विधि की समस्या का समाधान तव तक असम्भव है जब तक अधिकारीवग मानव के शरीर को ही सर्वोपरि मान कर सन्तुष्ट हैं यह भ्रान्ति विद्यार्थियो की अपेक्षा अध्यापन-काय से सम्वद्ध व्यक्तियो मे अधिक प्रतीत होती है, क्योकि विद्यार्थी-वग तो वाल्यावस्था से ही अपने सन्मुख प्रवाहित होती हुई धारा से प्रभावित होते रहते हैं। हमे खेद के साथ कहना पडता है कि कुछ हिन्दुओ का धमपरिवतन के लिए उद्यत होने का एक कारण है उनका अपने धम के आश्वासनों से असन्तुष्ट होना तथा धर्म का उनके प्रति व्यव-हार। अस्पृश्यता के रूप मे शारीरिक पाथक्य की घातक प्रथा समाज के कुछ वर्गों मे व्याप्त श्रेष्ठता की भ्रान्त बौद्धिक धारणा के अतिरिक्त धमगत् कुछ मिथ्या और अमर्यादित मान्यताएँ भी काफी सीमा तक देश मे मानव-मानव के वीच भेदभाव उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी हैं। भविष्य के अविज्ञात आश्वासन मे, अपक्षाकृत अधिक हित की कल्पना स्वाभाविक प्रवृत्ति है। धूमिल नेत्रो से दीख पडती दूर की हरीतिमा की खोज मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुऐ वछडे की भाति व्यक्ति धर्म परिवर्तन के लिए लालायित हो उठता है। धम मे इस बात की अत्यधिक आव-श्यकता है कि उसके अनुयायी उसे समझें। वहुधा 'हमे हमारे मित्रो से वचाओ" पुकार अथगर्भित प्रतीत होती है। मूख मित्र एक सुविज्ञ शत्रु से कही अधिक वुरा होता है। हिन्दूधम के पडित एव धम के क्षेत्र मे गवेषणा करने वाले विद्वान् दोनो ही व्यर्थ वन्द गलियो मे भटकते रहे हैं, एक रूढ परम्परा एव विवेकशून्य आस्था से चिपका रहा तथा दूसरा अटिकाऊ शुष्क बुद्धिवाद से। यह सत्य नहीं कि हमे पश्चिम से कुछ भी नही सीखना है जैसा कि कुछ रूढिवादी हिन्दू सोचते हैं। हमे वदलते हुए समय एव मान्यताओ के पुनर्मूल्याङ्कन की आवश्यकता को महत्व देना ही है। भारतीय सस्कृति अपनी नमनशीलता के कारण सुरक्षित रही है जवकि अन्य प्राचीन सस्कृतियाँ अपनी परिदृढता के कारण ही विनष्ट हो चुकी है। प्राच्य विद्या के कतिपय विचा रको की यह धारणा थी कि भारतीय धम केवल अन्धविश्वास, पुराण एव कपोल-कल्पना मात्र है —सत्य नहीं है। शिक्षा का लक्ष्य, दोषपूण रूढिवादि को हठधर्मी से जकडे रहने की अपेक्षा ज्ञानाजन है। अत 'उत्तम' जहा कही भी प्राप्त हो, हमे उसे ग्रहण करना है।

आवश्यक है कि विश्व मे मानव की सरचना पर एक लघु पाठ्यपुस्तक ऐसी सरल शैली मे लिखी जाय कि प्राथमिक शिक्षालयो के वालक भी समझ सकें। इसमे प्रारम्भ मे सरल प्रश्नोत्तर, कहानियां एव ऐसे लघु नाटक रखे जा सकते हैं जो विद्या-लय के रङ्गमच पर अभिनीत हो सकें। इस पुस्तक मे, वाह्य सृष्टि के परिपेक्ष्य मे मानव-व्यक्तित्व के सघटन विषयक ज्ञान को सुपाठ्य एव वोधगम्य रूप मे निहित

प्राण यन्त्र बना देती है जो बाह्य ओर से किसी जीवित प्राणी द्वारा सचलित किया जा रहा हो। शिक्षा बाह्य आवेग पर सचालित किया जाने वाला यन्त्र नही है, प्रत्युत् एक अत्यावश्यक प्रक्रिया है जिसमे जीवन है और जो चेतना का समावेश किये जाने पर स्वय वर्द्धित होती है। जीविकोपाजन की शिक्षा को जीवनोपार्जन की शिक्षा बनाना है, क्योंकि यह द्वितीय प्रकार की शिक्षा आजीविका प्रदान करने के साथ ही मनुष्य को जीवित रहने के लिए जीवन तत्त्व भी देगी।

शैक्षणिक आधार की दूषित सरचना जीवन के मूल्यो की एक भ्रान्त धारणा पर आश्रित है। हमारा निवास स्थल यह ससार भौतिक तत्व का एक घनीभूत पुँज माना गया है। यहाँ तक कि एकमात्र सत्य प्रतीत होने वाले हमारे अपने शरीर यान्त्रिक नियमो से सचालित होने वाले भौतिक प्रकृति के अश के रूप मे देखे जाते हैं। आज, विशेषत विज्ञान-जगत मे यह एक सामान्योक्ति हो गई है कि जीवन अत्यन्त सुनिश्चित रूप से कार्यकारण के उस सिद्धान्त द्वारा निर्धारित है, जो ससार की सम्पूर्ण परियोजना पर शासन करता है। हमे बताया जाता है कि सत्ता के भौतिक तत्त्व, प्राण एव मनस् आदि क्षेत्रो मे जिस भिन्नता की प्राप्ति की अपेक्षा की जाती है, वह सतही है तथा उसका भान बहुत ही सूक्ष्म प्रभेद के रूप मे भौतिक तत्त्व के प्रकटीकरण एव प्रमारण मे होता है। यहा तक कि विज्ञान द्वारा परिकल्पित विश्वयन्त्र के नियमो को चुनौती देती प्रतीत होने वाली मानव-शरीर की सघटना की व्याख्या भी सभी वस्तुओ के आधारभूत उपादान भौतिक तत्व की शक्ति की विभिन्न रूपी सक्रियता का एक रूप कह कर कर दी गयी है। मनस् तक को भौतिक तत्व की शक्तियो का सूक्ष्म और वायविक नि स्रावण मात्र कहा जाता है। ब्रह्माण्ड की विराट् सरचना मे मानव एक कणिका के रूप मे ह्रस्व हो गया है। व्यावहारिक मनोविज्ञान अपनी भौतिकवादी विवक्षा (अभिप्रेतार्थ) द्वारा जीवन के प्रति यान्त्रिक दृष्टिकोण के इस सिद्धान्त को अन्तिम रूप से सम्पूर्ण कर देता है।

मानव-विकास के क्रम मे यह तथ्य सहज ही विदित हो जाता है कि मानव निष्करण जगत् के नियतिवादी यन्त्र का एक निरीह दाँता मात्र नही है, प्रत्युत उसकी सत्ता सार्वभौम आत्मा की श्रेणी का एक आध्यात्मिक तत्त्व है फिर भी भारत मे मैकाले की योजना के अन्तर्गत शिक्षित व्यक्ति, सम्प्रति बहुचर्चित तथा कथित आधुनिक चिन्तन, युक्तिपूर्ण दृष्टिकोण एव जीवन के प्रति वैज्ञानिक मनोवृत्ति की लीक पकड चलते रहे। अपनी आध्यात्मिक विरासत को क्रमश त्यागकर उन्होने सगर्व एक ऐसी संस्कृति के अदृश्य जुए के नीचे इतराते हुए चलना प्रारम्भ किया जो उन पर गुप्त रूप से प्राप्त आधिपत्य की भावना मे जुडी थी। आज शिक्षा के उचित साधन द्वारा विचारो की इस घातक प्रवृत्ति का ही प्रतिकार करना है।

मानव आकाक्षाओ की आधारगत एकता को निर्दिष्ट करने के लिए एक पृथक विभाग बुद्ध, महावीर, ईसा, मोहम्मद, सूफी सन्तो एव सिक्ख गुरुओ की जीवनी एव उपदेशो को प्रदान किया जा सकता है।

अध्यापको को अपने मन की पृष्ठभूमि मे शिक्षा के पीछे मानव अस्तित्व का लक्ष्य (चतुर्वग)—अपने सभी स्तरो और रूपों मे धमपरायणता (धर्म), अर्थ-स्वातन्त्र्य (अर्थ), भावनात्मक सन्तुष्टि (काम) तथा आध्यात्मिक सिद्धि (मोक्ष) को मानव की समस्त क्रियाओ के प्रेरणा स्रोत के रूप मे स्थित रखना चाहिए। शिक्षण स्तर पर यह दृष्टिकोण निरन्तर बनाये रखना चाहिए जिससे यथाथ प्रतिफल की प्राप्ति के प्रयास मे शिक्षा का प्रयोजन भूला न जा सके। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि कुछ सीमा तक आत्मनियन्त्रण (यम-नियम का पालन) किये बिना अध्ययन का पाठ्यक्रम त्रुटिरहित नहीं हो सकता। इस 'आत्मनियन्त्रण' को किसी भी दी गयी स्थिति मे सम्यक् रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा नियम है जिसका पालन शिक्षक और शिष्य दोनों को करना चाहिए। शैक्षिक जीवन एक पवित्र वृत्ति है। इसकी पवित्रता अघ मानवीय आसक्तियो मे लिप्त होकर कदापि दूषित नहीं की जानी चाहिए। मानव-स्वभाव के भावनात्मक साकल्पिक, बौद्धिक एव क्रियात्मक सभी पक्षो पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। अन्यो की उपेक्षा कर किसी एक विशेष पक्ष पर बल नही देना चाहिए, अन्यथा बाद मे, किसी समय उपेक्षित पक्षों का विद्रोह होने की सम्भावना रहती है। शिक्षण के प्रत्येक स्तर पर बाह्य और आन्तरिक वास्तविकताओं तथा मानव की मानसिक प्रकृति और जगत की सामाजिक एव भौतिक प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध सामञ्जस्यपूर्ण बनाये रखना चाहिए। शिक्षक को यह नही समझना चाहिए कि छात्र एक ऐसा यन्त्र है जो मात्र बाह्य दबाव से सचालित किया जा सकता है। यह सोचना एक भयकर भूल होगी, क्योकि छात्र बाह्य इच्छाओ और आन्तरिक आकाक्षाओं (जो अभी उचित रूप मे स्पष्ट नहीं हुई हैं) से युक्त एक सजीव प्राणी है, व्यक्ति विशेष है। इस तथ्य का ज्ञान न होने के कारण ही वत्तमान शिक्षा सस्थाओ की ऐसी शोचनीय दशा हो गयी है। व्यष्टि और समष्टि यान्त्रिक रूप से कपोतपुच्छित (परस्परानुबन्धित) नही, प्रत्युत चेतन रूप से सम्बन्धित हैं।

पाश्चात्य शिक्षाविदो द्वारा मान्य शिक्षा का यान्त्रिक दृष्टिकोण, जिसका अनुकरण आज प्राय हर जगह हो रहा है, मानव का शरीर सरचना तथा उसके चतुर्दिक परिवेश मे विद्यमान जीवन-तत्त्व को भूल जाता है। शिक्षा प्राण, मन और बुद्धि से सम्बद्ध है। यह सिद्धान्त कि ये भौतिक सरचना के निःस्रवण मात्र हैं—पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा लाया भ्रामक ज्ञान है। व्यक्ति, परिवार, समुदाय एव विराट्

करना चाहिए। केवल इतना ही नही इसमे उपर्युक्त मानव सृष्टि-सम्बन्ध को ध्यान मे रखते हुए, मानव आचरण के मूलभूत तत्त्व पर भी विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार के आचरण का मानव-जीवन मे क्या महत्व है, इसके सम्बन्ध मे भी ज्ञान देना आवश्यक है। ये वात दर्शन, नीतिशास्त्र, हेतुवाद एव मतसम्प्रदायो की विशिष्ट सूक्तिशैली विना ही कही जानी चाहिए। ऐसी पुस्तको मे शास्त्रीय शब्दावली अथवा रूढ उक्तियो का कदापि प्रयोग नही होना चाहिए वस्तुत इनका परिहार ही करना चाहिए क्योकि हम शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर पर विचार कर रहे हैं जहाँ सभी प्रकार की शास्त्रीयता सावधानीपूर्वक अलग कर देना उचित है। पाठो मे ऐसी उपयुक्त कहा-नियाँ और सरल नाटक प्रचुर मात्रा मे होने चाहिएँ जो वालको को सरलता से समझ में आ सकें। इसके द्वारा जीवन के मूलभूत तत्वो पर प्रारम्भिक पुस्तिका की पृष्ठ-भूमि तैयार हो सकती है।

शिक्षा के प्राथमिक, प्रारम्भिक, हाई स्कूल और कालेज-स्तरो पर क्रमिक शृङ्खला मे इस प्रकार की तीन या चार पाठ्य-पुस्तकें होनी चाहिए। पुस्तकें इस प्रकार लिखी जायें कि छात्र विषयो मे रुचि ले सकें तथा ऐसी आस्था सजो लें कि वे अध्ययन द्वारा लाभान्वित हो सकें। हाई स्कूल एव कालेज स्तर पर क्रमश उच्च ज्ञान को प्रस्तुत करना चाहिए। आरम्भिक स्तरो की प्राथमिक शिक्षाओ और कहा-नियो द्वारा वर्द्धित ज्ञान पर आधारित उच्च कक्षाओ की पाठ्य पुस्तको मे छात्रो को भारत की महान परम्परा और उसकी गम्भीर सस्कृति से परिचित कराया जा सकता है। वैदिक ऋचाओ के आध्यात्मिक एव लौकिक अर्थ, जैसे—पुरुपसूक्त, माण्डूक्योपनि-पद, वृहदारण्यकोपनिपद का याज्ञवल्क्य मैत्रेयी-सवाद, ऐतरेयोपनिपद के साक्षात्कार के सृष्टि सिद्धान्तो की सांकेतिकता, रामायण एव महाभारत जैसे महाकाव्य तथा भगवद्-गीता के दिव्य सन्देशो को शिक्षा के उच्च स्तर पर समुचित स्थान मिलना चाहिए। राम और कृष्ण जैसे भारत के अमर नायको, नर नारायण, वसिष्ठ, व्यास, शुक, दत्तात्रेय, जडभरत, वामदेव, उद्दालक, याज्ञवल्क्य, पराशर जैसे ऋषियो, पृथु, मरुत, अम्वरीष, मान्धाता, शिवि, हरिश्चन्द्र, दिलीप, भगीरथ, रघु, अज, दशरथ, जनक, राम, ययाति, भरत, युधिष्ठिर, विक्रमादित्य, अशोक आदि के सदृश महान शासको से छात्रो को परिचित करना, एक विशिष्ट स्तर पर अनिवार्य है। शकर, रामानुज, मध्व आदि जैसे महान आचार्यों तथा गौरांग, नानक, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, मीरावाई, सूरदास, तुलसी, कवीरदास आदि के समान सन्तो की सक्षिप्त जीवनी भी समीचीन स्थान प्राप्त करें। भारत के सास्कृतिक पुनरुत्थान मे स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी शिवानद, एनीवेसेण्ट, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द तथा सर्वपल्ली रावाकृष्णन् का योगदान भी, विशेषकर कालेज स्तर पर ध्यान मे लाया जाना चाहिए। सस्कृति की सामान्य रूप से एक व्यापक झलक दिखलाने के लिए तथा

मानव आकाक्षाओ की आधारगत एकता को निर्दिष्ट करने के लिए एक पृथक् विभाग बुद्ध, महावीर, ईसा, मोहम्मद, सूफी सन्तो एव सिक्ख गुरुग्रा की जीवनी एव उपदेशो को प्रदान किया जा सकता है।

अध्यापको को अपने मन की पृष्ठभूमि में शिक्षा के पीछे मानव अस्तित्व का लक्ष्य (चतुवग)—अपने सभी स्तरो और रूपो मे धमपरायणता (धर्म), अथ-स्वातन्त्र्य (अथ), भावनात्मक सन्तुष्टि (काम) तथा आध्यात्मिक सिद्धि (मोक्ष) को मानव की समस्त क्रियाओ के प्रेरणा स्रोत के रूप मे स्थित रखना चाहिए। शिक्षण स्तर पर यह दृष्टिकोण निरन्तर बनाये रखना चाहिए जिससे यथार्थ प्रतिफल की प्राप्ति के प्रयास मे शिक्षा का प्रयोजन भूला न जा सके। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि कुछ सीमा तक आत्मनियन्त्रण (यम-नियम का पालन) किये बिना अध्ययन का पाठ्यक्रम त्रुटिरहित नही हो सकता। इस 'आत्मनियन्त्रण' को किसी भी दी गयी स्थिति मे सम्यक् रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा नियम है जिसका पालन शिक्षक और शिष्य दोनों को करना चाहिए। शैक्षिक जीवन एक पवित्र वृत्ति है। इसकी पवित्रता अघ मानवीय आसक्तियो मे लिप्त होकर कदापि दूषित नहीं की जानी चाहिए। मानव-स्वभाव के भावनात्मक साकल्पिक, बौद्धिक एव क्रियात्मक सभी पक्षो पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। अन्यो की उपेक्षा कर किसी एक विशेष पक्ष पर बल नहीं देना चाहिए, अन्यथा बाद मे, किसी समय उपेक्षित पक्षो का विद्रोह होने की सम्भावना रहती है। शिक्षण के प्रत्येक स्तर पर बाह्य और आन्तरिक वास्तविकताओ तथा मानव की मानसिक प्रकृति और जगत की सामाजिक एव भौतिक प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध सामञ्जस्यपूर्ण बनाये रखना चाहिए। शिक्षक को यह नही समझना चाहिए कि छात्र एक ऐसा यन्त्र है जो मात्र बाह्य दबाव से सचालित किया जा सकता है। यह सोचना एक भयकर भूल होगी, क्योकि छात्र बाह्य इच्छाओ और आन्तरिक आकांक्षाओ (जो अभी उचित रूप मे स्पष्ट नहीं हुई हैं) से युक्त एक सजीव प्राणी है, व्यक्ति विशेष है। इस तथ्य का ज्ञान न होने के कारण ही वत्तमान शिक्षा सस्थाओ की ऐसी शोचनीय दशा हो गयी है। व्यष्टि और समष्टि यान्त्रिक रूप से कपोतपुञ्छित (परस्परानुबन्धित) नहीं, प्रत्युत चेतन रूप से सम्बन्धित हैं।

पाश्चात्य शिक्षाविदो द्वारा मान्य शिक्षा का यान्त्रिक दृष्टिकोण, जिसका अनुकरण आज प्राय हर जगह हो रहा है, मानव का शरीर सरचना तथा उसके चतुर्दिक परिवेश में विद्यमान जीवन-तत्त्व को भूल जाता है। शिक्षा प्राण, मन और बुद्धि से सम्बद्ध है। यह सिद्धान्त कि ये भौतिक सरचना के नि:स्रवण मात्र हैं—पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा लाया भ्रामक ज्ञान है। व्यक्ति, परिवार, समुदाय एव विराट्

जगत व्यक्ति के भौतिक अस्तित्व का परिमाणात्मक विस्तार है, परन्तु यह स्मरण रखना है कि इन बाह्य रूपो का, चर्मचक्षुओ से छुपे होने पर भी, आन्तरिक अस्तित्व है जो अपना बोध कराते हुए, सतत एक सार्वभौम आत्मतत्व के रूप मे विद्यमान है। मनस् और बुद्धि की नाना भाषाओ मे यह आत्मतत्व ही सम्पूर्ण अस्तित्व के अवैकल्य मूल्यो का अनन्य सन्देश देता है। कर्म नामक क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नैतिक अन्त-श्चालना तथा राजनैतिक इतिहास के नियम सभी इस शाश्वत सत्य की विभिन्न पुष्टियां हैं। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए भारत मे प्राचीन गुरुओ ने प्रज्ञा, सामर्थ्य, साधना एव श्रम को विकासोन्मुख समाज की एक अविभक्त शक्ति के रूप मे प्रयुक्त करने के लिए समाज मे चार वर्गों की (वर्ण) व्यवस्था की। इस व्यवस्था मे प्रति-स्पर्द्धा एव प्रतिद्वन्द्विता का अवरोध करने तथा उनकी जगह पारस्परिक सहयोग एव मूल्यो के प्रति पारस्परिक सम्मान को प्रतिस्थापित करने का भी गुण था। वर्णाश्रम की इस व्यवस्था ने सम्पूर्ण अस्तित्व को उस चरम लक्ष्य को उदघाटित किया जो जीवन की प्रत्येक अवस्था उदाहरणार्थ छात्रावस्था, गार्हस्थ्य व्यक्ति, परिपक्व दार्शनिक एव सार्वभौम जीवन मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति — मे परिलक्षित होता है। अन्तिम अवस्था मानव-प्रयास की चरमोत्कर्ष अवस्था है तथा इसकी आवश्यकता का अनुभव पूर्ववर्ती प्रत्येक स्तर पर कराया जाना आवश्यक है। पूर्णत्व के सम्बन्ध मे यह है भारत की भव्य कल्पना।

पश्चिम की दासता ने भारत पर एक ऐसी छाप छोड दी है जो सदा केवल आधुनिक विज्ञान के कथनो को ही सही मानने का आग्रह करती है। दुर्भाग्यवश यह सत्य नही है, क्योंकि विज्ञान का क्षेत्र सवेदनात्मक (Sensory) है, प्रयोग और तर्क इसी पर आधारित हैं। आज विज्ञान की गर्वोक्तियां शनै शनै व्यर्थ की मिथ्या अहमन्यताओ के रूप में खण्डित होती जा रही हैं। हमे बताया जाता है कि मानव पूँछहीन बन्दर से विकसित हुआ है तथा हमारे पूर्वज असभ्य जातियो के रूप मे थे अर्थात हमारे देश का प्राचीन इतिहास पशु मानव के वनस्थलियो मे निरकुश स्वतन्त्र भ्रमण की कथा है। जीवन पृथ्वी पर लाखों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए कवक (Fungi) से प्रारम्भ हुआ था तथा क्षुधा एव कामवासना मानव के आत्मिक आवेगो को समाप्त कर देती हैं। इस कथन के साथ तनिक आचार्यों के उस उच्च ज्ञान की तुलना करें जिन्होंने घोषित किया कि विश्व प्रथमत ईश्वर की सार्वभौम सत्ता मे ही अन्तर्भूत था तथा प्राण, मानस एव बुद्धि उसी सत्ता से उदभूत हैं और आत्मबोध की क्रमिक प्रक्रिया मे पुन उसी ईश्वर मे मिल जाते हैं, कि इतिहास भी ऐसे शक्ति सम्पन्न सम्राटो और महान सन्तो के जीवन को अङ्कित करता है जिनके व्यक्तित्व न्याय, सत्य एव ज्ञान के सार्वभौम नियम की अभिव्यक्ति करते हैं, कि हमारा जीवन असीम और

अनन्त मे एक वृहत्तर जीवन के लिए छुपी हुई अन्त शक्तियो की ओर सकेत करने वाला हलका सा निर्देशक है, कि हमारी अभीप्साए हमारे वास्तविक रूप की द्योतक हैं। यह मानने का कोई कारण नहीं कि आध्यात्मिक अन्तर्बोध मात्र भ्रातिया हैं तथा केवल वैज्ञानिक उपलब्धिया ही सत्य हैं। हम पहले से ही एक ऐसे युग मे पहुच चुके है जहाँ विज्ञान के मूलाधार ही सन्देहास्पद हो उठे हैं एव सदिग्ध प्राक्कल्पनाओ (Hypothesis) के रूप मे देखे जा रहे हैं । सवेदन बुद्धि और अन्तर्बोध लान के तीन सोपान हैं जिनमे पूववर्ती की अपेक्षा परवर्ती सत्य मे अधिक अन्तर्नूत और उसके अधिक निकट है।

तथापि इस बात की सुरक्षा का ध्यान रखना होगा कि उत्साह मे प्राच्य एव पाश्चात्य सम्कृति के सापेक्षिक गुण हमसे छूट न जायें , वरन् उन्हे समुचित मान्यता मिले। भूल कर भी विदेशी का सवथा अभिनिषेध अथवा देशीय सस्कृति की गरिमा को कम नहीं करना चाहिए। सस्कृतियो का उत्थान पतन उनकी समय के परिवर्तन के साथ मानव स्वभाव की आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकने की क्षमता के अनुसार होता है शारीरिक शिक्षण एव विज्ञान के निर्देश, विशेषकर इस शताब्दी मे एक अनिवाय आवश्यकता है, परन्तु यह ज्ञान व्यक्तिगत भावना के सस्पर्श के साथ सस्था मे शैक्षणिक अनुशासन के व्यवस्थित एव नियन्त्रित आधुनिक तरीके से प्रदान किया जाना चाहिए। सम्भवत अधिकाश लोग जिस रूप मे इसका अधिमूल्यन करेंगे उसकी अपेक्षा शिक्षणपक्ष मे यह अनुवर्ती पक्ष ही अधिक महत्त्वपूण है।

सीखने की अपेक्षा सिखाना कठिन कर्म है, क्योकि सीखने मे तो छात्र अधिकांशत शिक्षक का अनुकरण तथा शिक्षक के कथनानुसार काय करता है, लेकिन शिक्षक को सिखाने का प्रारम्भिक उपक्रम करने तथा छात्र के मनस् को समझने का कष्ट उठाना पडता है, परन्तु हमें यह नही सोचना चाहिए कि छात्र का कत्तव्य केवल आज्ञानुवत्तनकारिता अथवा अनुगत होना है, क्योकि निणय की क्षमता सभी मे होती है बालको मे वही प्रारम्भिक रूप मे होती है। शिक्षण मनोवैज्ञानिक पद्धित है जो शिक्षक से अतिमानवीय धैय की ही नहीं अपितु असीम समझदारी की भी अपेक्षा करती है।

कला और विज्ञान की शिक्षा के पाठ्यक्रम के अतिरिक्त मनोरजन पर्यटन, अच्छे लगने वाले व्यायाम तथा मुक्त वातावरण मे रहने की भी व्यवस्था होनी चाहिए, क्योकि प्रकृति साहचय उतना ही महत्त्वपूण है जितने कक्षा के पाठ होते हैं। छात्र को यथा-सम्भव ऐसे व्यक्तियो से मिलने-जुलने की अनुमति नही दी जानी चाहिए जो उसके शैक्षणिक जीवन मे व्याघात उत्पन्न कर सकते हो। छात्रो की साम्प्रदायिक

एव राजनैतिक आन्दोलनो से सुरक्षा अनिवार्य है। विद्यालयो मे छात्रावास की व्यवस्था, छात्रों को अवाछित सम्पर्क से तटस्थ रहने मे काफी सहायता करेगी। आवश्यकता होने पर आवासिक (Residential) विद्यार्थियो तथा अनावासी विद्यार्थियो मे विभेदीकरण किया जा सकता है जैसा कि आज भी कतिपय ईसाई विद्यालयो मे किया जाता है। आवासिक शिक्षा 'गुरुकुल-वास' प्रणाली के अधिक निकट होगी जहां शिक्षण-काल मे छात्रो को अपने मातापिता तथा सम्बन्धियो के सम्पर्क में आने की भी अनुमति नही मिलती। ये सभी वस्तुएँ, हमारे जैसे देश मे जहा घोर दरिद्रता है और जीवन-यापन की सुविधायें नगण्य हैं, सम्भव होना कठिन है। और यही, सुसम्पन्न व्यक्तियो को आगे आकर वास्तविक शिक्षा को क्रियान्वित करने मे सहायता देनी चाहिए। विद्यालय का अहाता तथा वातावरण स्वच्छ तथा आकपक होना चाहिए जिससे वालक जव तक इसमे रहे उनका मन उन्नत भाव-अवस्था के प्रखर प्रभाव को ग्रहण करता रहे। शिक्षको के आचरण की गरिमा, उनके आचार व्यवहार का विशुद्ध रूपेण शैक्षणिक कार्यों तक सीमित होना तथा उनके उद्देश्य की नि स्वार्थता शिक्षाक्रम की पूर्णता मे अत्यधिक योग देते हैं। विद्यालय यथासम्भव शहरो और जनाकीर्ण बस्तियो से दूर होने चाहिएँ, क्योकि इनसे वालको के मन पर अवाछनीय प्रभाव पड सकता है। शारीरिक एव मनोवैज्ञानिक दोनो ही दृष्टियो से उन्हे शुद्ध वायु का सेवन करना चाहिए।

युवा पीढी के सवेगो को नियन्त्रित कर सकना कठिन है। निर्धारित नियम और अनुशासन की कठोरता का प्रशमन पर्याप्त मनोरजन द्वारा होना चाहिए। शिक्षाप्रद एव सास्कृतिक चलचित्रो का प्रदर्शन भी सामयिक कार्यक्रमो का एक अग वन सकता है। उच्च कोटि का नृत्य और सगीत भी मूर्तिकला और चित्रकला की भाति ही सवेगो पर अच्छा प्रभाव डालकर उन्हें मृदु सन्तुष्टि प्रदान करते हैं? परन्तु साथ ही इसका ध्यान रखना होगा कि सवेग अत्यधिक नियन्त्रण अथवा अत्यधिक आनन्दोपभोग के कारण निरकुश न हो जायें। सवेगो को आत्मा की उस सस्कृति की ओर प्रवाहित करना होगा जो ससार मे जीवन-तत्व के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति का प्रयास करती है। उदात्त जीवन का सन्तोपजनक प्रशिक्षण मात्र कुछ वर्षों मे नही दिया जा सकता। ऐसे जीवन की नींव शिक्षा के प्रथम वर्ष मे ही डालनी होगी तथा निर्माण-कार्य उच्चतर माध्यमिक स्तर तक चलता रहना चाहिए। इस प्रकार लगभग वारह वर्ष की प्रशिक्षण-अवधि सुनिश्चित होगी जो "गुरुकुल-वास" परम्परा मे निर्धारित अल्पतम अवधि है।

विद्यार्थियो पर अत्यधिक पाठशाला-शुल्क का भार भी एक वड जन-समुदाय को ऐसे लाभ प्राप्त करने से वचित कर सकता है। निर्धनता सर्वत्र ही प्रगति मे एक

विकट बाधा है। इस योजना को कार्यान्वित करने मे सहायता देने के लिए धनी वर्गों को सामने आना चाहिए, क्योकि केवल कुछ क्षेत्रो के थोडे से अभिजात्य व्यक्तियो के बालक-बालिकाओ को ही शिक्षित करने से भारत मानसिक दासता एव सस्कृति के अज्ञान से मुक्त नहीं हो जायगा। इस शिक्षा पद्धति को बहुसख्यक जनता तक पहुँचाने के लिए पूजी की नितान्त आवश्यकता है, क्योकि शिक्षको को अपने काय के प्रति उदासीन होने अथवा भ्रष्टाचारोन्मुख होने से बचाने के लिए उन्हे अच्छे वेतन दिये जाने की आवश्यकता है, परन्तु इससे भी अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है सुयोग्य शिक्षको की खोज। इसके प्रयोजनाथ प्रारम्भ मे बहुत परिश्रम करने तथा पर्याप्त पूजी लगाने की आवश्यकता है। यह बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक एव आध्यात्मिक शक्तियो के समन्वय का प्रश्न है। इन सभी को एक मूल शक्ति के रूप मे उसी प्रकार सयोजित करना होगा जिस प्रकार प्रेममय सहयोग द्वारा प्राचीन भारत मे शासको एव मनीषियो के मध्य की गयी थी।

समाहार करते हुए शिक्षण-प्रणाली को सफल बनाने वाली कुछ विशेषताय पुन दोहरायी जा सकती हैं।

१ स्कूल अथवा कालेज का भवन वास्तुशिल्पीय दृष्टि से आकपक एव भव्य होना चाहिए कि जिसे वह चित्त को तत्काल ही मुग्ध एव समुन्नत कर सके। गन्दे, अपरिष्कृत तथा दुर्व्यवस्थित छादक (Sheds) सचेत रूप से ज्ञान न होने पर भी व्यक्ति के मन पर अवसादयुक्त प्रभाव डालते हैं।

२ सस्था का आहाता पूर्ण रूपेण स्वच्छ होना चाहिए जिससे कि उसमे प्रवेश करते ही व्यक्ति स्वास्थ्य-प्रदायिनी वायु का सेवन कर सके।

३ सस्था को नगर के वातावरण से दूर, व्यस्त सामुदायिक जीवन एव नगरीय क्षेत्रो के साम्प्रदायिक एव राजनैतिक प्रतिवेश से असम्पृक्त प्राकृतिक परिवेश मे होना चाहिए।

४ सम्बन्धित अधिकारियों को सस्था मे गाम्भीर्य, पवित्रता तथा अत्युदात्तता का वातावरण प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

५ अध्यापकों अथवा प्राध्यापको एव विद्यार्थियों के बीच निश्छलता का व्यवहार होना चाहिए। उसमें पारस्परिक स्नेह और विश्वास की स्थापना की जानी चाहिए जिससे सम्पूण सस्था एक समान उद्देश्य के लिए समर्पित भ्रातृसघ हो सके।

६ विभिन्न कक्षाओं के लिए सर्वतोन्मुखी एव सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम की रचना होनी चाहिए।

७ पाठ्यक्रम के विषयो से समन्वित उपयुक्त पाठ्यपुस्तकें तैयार की जायें।

८ सस्था के प्रधानाचार्य की आज्ञा प्रत्येक स्थिति मे अनिवार्यत माननीय होने के कारण प्रधानाचार्य भी दूसरो के समक्ष अपने आदर्श व्यक्तिगत आचरण, निष्पक्ष व्यवहार तथा सस्था के प्रति अपनी निष्ठा के व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करें।

९ स्कूल के घण्टो मे प्रशिक्षार्थी सम्बन्धित अधिकारी की अनुमति के बिना विद्यालय भवन से बाहर न जा सकें—इसके लिए नियम होना चाहिए।

१० यथासम्भव अधिकाधिक छात्रावास-युक्त विद्यालयो के सचालको का प्रयास किया जाना चाहिए जिससे 'गुरुकुल-वास' की प्राचीन परम्परा पुनर्जीवित हो सके। छात्रो को शैक्षणिक जीवन-क्रम की सम्पूर्ण अवधि मे बाहरी व्यक्तियो के सम्पर्क की अनुमति न दी जाय।

११ अन्त मे, सस्था के अधिकारियो को विद्यार्थियो में उनके कल्याणार्थ अपनी वास्तविक रुचि मे विश्वास उत्पन्न करने मे सफल होना चाहिए।

यह समस्त कार्य एक कठिन लक्ष्य होते हुए भी प्रयत्न द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है।

भारतीय राजधर्म

भारत में राजधर्म, शिक्षा, धर्म, दशन तथा विज्ञान उस समय अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुके थे जबकि ससार के अन्य देशो मे सभ्यता का सूर्योदय नही हुआ था। इसी तथ्य की पुष्टि श्री मैक्समूलर और डाइसन इन शब्दो मे करते हैं—
"India was the only country, where Administration, Education, Religion, Philosophy and Science reached the climax, long before their appearance in other countries"

भारतीय राजधम भौगोलिक तथा जाति-भावनाबद्ध न होकर पूर्णतया धर्म तथा सस्कृति पर आधारित था। अतएव भारत की समस्याएँ ठीक वही हैं जो सारे जगत् की हैं जिनके समाधान की आवश्यकता आज के मनुष्य को भी चुनौती दे रही है।

भारत की उपजाऊ भूमि ने सदैव सामूहिक जीवन व्यतीत करने की भावना को प्रोत्साहित किया तथा आदि काल से ही जनता-जनादन का हित भारतीय राजनीति का ध्येय रहा है। भारतीय सस्कृति जहाँ पारलौकिक है वहाँ इहलौकिक अर्थ तथा काम को भी उचित स्थान देती है। भारत मे राजनीति तथा धम के क्षेत्र मे भी कई प्रयोग होते रहे जिनका सक्षिप्त विवरण निम्नांकित हैं—

क्षेत्र—

१ वैदिक काल की प्रभुसत्तात्मक समिति।
२ राजा।
३ राजा की सहायनाथ मन्त्रि-परिषद्।
४ न्याय-विभाग।
५ राजस्व।
६ सुरक्षा तथा सैनिक शासन।

स्रोत—

१ भारतीय वाङ्मय (कल्पसूत्र)।
२ मनुस्मृति (सप्तम तथा अष्टम अध्याय)।
३ महाभारत (शान्ति पव)।
४ कौटिल्य का अथशास्त्र।
५ पुराण।

६ पञ्चतन्त्र ।

७ शुक्रनीतिसार ।

८ कामाण्डक नीतिसार ।

९ सोमदेव कृत नीतिवाक्यामृत ।

इन सब मे जो भी नियम, उपनियम लिखे हैं वे काल्पनिक न होकर व्यावहारिक हैं ।

समिति—

यह सार्वजनिक तथा सर्वप्रिय सभा थी जिसके द्वारा राजा का चुनाव होता था ।

राजा—

प्रजा का रंजन करना ही राजा का मुख्य ध्येय होता था । देवासुर संग्राम मे दैत्यो को राजा द्वारा अनुशासित देख कर देवताओं ने अपने लिए भी राजा की आवश्यकता अनुभव की (ऐतरेय ब्राह्मण तथा तैत्तरीय उपनिषद् के अनुसार) । इसी से राजा को चुनने की प्रथा चली । यदि राजा धर्म की रक्षा करने मे असमर्थ रहता तो उसे पदच्युत किया जा सकता था ।

चुनाव मे मतगणना गुप्तपत्रो द्वारा होती थी । राजा के अधिकार केवल राजसत्ता सम्बन्धी रहते थे । वह कभी भी राजगुरु तथा राष्ट्र-नेता न रहा । इस प्रकार समाज में शक्ति का संतुलन रहा, क्योंकि कभी भी एक व्यक्ति में उक्त वर्णित दोनो शक्तियाँ नहीं रखी जाती थीं । राजा के अधिकार सार्वभौमिक नियम अर्थात् ऋत तथा सत्य पर आधारित थे, जिसका उदाहरण संसार भर मे नहीं मिलता । "शुक्रनीति" के अनुसार राजा अपनी मंत्रि-परिषद् के निर्णयानुसार ही कार्य करता था । पश्चिम के दैवी अधिकार (Divine Right of Kings) की झलक भी भारत के मानवीय राजतन्त्र मे कभी न आ सकी । ये तो राजा तथा प्रजा के बीच एक समझौता था । प्रजा की ओर से, राजा राजसत्ता की थाती का संरक्षक होता था । वह मनमानी कभी नही करता था । देश-धर्म का पालन उसके लिए भी उतना ही आवश्यक था जितना कि प्रजा के लिए ।

गुण—

राजा दानी, शूरवीर, लोक-व्यवहार मे कुशल, शत्रु की गतिविधि पर पूर्णतया ध्यान रखने वाला, अक्रोधी, कर्मशील, इन्द्रिय-जयी, मान देने वाला, विद्वान् तथा भक्त होता था । राजा देवतुल्य माना जाता था जो मनुष्य के रूप में धर्मानुकूल आचरण करता था, अन्यथा प्रजा-शक्ति उसका नाश कर देती थी । राजा के मरणोपरान्त कलह न हो इसके लिए उसके जीवन-काल मे ही युवराज की नियुक्ति हो जाया करती थी ।

शपथ—

१ राजा प्रण करता था कि देश का उत्थान ही उसका ध्येय रहेगा।

२ प्रजा को अपनी सन्तान की तरह पालन करता रहेगा।

३ स्वय नियमानुसार चल कर दूसरो से नियमो का पालन करायेगा।

४ यदि ऐसा न कर सके तो अपने जीवन मे अर्जित पुण्यो के फल से वंचित रहेगा।

५ प्रजा का सुख ही उसका सुख रहेगा।

मुख्य काय—

राजा के मुख्य काय इस प्रकार थे। कृषि की उन्नति तथा सिंचाई का सुप्रबध करना, सावजनिक निर्माण-विभाग की देखरेख करना, उद्योग तथा वाणिज्य की वृद्धि की ओर सदैव प्रयत्नशील रहना, आवागमन के साधनो की सुचारु रूप से व्यवस्था करना, छायादार सडकें तथा धमशालाएं बनवाना, समुद्री सीमा पर जलयानों द्वारा व्यापार मे वृद्धि तथा मोती, मूंगे आदि रत्नों के निकलवाने के धन्धे को प्रोत्साहन देना आदि आदि।

राज्य प्रबन्ध—
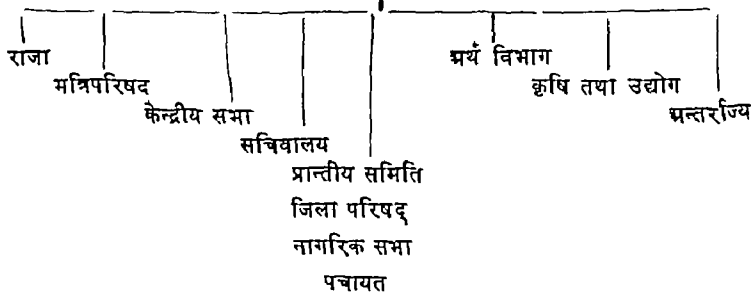
पचायत राज्य राज्य-प्रबन्ध रूपी शरीर की रीढ की हड्डी थी जिसकी प्रशसा सर मोनियर विलियम्स ने मुक्त कण्ठ से की है।*

मुख्य अग—

राज्य के सात मुख्य अग ये थे—

१ राजा २ मन्त्री ३ मित्र देश ४ कोप ५ देश ६ दुग ७ सेना।

* Sir Monier Williams "No circumstance in the history of India is more worthy of investigation than the antiquity and permanence of her village and municipal institutions"

मन्त्रि परिषद्—

१ सुमन्त्र (Finance Minister)
२ पण्डित आमात्य (Law Minister)
३ मन्त्रिन् (Home Minister)
४ सचिव (War Minister)
५ आमात्य (Revenue Minister)
६ प्रतिनिधि (Representative)
७ पुरोहित (Religion Incharge)
८ राजदूत (Ambassador)

इनके अतिरिक्त प्राड्विवाक (Chief Justice) भी इस परिषद् का सदस्य होता है।

सभा—यह सभा स्थायी थी तथा समिति की देखरेख मे कार्य करती थी। इसमे उच्च कोटि के सभासद् होते थे जो नि सकोच पूर्ण अपनी राय देते थे। इनके निर्णयो का उल्लघन कदापि न हो सकता था। मेगस्यनीज लिखता है—यदि आवश्यक होता तो राजसत्ता राजा से छीन ली जाती और लोकतन्त्रात्मक सत्ता मे परिणत कर दी जाती, किन्तु महाभारत के अनुसार वैदिक काल मे केवल राजतन्त्रात्मक प्रणाली अपनायी जाती थी। वैसे गणराज्यो के उदाहरण भी मिलते हैं जो सघ का रूप ले लेते थे। कौटिल्य लिखते हैं इन सघो मे सब राज्यो के अधिकार समान रहते थे, किन्तु सेना द्वारा प्रशासित प्रजातन्त्र का कोई उदाहरण नही मिलता।

कसौटी—सुन्दर राज्य-शासन विधि वही मानी जाती थी जो जनता को रुचिकर हो तथा उनकी अन्तर अभिलाषाओ की पूर्ति करे। किसी भी राज्य-विधान की सफलता का प्रमाण उसके चिरकाल तक स्थित रहने मे ही माना जाता था। कई लोकतन्त्रात्मक राज्य एक सहस्र वर्ष के लगभग चले। यह जो कहा जाता है कि भारत मे सदैव विघनटकारी शक्तियो की भरमार रही, ठीक नही, क्योकि दिग्विजयी और चक्रवर्ती राजा भी तो थे। राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञो का वर्णन इस तथ्य का प्रमाण है कि सघटन-शक्ति भी बराबर रही। इसको भारत की भौगोलिक एकता से सहायता मिलती रही।

न्याय-प्रबध—न्याय के क्षेत्र मे श्रेष्ठतम स्थान राजा का होता था जिसका वैधानिक परामर्शदाता प्राड्विवाक होता था। राजा स्वय भी न्याय से बद्ध था। केवल एक न्यायाधीश के न्याय की मान्यता की अपेक्षा सम्मिलित न्यायाधीशो के न्याय को प्रमुखता दी जाती थी। राजा न्याय मे न तो कोई नवीनता ला सकता था

और न परिवतन ही कर सकता था।

मिथ्या साक्षी को घृणा की दृष्टि मे देखा जाता था। साक्षी देने से पण्डित राजकर्मचारी, स्त्रियाँ, अवयस्क, ऋणी, घोर अपराधी, पागल, वृद्ध तथा रोगी लोग मुक्त थे।

अपराध तथा दण्ड का स्वरूप—अर्थदण्ड, बेगार, कारावास, मृत्युदण्ड आदि के रूप में दण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज लिखते हैं कि भारतीय लोग साधारण-तया न्यायानुसार जीवन व्यतीत करते थे। अपराध-वृत्ति को दबाने के लिए, कौटिल्य के अनुसार कर्फ्यू भी लगाया जाता था। अपराधियो का पता लगाने के लिए गुप्त चरों की सेवाओं का लाभ उठाया जाता था। गोहत्या सबसे बडा अपराध माना जाता था।

राजस्व—मूलत राजा सब प्रकार की देश की सम्पत्ति का स्वामी होता था। सम्पत्ति के उपभोक्ताओ से राजा उतना ही कर लेता था जिसका देने वालो को भास न हो। इस प्रकार सचित कर-राशि को भी, राजा सावजनिक कल्याण-कारी कार्यों पर इस प्रकार लगा देता था जैसे सूर्य तालाबो से वाष्प लेकर वर्षा के रूप मे उन्हें पुन लौटा देता है। कौटिल्य के अनुसार केवल उपजाऊ भूमि की उपज का कुछ अश ही कर के रूप मे लिया जाता था। उद्योगो द्वारा लाभ राशि पर पाँच प्रतिशत कर होता था। सडकों पर वाहन चलाने वाले भी कर देते थे। कर से महिलाएँ, बच्चे, विद्यार्थी, विद्वान्, ब्राह्मण तथा साधु-सन्त मुक्त होते थे।

सभी उद्योग-धन्धे सरकार द्वारा शासित थे। सरकार स्वय सबसे बडी व्यापा-रिक सस्था थी। वही सब वस्तुओं के दाम निश्चित करती थी। विदेशी व्यापार से होने वाले लाभ पर दस प्रतिशत कर लिया जाता था। विदेश से आने वाली सभी वस्तुओ पर कर लगता था।

अकाल के समय राज्य द्वारा खाद्य सामग्री नि शुल्क वितरित की जाती थी।

सुरक्षा तथा सैनिक शासन—युद्ध दुष्टो के नाश करने के कारण एक धार्मिक सस्कार माना जाता था जिसको शुभ मुहूत मे पूजा से आरम्भ किया जाता था। युद्ध-प्रवृत्ति कोई असाधारण बात नहीं थी।

राजा को देश की सुरक्षा का पूरा ध्यान था। सुरक्षा के लिए सेना थी। सेना के छ अग थे—पैदल, घुडसवार, रथ, हाथी, जलयान, रसद विभाग। युद्ध मे कई प्रकार के अस्त्रों शस्त्रो का प्रयोग होता था। रामायण मे शतघ्नी का ब्योरा मिलता है जिसके द्वारा एकदम १०० गोलियों से प्रहार किया जा सकता था।

मन्त्रि परिषद्—

१ सुमन्त्र (Finance Minister)
२ पंडित आमात्य (Law Minister)
३ मन्त्रिन् (Home Minister)
४ सचिव (War Minister)
५ आमात्य (Revenue Minister)
६ प्रतिनिधि (Representative)
७ पुरोहित (Religion Incharge)
८ राजदूत (Ambassador)

इनके अतिरिक्त प्राड्विवाक (Chief Justice) भी इस परिषद् का सदस्य होता है।

सभा—यह सभा स्थायी थी तथा समिति की देखरेख मे कार्य करती थी। इसमे उच्च कोटि के सभासद् होते थे जो नि सकोच पूर्ण अपनी राय देते थे। इनके निर्णयो का उल्लघन कदापि न हो सकता था। मेगस्थनीज लिखता है—यदि आवश्यक होता तो राजसत्ता राजा से छीन ली जाती और लोकतन्त्रात्मक सत्ता मे परिणत कर दी जाती, किन्तु महाभारत के अनुसार वैदिक काल मे केवल राजतन्त्रात्मक प्रणाली अपनायी जाती थी। वैसे गणराज्यो के उदाहरण भी मिलते हैं जो सघ का रूप ले लेते थे। कौटिल्य लिखते हैं इन सघो में सब राज्यों के अधिकार समान रहते थे, किन्तु सेना द्वारा प्रशासित प्रजातन्त्र का कोई उदाहरण नही मिलता।

कसौटी—सुन्दर राज्य-शासन विधि वही मानी जाती थी जो जनता को रुचिकर हो तथा उनकी अन्तर अभिलाषाओ की पूर्ति करे। किसी भी राज्य-विधान की सफलता का प्रमाण उसके चिरकाल तक स्थित रहने में ही माना जाता था। कई लोकतन्त्रात्मक राज्य एक सहस्र वर्ष के लगभग चले। यह जो कहा जाता है कि भारत मे सदैव विघनटकारी शक्तियो की भरमार रही, ठीक नही, क्योंकि दिग्विजयी और चक्रवर्ती राजा भी तो थे। राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञो का वर्णन इस तथ्य का प्रमाण है कि सघटन-शक्ति भी बराबर रही। इसको भारत की भौगोलिक एकता से सहायता मिलती रही।

न्याय-प्रबंध—न्याय के क्षेत्र मे श्रेष्ठतम स्थान राजा का होता था जिसका वैधानिक परामर्शदाता प्राड्विवाक होता था। राजा स्वय भी न्याय से बद्ध था। केवल एक न्यायाधीश के न्याय की मान्यता की अपेक्षा सम्मिलित न्यायाधीशो के न्याय को प्रमुखता दी जाती थी। राजा न्याय मे न तो कोई नवीनता ला सकता था

और न परिवतन ही कर सकता था ।

मिथ्या साक्षी को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था । साक्षी देने से पण्डित राजकमचारी, स्त्रियाँ, अवयस्क, ऋणी, घोर अपराधी, पागल, वृद्ध तथा रोगी लोग मुक्त थे ।

अपराध तथा दण्ड का स्वरूप—अर्थदण्ड, वेगार, कारावास, मृत्युदण्ड आदि के रूप मे दण्ड दिया जाता था । मेगस्थनीज लिखते हैं कि भारतीय लोग साधारण-तया न्यायानुसार जीवन व्यतीत करते थे । अपराध-वृत्ति को दबाने के लिए, कौटिल्य के अनुसार कर्फ्यू भी लगाया जाता था । अपराधियो का पता लगाने के लिए गुप्त चरो की सेवाओ का लाभ उठाया जाता था । गोहत्या सबसे बड़ा अपराध माना जाता था ।

राजस्व—मूलत राजा सब प्रकार की देश की सम्पत्ति का स्वामी होता था । सम्पत्ति के उपभोक्ताओ से राजा उतना ही कर लेता था जिसका देने वालो को भास न हो । इस प्रकार सचित कर-राशि को भी, राजा सावजनिक कल्याण-कारी कार्यों पर इस प्रकार लगा देता था जैसे सूय तालावो से वाष्प लेकर वर्षा के रूप में उन्हें पुन लौटा देता है । कौटिल्य के अनुसार केवल उपजाऊ भूमि की उपज का कुछ अश ही कर के रूप मे लिया जाता था । उद्योगों द्वारा लाभ-राशि पर पाँच प्रतिशत कर होता था । सड़को पर वाहन चलाने वाले भी कर देते थे । कर से महिलाएँ, बच्चे, विद्यार्थी, विद्वान्, ब्राह्मण तथा साधु-सन्त मुक्त होते थे ।

सभी उद्योग-धन्धे सरकार द्वारा शासित थे । सरकार स्वय सबसे बड़ी व्यापारिक सस्था थी । वही सब वस्तुओ के दाम निश्चित करती थी । विदेशी व्यापार से होने वाले लाभ पर दस प्रतिशत कर लिया जाता था । विदेश से आने वाली सभी वस्तुओ पर कर लगता था ।

अकाल के समय राज्य द्वारा खाद्य सामग्री नि शुल्क वितरित की जाती थी ।

सुरक्षा तथा सैनिक शासन—युद्ध दुष्टो के नाश करने के कारण एक धार्मिक सस्कार माना जाता था जिसको शुभ मुहूत मे पूजा से आरम्भ किया जाता था । युद्ध-प्रवृत्ति कोई असाधारण वात नहीं थी ।

राजा को देश की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान था । सुरक्षा के लिए सेना थी । सेना के छ अग थे—पैदल, घुडसवार, रथ, हाथी, जलयान, रसद विभाग । युद्ध मे कई प्रकार के अस्त्रो शस्त्रो का प्रयोग होता था । रामायण में शतघ्नी का ब्योरा मिलता है जिसके द्वारा एकदम १०० गोलियों से प्रहार किया जा सकता था ।